सन्त कवि आचार्य श्री विद्यासागर की साहित्य साधना

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी

में

पी-एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

सन् 2006

निर्देशक :

डॉ. कुसुम गुप्ता

रीडर, हिन्दी विभाग

बुन्देलखण्ड स्नातकोत्तर महाविद्यालय,

झाँसी (उ.प्र.)

शोधार्थिनी :

(श्रीमती) राजश्री जैन

शोध केन्द्र

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
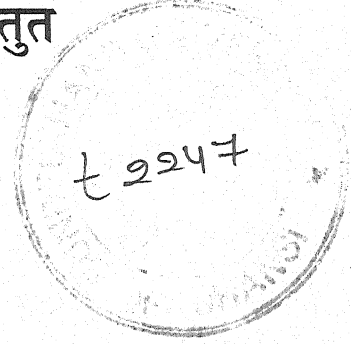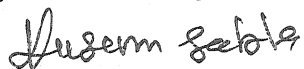
DECLARATION BY THE CANDIDATE

I declare that the thesis entitled **"सन्त कवि आचार्य श्री विद्यासागर की साहित्य साधना'** is my own work conducted under the supervision of **Dr. Kusum Gputa,(Supervisor)**, Redar, Depertment of Hindi,Bundelkhand P.G. College, Jhansi (U.P.) approved by Research Degree Committee. I have put in more than 200 days of attendance with the supervisor at the centre.
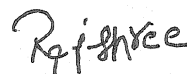
I further declare that to the best of my knowledge the thesis does not contain any part of any work which has been submitted for the award of any degree either in this university or in any other University/Deemed university without proper citation.

Signature of Supervisor

Kusum Gupta

(Dr.Kusum Gupta)

Signature of Candidate

Rajshree
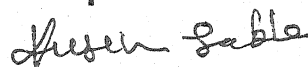
(Smt. RajShri Jain)

CERTIFICATE OF THE SUPERVISOR

This is to certify that the work entitled "सन्त कवि आचार्य श्री विद्यासागर की साहित्य साधना"is a piece of research work done by **Smt. Rajshri Jain** under my guidance and supervision for the degree of Doctor of Philosophy in Hindi, Bundelkhand P.G. College, Jhansi (U.P.) India and that the candidate has put an attendance of more than 200 days with me.

To the best of my knowledge and belief the Ph.D. thesis-

(i) Embodies the work of the candidate herself;

(ii) Has duty been completed;

(iii) Fulfils the requirements of the ordidance relating to the Ph.D. degree of the University and

(iv) Is upto the standard both in respect of contents and language for being referred to the examiner.

Supervisor

Forwarded by :

(Dr.Kusum Gupta)

प्राक्कथन

साहित्य का सम्बन्ध जीवन और जगत से हैं। जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण साहित्य में सत्य बनकर उपस्थित होता है। यह जीवन एक तरह से कर्मक्षेत्र है। कर्म की उत्पत्ति मानव मस्तिष्क में हुआ करती है। उदात्त साहित्य के सृजन से भावसृष्टि की स्थापना होती है, मानव मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाले भाव ही जीवन को संचालित करते हैं। इन भाव संपदाओं की थाती साहित्य की विभिन्न विधाओं में भली प्रकार से देखी जा सकती हैं।

भारतीय साहित्य में संत-साहित्य की एक लम्बी परम्परा देखने को मिलती हैं, जैन साहित्य (दर्शन) का सृजन अधिकांशतः प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में जैनाचार्यो द्वारा किया गया है। आधुनिक युग में भी जैन-साहित्य का सृजन हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी जैन साहित्य के प्रकाण्ड पंडितों, जैनाचार्यो एवं मुनियों द्वारा किया जा रहा है। आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित 'मूकमाटी' संतकाव्य परम्परा की एक ऐसी महनीय कृति है जिसने साहित्य जगत में एक विशिष्ट प्रकार की हलचल पैदा की है। इस कृति में अध्यात्म, दर्शन, साधना और जीवन-मूल्यों का उत्कर्ष अपने चरम को स्पर्श करता हुआ दिखाई देता हैं।

आचार्य विद्यासागर वास्तव में इस सदी के शिखर पुरूष हैं। आपकी वाणी में ऋजुता, व्यक्तित्व में समता और चर्या में सादगी का वैभव दिखाई देता है। मानवता का ऐसा सजग प्रहरी जिसने जन-जन की चेतना को झकझोरा हो, विश्वकल्याण की कामना से अपने प्रवचनों को संवारा हो, जीवन मूल्यों को जीवंत बनाये रखने के लिए जिन्होंने अपनी रचनाओं के ताने-बानें बुने हों। जिन्होने जीवन की सारी सरसता मानवता के कल्याणार्थ न्यौछावर कर दी हो, ऐसे संतपुरूष की जितनी स्तुति और प्रशंसा की जाय, कम ही होगी।

वास्तव में आचार्य विद्यासागर एकाग्र और गंभीर चिंतन के धनी, अहिंसा के बहुआयामी स्वरूप को रेखांकित करने वाले, रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रति अनासक्त तथा कबीर की तरह फक्कड़ और आम आदमी की पीड़ा से द्रवीभूत होकर सर्जना का अन्यतम् सूत्रपात करने वाले संत कवि आचार्य विद्यासागर जिन्होंने कविता की अतल गहराईयों में उतरकर रसानुभूति के वास्तविक मर्म को जाना और पहचाना हो, निःसंदेह, काव्य जगत में महाकवि की महिमा से मण्डित होने का दावा करते है। यह दावा उनकी वाणी का नहीं, विचारों का है, गंभीर सोच और चिंतन का हैं, अध्यात्म और दर्शन के उत्कर्ष का हैं, शब्द की गरिमा, महिमा और उसके लालित्य का है। वे यकीनन सच्चे अर्थो में महाकवि हैं और उनकी 'मूकमाटी' एक ऐसी अनुपम कृति है जिसने साहित्य में अभिरूचि रखने वाले लोगों को गहराई तक प्रभावित किया है।

समकालीन समय का एक ऐसा संत जिसने अपनी साधना, तप और त्याग और अध्यात्म की अतल गहराईयों में उतरकर जिस शाश्वत्, सत्य का शंखनाद किया है उसे सुनकर श्रद्धा और विश्वास के कारण प्रत्येक मानव नतमस्तक हो उठता है। उनके व्यक्तित्व का सान्निध्य जिन्हें प्राप्त हो जाता है उनके जीवन में 'स्फूर्ति' और 'ऊर्जा' का एक नवीन संचार हो उठता है। उन्हें जीवन की सार्थकता का बोध होने लगता है। अनके दर्शनमात्र से अध्यात्म की जो दष्टि मिलती है उससे जीवन में एक अलग ही प्रकार

की ताजगी का अहसास होने लगता है। उनके पास सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र्य की अमूल्य निधि है जिसका पालन उन्होनें पूर्ण आस्था, संकल्प और दृढ़ता के साथ किया है। यही वजह है कि वे आज 'युग-संत'बन गये हैं। उनके प्रति सच्ची आस्था हमें 'निर्जर और 'निरापद' होने का अहसास कराती है।

आचार्य विद्यासागर की साहित्य साधना का मूल्यांकन समकालीन शोध का सार्वधिाक महत्वपूर्ण विषय बन गया हैं। वह इसलिए कि रचनात्मक दृष्टि से उनकी कृर्तियां/ हिन्दी साहित्य की ऐसी अक्षय निधियाँ हैं जो मूल्यों की दृष्टि से उदात्त, अनुपम और समकालीन विविध संदर्भो को काफी गहराई तक समेटकर चलती हैं। 'मूकमाटी' महाकाव्य के अलावा 'दोहा-दोहन' नर्मदा का नरम कंकर,'डूबो मत, लगाओ डुबकी' तोता क्यों रोता? तथा उनके अनेक 'प्रवचन -संग्रह' हिन्दी-साहित्य की विरासत को युगों-युगों तक गरिमा से मण्डित करते रहेंगे । इक्कीसवीं सदी के इस महान् संत कवि का साहित्यिक अवदान मूल्यांकनपरक दृष्टि से अपरिहार्य सा जान पड़ता है। इसी उद्देश्य को लेकर मैंने उपर्युक्त विषय का चयन किया है।

आज का समाज मानव-मूल्यों के जिस संकट के दौर से गुजर रहा है, उसे उस दौर से उबारने के लिए आचार्य श्री का रचनात्मक अवदान एक कुशल मनोवैज्ञानिक वैद्य की तरह रोंगों का निदान और उपचार दोनों ही प्रस्तुत कर रहा है। फिर विज्ञान के इस विनाशकारी युग में उनके भगीरथ प्रयास द्वारा ज्ञान की ऐसी गंगा प्रवाहित की गई है कि जिसके द्वारा इस संसार के विश्वव्यापी विनाश को रोका जा सकता है। उनकी वाणी से निःसृत नवनीत को प्राप्त कर विकारयुक्त हृदय भी निर्मल बन जाता है और भौतिकता के कीचड़ में फॅसी यह सृष्टि अपना कायाकल्प कर सकती है, इसका मूलकारण यह है कि आचार्य श्री ने धार्मिक, सांस्कृतिक और पारंपरिक धारणाओं की जटिलता को दूरकर उनकी अत्यन्त सरल और सहज व्याख्या प्रस्तुत की है, जो कि उनकी सबसे बडी उपलब्धि है। सच तो यह है कि इस धरित्री पर ऐसे 'संत' बहुत कम ही हुए हैं जिन्होंने साधना के जीवन की कलात्मकता के अनुरूप अभिव्यक्त किया है । आचार्य विद्यासागर एक प्रकार से अपने आपमें अलग ही प्रकार के संत हैं जिनकी वाणी से धर्म, दर्शन, कर्म, संस्कृति तथा अध्यात्म का पावन पंचामृत निसृत होता है। ऐसे महान् 'संत' की 'साहित्य' साधना' पर किया गया शोध-कार्य निश्चित रूप से शोध की गरिमा को बनाये रखने में अपनी महती भूमिका का निर्वाह करेगा। तथा इस महान् संत की साहित्यिक विवेचना से जो अनूठे निष्कर्ष सामने आयेंगे वे निश्चित रूप से इस देश और समाज के लिए संकटकालीन स्थितियों से उबारने में महती भूमिका का निर्वाह करेंगे। इसके अलावा आज के इस निराशाजनक परिवेश में मनुष्य जिस भय और अशांति की पीड़ा का अनुभव कर रहा है, उसके लिए इस वातावरण से मुक्ति पाने के लिए प्रबलसंबल प्राप्त हो सकेगा।

अध्यायानुक्रमः

मैंने अपने 'शोध- प्रबंध' सतं कवि आचार्य श्री विद्यासागर की साहित्य साधना को सात अध्यायों में विभक्त किया है। 'प्राक्कथन' के रूप में मैंने अपने शोध- कार्य के प्रयोजन और उद्देश्य को निरूपित करते हुए संत कवि के महनीय व्यक्तित्व और कृतित्व को संक्षेप में चर्चा करते हुए उनेक अवदान तथा उपयोगिता संक्षेप में दर्शाते हुए अपने 'शोध' की प्रासंगिता को रेखांकित किया है।

प्रस्तुत प्रबंध के **अध्याय-एक** के अंतर्गत आचार्य श्री के 'दर्शन' एवं 'जीवन - बोध' पर विस्तार से चर्चा की गई है। इसमें मुख्य रूप से आचार्य श्री की महानता का उनके व्यक्तित्व के प्रमुख बिन्दुओं की चर्चाकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आचार्य विद्यासागर इस सदी के जैनाचार्यो में एक 'युग पुरूष'के रूप में ख्याति से महिमा मण्डित हैं। इसमें उनका जीवन, व्यक्तित्व और सृजन समाहित है। इसके अतिरिक्त परमार्थिक सत्ता का स्वरूप, जीव, जगत, विरोध, स्वरूप तथा उदात्त चेतना के अन्तः स्वरों का निरूपण करते हुए समसामयिक संदर्भों को रेखाँकित किया गया है। 'जीवन-बोध' के अंतर्गत जीवन के शाश्वत् सत्य का निरूपण विविध भंगिकाओं के रूप में हुआ है।

अध्याय दो : आचार्य विद्यासागर के 'मूकमाटी' महाकाव्य से सम्बन्धित है। इसमें पाश्चात्य और पौर्वात्य जगत में महाकाव्य के शास्त्रीय प्रतिमानों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसके अलावा आधुनिक हिन्दी महाकाव्य परम्परा की 'त्रयी' अर्थात 'कामायनी' 'उर्वशी' तथा 'लोकायतन'के परिप्रेक्ष्य में 'मूकमाटी' के स्वरूप और प्रतिपाद्य को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। 'मूकमाटी' मुख्य रूप से अध्यात्म और दर्शन का महाकाव्य है। इस दृष्टि से भी इस कृति के महात्म्य को निरूपित करने का यथासंभव प्रयास किया है।

अध्याय -तीन : आचार्य विद्यासागर के महाकाव्येत्तर काव्य सृजन के पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है। इसमें दो खण्ड है, एक आचार्य श्री के काव्य - संकलनों के सम्बन्धित तथा दूसरा स्फुट काव्य रचनाओं से सम्बन्धित। इसमें मुख्य रूप से कृतियों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए कृतिकार के रचना के पीछे छिपे प्रयोजन को दर्शाया गया है तथा कृति के वैशिष्ट्य के निरूपण का यथासंभव प्रयास किया है। एक प्रकार से आचार्य श्री के महाकाव्येत्तर वैशिष्ट्य का निरूपण हम इस अध्याय के अंतर्गत देख सकते हैं।

अध्याय चार : आचार्य श्री के काव्यालोचन से सम्बन्धित है। इस अध्याय में आचार्यवर के काव्य रूप रस, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की दृष्टि से विशद् विवेचन किया गया है। रसानुभूति की दृष्टि से उनके काव्य में अंगी रस की चर्चा करते हुए विविध रसों की चर्चा की गई है, भाव- सौंदर्य की एक अलग ही छटा इस अध्याय में देखने को मिलती है।

अध्याय पाँच : आचार्य विद्यासागर के काव्य के रचना शिल्प से सम्बन्धित है। इस अध्याय के अंतर्गत मैंने आचार्य श्री के काव्य में भाषा शैली, उक्ति वैचित्र्य, काव्य-गुण, अलंकार, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, बिम्ब, प्रतीक, कल्पना और ध्वनि आदि की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। यह अध्याय रचनात्मक वैशिष्ट्य के समस्त मान बिन्दुओं को लेकर पूर्ण किया गया है।

अध्याय-छःह : आचार्य श्री के काव्य में वर्णित प्रकृति से सम्बन्धित है। इसमें प्रकृति के स्वरूप, प्रकृति और मानव का सम्बन्ध तथा उसमें व्याप्त प्रेम और सौंदर्य के स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रकृति चित्रण के विविध आयामों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है।

अध्याय-सात : 'उपसंहार' से सम्बन्धित है। इस अध्याय के अन्तर्गत आचार्य श्री के काव्य की अभिनव दिशा, नव्य बोध और आदान प्रदान को समग्र काव्य के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का नैष्ठिक प्रयास किया है। इस प्रकार यह 'शोध प्रबंध' सात अध्यायों में समाप्त होता है। परिशिष्ट के अन्तर्गत मैंने आधार-ग्रन्थों की सूची, संदर्भ ग्रंथ तथा उन पत्र-पत्रिकाओं का भी उल्लेख किया है जिनके संदर्भ इस प्रबंध में लिये गये हैं।

यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो आचार्य विद्यासागर समकालीन समय के एक ऐसे

'कवि' और साहित्यकार हैं जिन्होंने अपने अलग ही तरीके से 'साहित्य' को परिभाषित किया है। वैसे एक सच्चा साहित्यकार वही होता है जो चरित्र और आचरण की दृढ़ता के साथ-साथ उन मान बिन्दुओं को भी साहित्य के माध्यम से उजागर करता है जिन्हें अपनाकर सृष्टि अपना कल्याण कर सके। आज हम देखते हैं कि आचार्य श्री की काव्य-कृतियाँ विशेषकर 'मूकमाटी' महाकाव्य किसी संप्रदायवाद की सीमाओं में न सिमटकर सम्पूर्ण मानव जाति को जिस मानवता का संदेश देता है वह अद्‌भुत और अनूठा है। यदि हम इतिहास की ओर देखें तो पता चलता है कि ऐसे बहुत कम साहित्यकार हुए हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों के माधयम से जनकल्याण और लोककल्याण की भावना पर इतनी गहराई से चिंतन और मनन किया हो। ऐसा माना गया है कि 'साहित्य समाज का दर्पण होता है।' इसमें हम तत्कालीन समय की सम्पूर्णताओं को साहित्यकार की कृतियों में देख सकते हैं। यदि हम यहाँ पर निरपेक्ष दृष्टि से विचार करें तो पता चलेगा कि साहित्यकार की दृष्टि में अब वह सर्वकल्याणकारी भावना दृष्टिगोचर नहीं होती। जिसकी कि आज समाज को महती आवश्यकता है। यह संस्कारविहीन समाज (अपवादों को छोड़कर) जिस गति से मूल्यहीनता के संत्रास के दौर से गुजर रहा है वह काफी दुःखद है। दुःखों के इइ अंबार ने उसका जीना दूभर कर दिया है। ऐसी स्थिति में आचार्य विद्यासागर का साहित्य हमारे लिए उस संजीवनी का काम करता है, जिसके द्वारा समस्याओं से जूझते-जूझते मृतप्राय व्यक्ति के मन में भी जीने की लालसा उत्पन्न हो जाती है और वह भक्ति के रस में डूबकर आनंद की अनुभूति करने लगता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि विद्वान और समीक्षक आचार्य श्री के साहित्य की सरलतम व्याख्या कर उनके साहित्यिक अवदान को जन-जन तक पहुँचायें जिससे कि समाज के सभी वर्ग के लोग उनकी कृतियों से लाभान्वित हो सकें तथा अध्ययनरत विद्यार्थी संस्कारवान बन सकें। यदि ऐसा हुआ तो इस देश की ज्यादातर समस्यायें अपने आप ही हल हो जायेंगी। इसलिए कि आज हम भौतिक दृष्टि से जितने अधिक सम्पन्न हुए हैं चरित्र की दृष्टि से उतने ही विपन्न हुए हैं। परिणामतः सर्वत्र भ्रष्टाचार का बोलवाला, अराजकता का माहौल, बेईमानी का रूतबा और आचारणहीनता का साम्राज्य सा स्थापित हो गया है। इस सृष्टि को इन सब बुराईयों से बचाना होगा, तभी हम जीवित रह सकेंगे। अन्यथा एक दिन ऐसा भी आयेगा जब सबकुछ समाप्त हो जायेगा। काश! यदि हम इस संकटकालीन वेला में आचार्य श्री के साहित्य की नौका में सच्चे मन से बैठ पाते तो इस भवसागर से पार भी सरलता से हो जाते। आवश्यकता है इस महान् संत कवि के साहित्य को समझने की, मनन करने की और उसे आचरण में उतारने की। यदि हम ऐसा कर सकें तो इस सृष्टि के प्राणियों के लिए मुक्तिपथ पर अग्रसर होने का यह मंगलकारी अवसर होगा। इसी मंगलभावना को अपने हृदय में धारण कर मैंने इस सदी के सर्वाधिक चर्चित 'संत' के काव्य में वर्णित उन सारभूत तत्वों को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो सामयिक दृष्टि से अत्यन्त महनीय हैं। मैं अपने प्रयास में कितनी सफल हो सकी हूँ, इसका निर्णय तो विद्वतजन ही करेंगे। फिर भी मुझे अपने कार्य से महान् संतोष की अनुभूति हो रही है।

आचार्य श्री के पावन चरणों में पूर्ण आस्था, श्रद्धा और विश्वास के साथ शत्-शत् नमन्।

कृतज्ञता/आभार

वास्तव में यदि सच पूछा जाए तो "आचार्य विद्यासागर जी की साहित्य साधना" पर कुछ कहने की सामर्थ्य मैं कदापि नहीं जुटा पाती यदि पूज्य मुनिवर श्री अभयसागर जी महाराज का अशेष आशीष प्राप्त नहीं होता। उनके सहज और वात्सल्यमयी आशीष का ही यह प्रतिफल है कि मैं इस गुरूतर कार्य को पूरा कर सकी हूँ।

सच तो यह है कि आचार्य विद्यासागर जैसे महामनीषी की साहित्य साधना पर शोध-कार्य करना अपने आप में काफी दुष्कर कार्य है। पर मुझे श्रद्धेय श्रीमती डॉ0 कुसुम गुप्ता रीडर, हिन्दी विभाग, बुन्देलखण्ड स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झाँसी (उ.प्र.) के कुशल मार्गदर्शन एवं आत्मीय सहयोग से यह महनीय कार्य अत्यंत सहजता के साथ पूर्ण हो सका। मैं उनके इस सहयोग और आत्मीय निर्देशन के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। इस सम्बन्ध में मेरी डॉ0 के.एल. जैन (प्राचार्य, शासकीय कन्या महाविद्यालय, टीकमगढ़) ने जो मदद की है तथा मुझे समय समय पर जो शोध-सम्बन्धी अपेक्षित जानकारियाँ दी हैं, उनके प्रति भी मैं अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मेरे शोध कार्य में मेरे जीवन के सहचर मेरे पति श्री संजीव कुमार जैन ने जो सहयोग किया है तथा मेरी प्रत्येक परेशानी को अपना समझकर उसे जिस शालीनता पूर्वक दूर करने का प्रयास किया है वह नि:संदेह स्तुत्य और सराहनीय है। उनके प्रति मेरी विनम्र कृतज्ञता यही होगी कि वे मेरे जीवन की महनीय उपलब्धियों में इसी प्रकार प्रेम और सहयोग की सद्भावना बनाये रखें।

कृतज्ञता के इस क्रम में मेरे पिता तुल्य श्री झुन्नीलाल जी एवं ममता की प्रतिमूर्ति श्रीमती कौशल्या देवी के आत्मीय प्रोत्साहन ने मुझे अपने शोध-कार्य में जिस उत्साह का सृजन किया उसे मैं कभी विस्मृत नहीं कर पाऊँगी। मेरे अन्तर्मन में उनके प्रति श्रद्धा उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होती रहे। बस, यही कामना है।

वास्तव में देखा जाए तो मेरे पूज्य पिता श्री चन्द्र कुमार जैन एवं वात्सल्यमयी माँ श्रीमती ऊषा देवी ने मुझे जन्म ही नहीं दिया वरन् मेरे जीवन को भी आदर्शमयी बनाने के लिये जो समर्पणकारी सहयोग किया है वह एक पुत्री के लिये जीवन की अविस्मरणीय घटना ही मानी जायेगी। सच्चे अर्थो में मेरा यह शोध-कार्य मेरे पिता श्री की लगन, निष्ठा और आचार्य श्री के प्रति अनन्य आस्था का ही पर्याय है। मैं अपने माता-पिता के प्रति दो रूपों में सदैव ऋणी रहूँगी-एक तो जीवन देने के लिए दूसरे जीवन को जीने योग्य बनाने के लिए।

कृतज्ञता के इस क्रम में आदरणीया दीदी श्रीमती गुणमाला जैन एवं परम् आदरणीय जीजा जी एडवोकेट श्री अशोक कुमार जैन की मनुहारपूर्ण समझाईशों को मैं कभी नहीं विस्मृत कर सकती। अपनेपन का बोध जिस रूप में मुझे इनके द्वारा मिला है वह मेरे जीवन की निधि है, जिसे में अकिंचन की भाँति सदैव सम्हाल कर रखूँगी।

अन्त में कृतज्ञता और आभार के इस क्रम में, मैं उन सभी के प्रति भी विनम्र आभार व्यक्त करती हूँ जो मेरे इस शोध-कार्य में प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप से सहयोगी रहे हैं।

गुरूपूर्णिमा

11 जुलाई 2006

शोधार्थिनी
राजश्री
(श्रीमती राजश्री जैन)

अनुक्रमणिका

◈◈◈◈

अध्याय-एक

आचार्य प्रवर का दर्शन एवं जीवन-बोध :

◈ **जीवन**

(क) पारमार्थिक सत्ता का स्वरूप
(ख) जीव
(ग) जगत
(घ) विरोध स्वरूप
(ड) उदात्त चेतना के अन्त:स्वर एवं समसामयिक संदर्भ

◈ **जीवन-बोध**
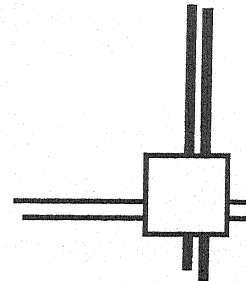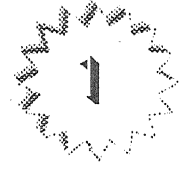
आचार्य विद्यासागर का ज़ीवन

पृष्ठभूमि -

इस भारत भूमि पर अनेक-संत, ऋषि, मुनि और आचार्यों ने अपनी साधना और तपश्चर्या से प्राप्त ज्ञान के द्वारा इस धरित्री के लोगों का कल्याण किया है, उनकी सतत् साधना और ज्ञान के अक्षय भण्डार से यह सृष्टि आलौकिक ज्ञान के चमत्कार से चमत्कृत हुई है। इन संतों ने अपने जीवन के शाश्वत् अनुभवों के द्वारा जिस निचोड़ को अपनी अमृतमयी वाणी के द्वारा आम आदमी तक पहुँचाया है उससे समाज में असाधारण परिवर्तन की संभावना दृष्टिगोचर हैं। इन्होंने आत्मसाधना के द्वारा लोककल्याण के साथ-साथ जीवन को निर्जर और निरापद-बनाने के लिए जिन मूल्यों की वकालत की है वह अपने आप में काफी महत्वपूर्ण है। इनके त्याग, साधना, वैराग्य, सिद्धांत और संतत्व की महिमा में आज भी जीवन की सुख-शांति विद्यमान है। आज के इस विसंगतिपूर्ण वातावरण में अपने ज्ञान, चारित्र्य, साधना, चर्या और सतत संदेशों के माधयम से अहिंसा के संदेश को जन जन तक पहुँचाकर श्रमण संस्कृति की पताका को शिखर ऊँचाई तक ले जाने में जिन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया है और सतत् रूप से संलग्न हैं ऐसे दिव्य, परम तपस्वी, अथाह ज्ञानी, सागर की तरह गंभीर और आगमोक्त चर्चाओं में रत निर्बाध रूप से ज्ञानामृत का पान कराने वाले आचार्य विद्यासागर इस घड़ी के एक ऐसे आचार्य, संत, ज्ञानी, तपस्वी, साधक, रचनाकार और सच्चे साधु हैं। जिन्हें जैन जैनेतर अर्थात् सभी वर्गो के लोग अपना मस्तक झुकाकर उनका आशीष लेने के लिए लालायित रहते हैं। ऐसा सजग प्रहरी जिसने जन जन की चेतना को झकझोरा हो, विश्वकल्याण की कामना से अपने प्रवचनों को संवारा हो, जीवन मूल्यों को सजग बनाने के लिए अपनी रचनाओं को ताने बाने बुने हों। जीवन की सारी सरसता जिन्होंने मानवता के कल्याण के लिए न्यौछावर कर दी हो ऐसे उस युग पुरुष की जितनी प्रशंसा की जाये कम है। उनके व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करने वाली ये पंक्तियों काफी कुछ सार्थक जान पड़ती हैं -

> **''चराचरों से मैत्री रखते, कभी किसी से बैर नहीं।?**
> **निलय दया के बने हुए हैं; नियमित चलते स्वैर नहीं''**[1]

संसार के समस्त प्राणी मात्र जिनके स्नेह के पात्र बन जायें। जो समस्त जीवों के प्रति दयाभाव धारण कर ईर्ष्यां और द्वेषभाव से विरत हो जायें। जिनके अन्त:करण में करूणा का सागर सदैव हिलोरें मारता रहे, जिन्होंने सर्वस्व का परित्याग कर इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हों, जो पक्षियों

की तरह स्वच्छन्द रूप में वन विहार के लिए निकल पड़े हो, जो काव्य की तरह उत्प्रेरक और आनंद के प्रदाता हों, जिनके व्यक्तित्व का चुम्बकीय आकर्षण लोगों को स्तब्ध बना देता हो, ऐसे असाधारण व्यक्तित्व को शब्दों में बांधकर डॉ. आशालता मलैया ने कुछ इस प्रकार से कहा है- संवेदनशील, कमलवत, उज्जवल एवं विशाल नेत्र, समुन्नत ललाट, सुदीर्घ कर्ण, अजानबाहु, सुडौल नासिका, स्वर्ण सदृश गौरवर्ण, चुम्बकीय आभा से युक्त कपोल, माधुर्य और दीप्ति से युक्त मुख, लम्बी सुंदर अँगुलियाँ, पाटलवर्ण की हथेलियाँ, सुगठित चरण आचार्य विद्यासागर, के सुदर्शन व्यक्तित्व को और अधिक गौरव मण्डित कर देते हैं।"[2]

आचार्य विद्यासागर ज्ञान के अपरिमित भण्डार काया से सुदर्शन, और वाणी में आलौकिक आकर्षण से युक्त एक ऐसे साधु हैं जिनकी प्रतिभा नाना रूपों में आलौकिक करतब दिखाती है। उनके व्यक्तित्व को दर्शाने वाली काव्य पंक्तियाँ मुझे काफी अच्छी लगीं जो इस प्रकार हैं -

"जाति-पांति का ऊँच-नीच का,
भेद न जिसने पहचाना।
मानव सेवा रत जीवन ही
सर्वोपरि जिसने माना।"[3]

'आत्मा' के स्वरूप को जानने की लालसा में अनवरत् संलग्न, मौनप्रिय निर्गन्ध सच्चे अर्थों में आगमोक्त अनुशासन की दृढ़ता में सदैव अपने शिष्यों के साथ निरत रहते है। जिनकी दिव्यध्वनि को श्रवण करने के लिए श्रावक स्वयं साधक बन जाता है और उनके शब्दों को अन्तर में उतारकर अपने जीवन का कायाकल्प करने के लिए आतुर हो उठता है। विश्वमंगल और लोककल्याण की भावना से जिनका चिंतन सदैव चलता रहता है। ऐसे साधक जो जिनेन्द्र भक्ति में लीन रहकर स्वयं जिनेन्द्र भक्ति में लीन रहकर स्वयं जिनेन्द्र की पदवी से विभूषित होते रहते हैं। धन्य हैं वह गुरूवर ज्ञानसागर जिन्होंने ऐसी अनुपम सौगात इस धरित्री को प्रदान की जिसने चराचर को झंकृत कर दिया। ऐसे अनूठे और असाध ारण व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कविवर फूलचन्द्र जी 'मधुर' की पंक्तियाँ निःसंदेह अपने माधुर्य को बिखरने में सक्षम जान पड़ती हैं-

"जिनके जीवन का राग-द्वेष सब रीत गया है,
माया, ममता के भ्रम का कलियुग बीत गया है,
कोई चरणों में फूल रखे या शूल बिछा जावे पथ पर,
दोनों में समता भाव रखें, दोनों के प्रति करूणा के स्वर।"[4]

एकाग्र और गंभीर चिंतन के धनी, अहिंसा के बहुआयामी स्वरूप को रेखांकित करने वाले, रूढ़ियों

और परंपराओं के प्रति अनासक्त तथा कबीर की तरह निस्पृह और फक्कड़, जन-जन की पीड़ा से द्रवीभूत होकर सर्जना का ऐसा सूत्रपात करने वाले आचार्य विद्यासागर जिन्होंने कविता की अतल गहराईयों में उतरकर रसानुभूति के वास्तविक मर्म को जाना और पहचाना हो निःसंदेह काव्यजगत में महाकवि की महिमा से मण्डित होने का दावा करते हैं। यह दावा उनकी वाणी का नहीं विचारों का है, गंभीर सोच और चिंतन का है, अध्यात्मरस के उत्कर्ष का है, शब्द की गरिमा, महिमा और लालित्य का है। वे सच्चे अर्थों में महाकवि है और उनकी 'मूकमाटी' ऐसी अद्‌भुत रचना है जिसने रचनागत के आम पाठकों तक को गहराई से प्रभावित किया है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अनेक चीजें उत्तरदायी होती है। उसका परिवेश, परिवारिक, वातावरण, संस्कार और प्रारंभिक शिक्षा। ये सारी चीजें उसके प्रारब्ध को पल्लवित और पुष्पित बनाती हैं। क्योंकि अनुकरण के द्वारा बालमन पर जो प्रभाव पड़ता है वह स्थायी और अमिट होता है। अब हम यहाँ पर बालक विद्याधर को मुनि। आचार्य बनने की प्रक्रिया का क्रमबद्ध रूप में विवेचन करेंगे।

जन्म (10 अक्टूबर 1946 ग्राम-सदलगा,जिला-बेलगाँव, कर्नाटक) :-

आचार्य विद्यासागर जी का जन्म कर्नाटक राज्य के बेलगाँव जिला के सदलगा ग्राम में संवत 2003 तद्नुसार 10 अक्टूबर 1946 बृहस्पतिवार को अर्धरात्रि के समय एक जैन परिवार श्री मालप्पा की अष्टगे और श्रीमती अष्टगे के घर में हुआ था। आपके बचपन का नाम 'विद्याधर' रहा है। आपकी तीक्ष्ण और कुशाग्र बुद्धि के कारण आपमें नामानुरूप गुण बचपन में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। आपके विद्याधर नाम रखे जाने के पीछे एक आस्तिक धारणा थी तथा आपके जन्म के साथ ही कुछ ऐसी घटनायें घटीं थी जो आपके दिव्य होने के साथ-साथ भविष्य के शुभ संकेत की ओर इंगित कर रही थीं। डॉ0 सुरेश सरल आपनी बहुचर्चित पुस्तक ''विद्याधर से विद्यासागर'' में लिखते हैं कि - ''विद्याधर के जन्म से पूर्व इनके माता-पिता प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी के दिन सदलगा से 18 किलोमीटर दूर एक समाधिस्थल पर जाया करते थे। यह स्थल अक्किवाट नाम से प्रसिद्ध था, इसमें भट्टारक श्री विद्यासागर जी की स्मृतियाँ संचित थी। इस महापुरुष के प्रति अनन्य श्रद्धाभक्ति के फलस्वरूप ही इस बालक का अवतरण हुआ, ऐसा अष्टगे दम्पत्ति की धारणा थी फलस्वरूप उन्होंने इस बालक का नाम भट्टारक जी के स्मृतियाँ संचित थी। इस महापुरुष के प्रति अनन्य श्रद्धाभक्ति फलस्वरूप ही इस बालक का अवतरण हुआ है ऐसा अष्टगे दम्पत्ति की धारणा थी फलस्वरूप उन्होंने इस बालक का नाम भट्टारक जी के नाम पर 'विद्याधर' रख दिया। 'विद्याधर' के गर्भ में आने से अनेक शुभ स्वप्न इनकी माता को दिखाई देने लगे थे। उन्हें स्वप्न में चक्र का आकार उनके कक्ष में रूकना तथा दो ऋद्धिधारी मुनियों को आहार देना भी एक प्रकार से भावी शुभ की सूचना थी। उसी रात मालप्पा जी को स्वप्न आया था कि वे एक खेत में खड़े हैं, जहाँ दहाड़ता हुआ एक सिंह आया और उन्हें निगल गया। यह स्वप्न भी मंगलशुभ का संकेत था। मालप्पा जी के संचित पुण्यों के प्रताप से उनके परिवार

में बालक विद्याधर का अवतरण एक पुण्यात्मा का अवतरण था, जिसने सम्पूर्ण भारतवर्ष विशेषकर उत्तरभारत में अपने तप, त्याग, साधना, संयम और चर्या के द्वारा एक ऐसी पहचान कायम की जिसे सदियाँ नहीं भुला पायेंगी। श्रमण संस्कृति का ऐसा संवाहक जो जन-जन का प्रिय हो गया। जो सबका स्वामी हो गया जिसके आशीष के लिए मानव सर्वस्व तक न्यौछावर करने के लिए आकुल रहता है। आस्था का ऐसा परिपुष्ट केन्द्र एक लम्बे अंतराल के पश्चात् इस धरित्री को मिला है जिसे इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर सकेगा।

परिवारिक वातावरण :

मलप्पा जी का परिवार अत्यंत सरल, सुशील और धार्मिक, प्रकृति का था। अनुशासन, नियम, व्रत, सदाचरण और नितप्रति देवदर्शन इस परिवार की अनिवार्यताऐं बन गई थीं। शोधकर शाकाहारी भोजन को ग्रहण करना नित्य नियम के अंतर्गत आता था। बालक विद्याधर के जन्मोपरांत अचानक एक दिन उनकी माँ का स्वास्थ्य खराब हो गया। संयोग से उस दिन चतुर्दशी थी। वे चतुर्दशी का व्रत किया करती थीं। अस्वथ्यता के कारण मलप्पा जी ने उन्हें व्रत करने के लिए मना किया लेकिन उन्होंने उनके आग्रह को विनम्रता पूर्वक यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि--''यह संसार नश्वर है, शरीर नाशवान है ऐसी स्थिति में नाशवान और नश्वर के लिए आसक्ति किस बात की, धर्म और कर्त्तव्य के क्षेत्र में इन चीजों को बाधक नहीं बनाना चाहिए।''

जिन विद्याधर की माँ इतनी धार्मिक, दृढ़, संकल्पवान और कर्त्तव्यपरायण हो उनका पुत्र किन संस्कारों को लेकर जन्मा होगा सहज ही विचार किया जा सकता है। ठीक इसी तरह से पिता मालप्पा जी भी अत्यंत धार्मिक, सरल स्वाभावी, मृदुभाषी और परोपकारी व्यक्ति थे। समाज में उन्हें सज्जन और सद्पुरुष के रूप में जाना जाता था। वे यद्यपि दस सन्तानों के पिता थे लेकिन दुर्योग से चार संतानें असमय ही इस नश्वर संसार से विदा ले चुकी थीं। शेष छःह संतानों में चार पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। ज्येष्ठ पुत्र का नाम श्री महावीर प्रसाद जी है जो आज भी ग्राम सदलगा के निकट शमनेबाड़ी ग्राम में अपने परिवार के साथ ससम्मान धार्मिकता पूर्वक जीवन यापन कर रहे हैं। आचार्य विद्यासागर इन्हीं के अनुज थे। विद्याधर की दो बहिनें शान्ता और सुवर्णा तथा दो भाई अनन्तनाथ और शाँतिनाथ हैं। पर पूरा परिवार धर्ममय है। महावीर प्रसाद जी ग्रहस्थ होते हुए भी सन्यासियों की तरह रहते हैं। शेष भाई बहिन धर्म के पथ पर अग्रसर होकर इस देश के जन जन तक माँ जिनवाणी का प्रसाद नाना रूपों में वितरित कर रहे हैं। साधना के बहुआयामी रूपों में।

मलप्पा जी साहूकार कहलाते थे। उनके पास बीस एकड़ भूमि पर कृषि कार्य होता था। मुख्य रूप से कृषि भूमि पर गन्ना, मूंगफली और तम्बाखू की खेती की जाती थी। व्यापार कार्य भी हुआ करता था। साहूकारी का कार्य प्रमुख होने के बावजूद भी मजबूर और निराश्रितों को निर्ब्याज पैसा भी

दिया जाता था। मलप्पा जी नितप्रति देशदर्शन, स्वाध्याय, सामाजिकों के साथ साथ धर्मचर्चा करना उनकी एक प्रकार से नैमेत्तिक क्रियायें बन गई थीं। उनका स्वभाव अत्यंत सरल, विनम्र और मृदु था जिसके कारण लोग उन्हें मल्लिनाथ भगवान के नाम से मल्लिनाथ कहकर पुकारने लगे थे। धार्मिक प्रकृति और आस्थावान होने के कारण यह परिवार प्रायः तीर्थाटन, मुनिदर्शन के लिए प्रायः जाता रहता था। विद्याधर भी माता पिता के साथ जाया करते थे उस समय इन्हें 'पीलू' के नाम से सम्बोध जाता था। डेढ़ वर्ष की अवस्था में 'पीलू' जी ने लम्बी यात्रा कर अपने धार्मिक संस्कारों को बचपन से ही परिपुष्ट करने की भूमिका तैयार कर ली थी।

बाल्यावस्था की महत्वपूर्ण घटना :

आगत की सूचना का शुभ संकेत प्रारंभ से ही किसी न किसी रूप में भासित होने लगता है। विद्याधर के साथ भी बचपन की कुछ घटनाऐं अनहोनी थीं। जो इस बात की ओर संकेत कर रही थीं कि यह कोई साधारण बालक नहीं है। जब एक बार मालप्पा जी सपत्नीक श्रवण बेलगोला (हासन) कर्नाटक भगवान गोमटेश्वर के दर्शनार्थ पर्वत शिखर पर पहुँचकर भक्तिभाव से पूजा अर्चना में लीन हो गये तो बालक विद्याधर वहाँ से कहीं अन्यत्र खिसक गये। चंचल बालक सीढ़ियों पर से लुढ़ककर दस ग्यारह सीढ़ियॉ नीचे पहुँच गया। मॉ ने बालक को समीप न पाकर विचलित हो उठीं। लेकिन ज्यों ही माँ ने बालक को प्रसन्न मुद्रा में देखा तो उन्हें संतोष हुआ पर मन में इस बात से अभी भी विचलित थी कि यदि बालक और नीचे सीढ़ियों से चला जाता तो क्या होता? पर सच तो यह है कि यह केवल माता के मन की आशंका थी। होना तो कुछ और ही था। अर्थात् बालक विद्याधर की रक्षा स्वतः गोमटेश्वर भगवान ने की शायद इस प्रयोजन से कि अभी तो इस बालक को अपनी अद्वितीय प्रतिभा से इस देश और दुनियाँ को आश्चर्यचकित करना है।

शिक्षा-दीक्षा और अभिरूचि :

विद्याधर को पढ़ाई से ज्यादा खेलों में रूचि अपेक्षाकृत ज्यादा थी। शतरंज के तो मानो वे बचपन से ही निष्णात खिलाड़ी बन गये थे। चित्रकला के प्रति भी उनका काफी रूझान था। पशु पक्षियों के अलावा महावीर, गांधी, नेहरू के चित्र वे बड़े ही मनोयोग से बनाया करते थे। इन महापुरूषों के अहिंसात्मक विचारों से वे काफी प्रभावित थे। नाटकों और सिनेमा के प्रति भी उनमें पर्याप्त रूचि का भाव था। परन्तु उनकी खोजी दृष्टि सभी जगह अपने मतलब की चीजें ग्रहण कर ही लेती थी। वे पढ़ाई के प्रति भी खेलों की ही तरह सजग थे। गणित के सूत्रों को पलभर में याद करना, भूगोल के नक्शे देखते ही देखते बना देना। पाठ याद करके गुरूजी को सुना देना तो उनके लिए जैसे अत्यंत सरल कार्य था। उनकी इस कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा से कक्षाध्यापक श्री मलू जी से बेहद प्रभावित थे। विद्याधर की मातृभाषा कन्नड़ थी प्रारंभिक शिक्षा गाँव में ही ग्रहण करने के उपरांत हाईस्कूल शिक्षा प्राप्त करने हेतु

उन्हें बढ़ेकीहाल हाईस्कूल में पास के ही गांव में दाखिला लेना पड़ा। यहाँ पर उन्होंने नौ वीं कक्षा मराठी माध्यम से उर्त्तीण की। उनका मानना था कि शिक्षा प्रत्येक बालक के लिए अनिवार्य है क्योंकि इससे व्यक्ति के संस्कार और चारित्र्य का निर्माण होता है।

दैनन्दिन जीवन/दिनचर्या :

बालक विद्याधर की दिनचर्या अनुशासन से आबद्ध थी। प्रत्येक क्रिया का समय और स्थान निश्चित सा था। नितप्रति समय से स्नान, देवदर्शन, भोजन, खेल और अध्ययन तथा धार्मिक आयोजनों के समय अत्यंत उत्साहपूर्वक आगे रहना, ग्राम में मुनिराजों के आने पर उनके नित्य ध्यानपूर्वक प्रवचनों को सुनना और आत्मसात करना। बालक विद्याधर प्रत्येक कार्य तथा अपने परिवेश में स्वच्छता पर काफी ध्यान रखते थे। माता-पिता के द्वारा सौंपे गये छोटे-मोटे कार्य करने के उपरांत अपनी पढ़ाई करना परन्तु इस लौकिक पढ़ाई के साथ-साथ धाार्मिक और नैतिक पढ़ाई का भी विशेष ध्यान रखते थे। उनका बचपन एक तरह से सूत्रबद्ध था। उनकी ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती गई दिनचर्या के संकल्प सूत्र भी विस्तार पाते गये। छोटी सी उम्र में ही आपने प्रकृति के प्रांगण में उसके नानारूपों को काफी नजदीक से निहारा था। अनेक मंदिरों और सिद्ध क्षेत्रों की वन्दना कर ली थी। ब्रह्मचारी व्रत और फिर मुनिव्रत धारण करने के उपरांत तो आपकी दिनचर्या विराटता की ओर अग्रसर हो चली थी। आजन्म पदयात्रा का व्रत धारण करने के उपरांत आपने मुनिव्रत के संकल्पों को दृढ़ता के साथ पालन करना आरंभ कर दिया था। प्रकृति और मौसम अवश्य परिवर्तित होते रहे पर आपकी दिनचर्या में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं आया, फिर चाहे वह ग्रीष्म ऋतु हो, वर्षा ऋतु हो या फिर शीत ऋतु। आपकी दिनचर्या शास्त्रों पुराणों के अनुसार -''तीर्थाटन या भ्रमण करने के बाद संध्या होते ही विश्राम करते हैं और सम्पूर्ण रात्रि में एक जगह से दूसरी जगह नहीं जाते। मौन भाव धारण किये हुए वहीं ठहरे रहते हैं चाहे प्रलय ही क्यों न आ जाये।''[5]

आपकी दिनचर्या में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चर्या ''आहार चर्या'' है। इस चर्या हेतु निकलने के पूर्व मन्दिर जी में जाकर जिनेन्द्र देव के समक्ष आहार विधि का संकल्प कर लेते हैं। तब किसी श्रावक द्वारा पढ़गाहन के समय उनकी विधि मिल जाती है तब वह उस चौके में आहारचर्या के लिए जाते हैं। महाराज श्री को चौके में ले जाने के पूर्व मन, वचन, काय, की शुद्धि का संकल्प दोहराते हुए अन्न जल की शुद्धि का भी वाचनिक प्रमाणन करना पड़ता है। अर्थात् विधि और सब प्रकार से शुद्धि आहारचर्या का प्रधान अंग है। दिगम्बर मुनि खढ़े होकर करपात्र द्वारा आहार अंजुलि के माध्यम से करते है। जो 24 घण्टे में एक बार होता है। भोजन के समय ही प्राशुक जल को भी केवल एक ही बार ग्रहण करते हैं। स्वादिष्ट और तामसी भोजन का त्याग आचार्य श्री ने सदा सर्वदा के लिए कर दिया है। माह में अक्सर अष्टमी चतुर्दशी के उपवास भी हो जाते हैं। आहारचार्या के समय अन्तराय की क्रिया का अत्यंत दृढ़ता के साथ पालन किया जाता है। अपवित्र वस्तु, बाल या अन्य तरह के अपशकुन होने पर यथास्थिति में

अंजुलि छोड़कर आहार का परित्याग कर दिया जाता है। किसी भी स्थिति में शिथिलता का कोई काम नहीं है। अन्तराय की स्थिति में भी चेहरे पर स्मित मुस्कान की आभा देखी जा सकती है। यद्यपि श्रावक अत्यंत दुःखी हो जाता है पर महाराज जी प्रसन्न। प्रसन्न इसलिए कि उनके अतीत संचित कर्मों की निर्जरा इसी प्रकार से हुआ करती है। किसी तरह की बाधा उनके अन्दर खिन्नता को प्रकट नहीं होने देती। मुक्तिपथ के अनुगामी जो ठहरे। ध्यान-मग्न, तात्विक-चितंन, मुक्ति की यात्रा के अनुगामी अपने आप में सदालीन रहकर लोककल्याण हेतु सृजन के साथ प्रवचन भी करते हैं। लक्ष्य मात्र दो ही हैं आत्म कल्याण और लोक कल्याण। सच्चा संत वही है जो लोक कल्याण की भावना से भरा रहता है। रात्रि के समय पुनः मौन धारण कर चिन्तन, मनन और आत्म विश्लेषण में तल्लीन हो जाते हैं। रात्रि में विश्राम की अवधि अल्प ही होती है। विश्राम के लिए लकड़ी का तख्ता या नंगी जमीन का ही प्रयोग करते हैं। लगता है जमीन बिछौना और आसमान ओड़ना हो।

''आपकी निर्मल, पवित्र, पावन और निर्दोष चर्या से प्रभावित होना स्वाभाविक है। इस प्रकार आपकी चर्या शांत, सुबोध, ज्ञानमयी भावना जाग्रत करती है।''[6]

रूचि और स्वभाव- बालक विद्याधर अत्यंत सरल स्वभावी प्रकृति के रहे हैं। आपके मन में जिज्ञासा का भाव बचपन से ही रहा है कि जिज्ञासा का भाव व्यक्ति को ज्ञानार्जन कराता है। ज्ञानार्जन व्यक्ति के भविष्य को सुनिश्चित करता है। विद्याधर जी अपने मन में उठने वाली शंकाओं का निवारण जब तक उचित माध्यम से नहीं कर लेते थे तक शांत नहीं बैठते थे। उनमें सरलता, आत्मीयता, आदर, स्नेह और वात्सल्य का भाव कूट-कूटकर भरा था। उनके मन में बड़ों के प्रति आदर तथा छोटों के प्रति स्नेह का भाव सदैव बना रहा। दूसरों की मदद करने के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। ''मन्दिरों के प्रति शास्त्रों के प्रति आसक्ति, मुनियों। साधुओं के प्रति भक्तिभाव, तीर्थादि पवित्रस्थलों के प्रति अभिवंदना का भाव, चींटी से लेकर हाथी तक सभी जीवों के प्रति दया और कल्याण का भाव रहा है।''[7] इसके अतिरिक्त ''बाल्यावस्था से ही अपने मित्रों के प्रति सहयोग का भाव, नौकर मारुति के प्रति बराबरी का भाव रहा है। अहिंसक वृत्ति, अनासक्ति और मौन रहने की वृत्ति भी उनके स्वभाव में सम्मिलित है। वे जितने संतोषी हैं उतने ही अक्खड़ भी हैं, वे जितने दयालु हैं उतने ही श्रमशील भी।''[8]

प्रेरणा और प्रभाव : प्रेरणा से पथ प्रशस्त होता है। जीवन का लक्ष्य और गंतव्य मिल जाता है। प्रेरणाओं का प्रभाव इतना प्रभावकारी होता है कि जीवन की दिशा और दशा ही बदल जाती है। आचार्य विद्यासागर बचपन से ही प्रेरणा प्राप्तकर अपनी बाल्यवस्था में ही जीवन की बुनियाद को शनैः-शनैः परिपुष्ट कर रहे थे। जब कभी भी उनके ग्राम के आसपास मुनियों/साधुओं का आगमन होता तो उन्हें बेहद प्रसन्नता की अनुभूति होती थी। उनके प्रवचनों की प्रेरणा से उनकी सोच और चिंतन में परिवर्तन होने लगता था। साधुओं की चर्याओं को देखकर उनके जीवनमें अनुशासन की दृढ़ता कायम होने लगी थी। बालक

विद्याधर को सांसारिक असारता का आभास होने लगा था। उनके अन्दर धीरे-धीरे एक अजीब सी छटपटाहट ने जन्म ले लिया था। वैराग्य ने उनके अन्दर प्रवेश पा लिया था। सरलता, सागदी, विनय और अनुशासन की प्रेरणा उन्हें अपने आराध्य गुरु ज्ञानसागर के जीवन से प्राप्त हुई थी।

प्रत्येक धर्म में वे ईश्वर की सत्ता को सर्वोपरि मानते थे। मन्दिर हो या ईदगाह उन्हें सदैव प्रेरणा देते रहे। उन्हें ऐसे स्थलों को देखकर सर्वधर्म समभाव की अनुभूति प्राप्त होती थी। 'त्याग' की प्रेरणा उन्हें पिता श्री के निर्लिप्त और निस्पृह भाव से तो सारतत्व की प्रेरणा माता जी द्वारा मक्खन निकालने से प्राप्त हुई। प्रकृति का वातावरण, फलों से लदे हुए वृक्ष और कल-कल करती हुई नदियों का जल उन्हें परहित और अनवरत् गतिशील बने रहने की प्रेरणा प्रदान करता रहता था। जिनेन्द्र भगवान की भक्ति और आपसी प्रेम तथा सद्भाव की प्रेरणा उन्हें परिवारिक वातावरण से मिलती रहती थी। वैराग्य भावना का उदय उनके अन्तःकरण में आचार्य देशभूषण जी महाराज के द्वारा हुआ। चारों ओर का सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक वातावरण भी उन्हें समय-समय पर प्रेरित करता रहता था। समाज में व्याप्त विसंगतियों से भी वे अशांत हो उठते थे। 'स्वार्थ' और 'अहं' में लिप्त मानवों के कुचक्र और चालों को देखकर भी उन्हें बराबर प्रेरणा मिला करती थी। उनका मानना था कि 'प्रभु' से मिलने में सबसे बड़ी बाधा उत्पन्न करने वाला व्यक्ति का अहंकार ही है। 'अहंकार' का विसर्जन किये बगैर 'प्रभु' से मिल पाना सम्भव नहीं है। जिस तरह नदियाँ अपने अस्तित्व को मिटाकर सागर से मिल जाती है उसी प्रकार भक्त भी अपने 'अहं' को गलाकर प्रभु से साक्षात्कार कर सकताहै। आचार्य श्री लिखते है:-

''व्यक्तित्व को, अहं को, मद को मिटा दे,
तूँ भी 'स्व' को सहज में, प्रभू में मिला दे।
देखो नदी प्रथम है निज को मिटाती,
खोती तभी, अमित सागर रूप पाती।''[9]

वैराग्य पथ का अनुगमन :

विद्याधर बीस वर्ष की आयु में ही काफी कुछ लौकिक और पारलौकिक ज्ञान को प्राप्त कर चुके थे। अब वे उस समय के संयोग की प्रतीक्षा कर रहे थे जब घर से निकल सकें। लेकिन तत्क्षण ही उनके मन में यह विचार उदित हुआ कि यह संयोग माता, पिता, परिजनों की आज्ञा से तो कदापि संभव नहीं है, लिहाजा वह किसी को बताये बगैर ही घर से चले जाना चाहते थे। और कुछ हुआ भी ऐसा ही। जब उन्हें जानकारी मिली कि आचार्य देशभूषण जी महाराज जयपुर (राजस्थान) में विराजमान हैं तो उन्होंने बगैर बिलम्ब किये हुए जयपुर का रास्ता पकड़ा और आचार्य श्री के पास पहुँचकर नमोस्तु निवेदित कर ब्रह्मचर्य ब्रत धारण करने की आज्ञा मांगी। इधर अचानक विद्याधर के घर से चले जाने पर गाँव-घर में काफी चिन्ता बढ़ गई। पुत्र की विकलता में माँ-बाप तथा भाई बहिनों का बुरा हाल हो गया। फिर लोगों ने विचार किया कि कहीं विद्याधर मुनिराज के दर्शनार्थ बगैर बताये तो नहीं चले गये हैं। इस

तरह ऊहापोह की स्थिति में सात दिवस व्यतीत हो गये, तब कहीं जाकर आचार्य देशभूषण जी महाराज के संघ से एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें मलप्पा जी को धर्मलाभ की प्रेरणा के साथ विद्याधर को ब्रह्मचर्य व्रत की अनुभूति के लिए इंगित किया गया था।

विद्याधर जबसे आचार्य देशभूषण जी महाराज के संघ में आये थे वे काफी प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। ज्यादा समय उनका आचार्य श्री की सेवा और धर्मध्यान में ही व्यतीत होता था। आचार्य श्री ने विद्याधर को केवल दो ही कार्य सौंपे थे, एक-आश्रम को साफ-सुथरा रखना दूसरे-चूलगिरि पर्वत से नीचे जाकर बस्ती से शुद्ध दूध लाना। ये दोनों कार्य वे बड़े ही दत्तचित्त होकर समय से करते थे। सेवाभाव की सरलता और कार्य के प्रति उनमें कूट-कूटकर भरी थी। इसी दौरान उन्हें एक पुस्तक हाथ लग गयी 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका'। इस पुस्तक में उनका मन इतना रमा कि उन्होंने इसे कण्ठस्थ याद कर लिया। इस पुस्तक से उनके ज्ञान में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई। आचार्य श्री की सेवा करते समय उनका अन्तर्मन अभिभूत हो उठता था। एक दिन की बात है कि आचार्य श्री को बिच्छू ने डंक मारा दिया। असहनीय पीड़ा से आचार्य श्री कराहने लगे। रात्रि का समय था। औषधि पहाड़ के नीचे थी, प्रश्न उठा औषधि लेने कौन जायेगा? तत्क्षण विद्याधर ने कहा-मैं जाऊँगा। रास्ते की कठिनाईयों की परवाह किये बगैर वे पर्वत के नीचे आये और औषधि लेकर अबिलम्ब आचार्य श्री के पास पहुँचे। आचार्य श्री को बिच्छू के जहर उतरने की पीड़ा से निजात मिली। विद्याधर की इस सेवाभावी प्रवृत्ति से आचार्य श्री प्रसन्न हुए और विद्याधर को अन्तर्मन से आशीष प्रदान किया।

विद्याधर आचार्य श्री का आशीष पाकर निहाल से हो गये। उधर उनके ज्येष्ठ भ्राता भाई महावीर प्रसाद गाँव के कुछेक साथियों के साथ विद्याधर को लिबाने के लिए जयपुर की ओर चल दिये। जयपुर पहुँचकर भाई महावीर ने विद्याधर से माता-पिता की हालत का मर्मान्तक बखान किया। बहिनों के अश्रुप्रवाह का भी बखान किया लेकिन उन पर किसी का जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा। विद्याधर ने अपने ज्येष्ठ भ्राता से अत्यंत विनयपूर्वक कहा-''मुझे संसार से निकलने दो, मैं मुक्ति के लिए छटपटा रहा हूँ। भला दूध से निकला मक्खन पुनः दूध में समरस कब हुआ है?''[10] संवाद और ज्येष्ठ भ्राता के आग्रह को कठोरता से नहीं नकार पाने के कारण विद्याधर ने मौन व्रत लेकर आहार का परित्याग कर दिया। तीन दिवस तक निराहार बने रहने पर बात आचार्य श्री के पास पहुँची। आचार्य श्री ने भलीप्रकार से जान लिया कि विद्याधर अब वापिस जाने वाला नहीं है। लिहाजा आचार्य श्री ने महावीर प्रासद जी से आज्ञा प्राप्त कर अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने की आज्ञा दी। तत्पश्चात विद्याधर ने आहार लिया और महावीर प्रसाद हताश और निराश होकर घर वापिस लौट आये।

महावीर प्रसाद के जयपुर लौटने तक का समय माता-पिता के लिए एक-एक पल एक-एक

बरस की तरह व्यतीत हो रहा था, लेकिन ज्योंही महावीर प्रसाद को अकेले लौटते हुए देखा तो दुःख की सीमा नहीं रही। सारा घर विद्याधर के अभाव में बिलखने तड़पने लगा। पर अब क्या था? मलप्पा जी मजबूर होकर यह सोचने के लिए विवश हुए कि-''तोता उड़ गया अब उसकी आशा करना व्यर्थ है। अब छाती पर पत्थर रखना ही पड़ेगा।''[11]

मलप्पा जी के मन पर वैचारिक आघात अनवरत् चोटें कर रहे थे, उनके मन में विचार आता कि यदि विद्याधर का विवाह कर देते तो अच्छा होता, फिर सोचते कि व्यवसाय में लगा देते तो संसार में रम जाता। फिर सोचते कि जिसका मन वैराग्य में रम चुका हो भला वह अन्य किसी में कैसे रमता? दूसरी ओर आचार्य देशभूषण जी महाराज के संघ में विद्याधर की स्थिति कुछ इस तरह की थी- ''विद्याधर का मन प्रतिदिन दृढ़ से दृढ़तर हो रहा था। स्वभाव में क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौचभाव बढ़ रहा था। सत्य और संयम में रूचि गहरी हो गई थी, तप-त्याग जीवन के अंग बनने लगे थे और आकिंचन्य की भावना अँकुराने लगी थी।''[12]

सच तो यह था कि विद्याधर का मन घर में कभी नहीं लगा। यही कारण था कि वे अवसर पाकर गृहत्याग कर वैराग्य के कंटकाकीर्ण पथ का अनुसरण कर बैठे। उनके इस वैराग्य के पीछे पूर्वजन्म के संस्कार जोर मार रहे थे। उनका यह वैराग्य बाहर से आरोपित न होकर भीतर से ही उद्भूत था।''[13] उपसर्ग और परीषहों को हंसकर जीने वाला यह ब्रह्मचारी जन-जन की प्रेरणा का केन्द्र बिन्दु बन गया।

''विषयों को विष लख तजूँ, बनकर विषयातीत।
विषय बना ऋषि ईश का, गाऊँ उनका गीत।''?[14]

अन्तर्मन मैं वैराग्य की भावना उत्पन्न हो जाने पर सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति अपने आप समाप्त हो जाती है। विद्याधर ने संसार की समस्त सुख-सुविधाओं का परित्याग कर अध्यात्म को अंगीकार किया। कारण यह था कि उन्होंने सांसारिक असारता, जीवन के वास्तविक रहस्य और साधना के महत्व को भलीप्रकार से जान लिया था। विद्याधर की निष्ठा, दृढ़ता, संकल्प और अड़िगता के सामने सभी ने घुटने टेक दिये थे।

श्रवणबेल गोला का महामस्तकाभिषेक :

श्रवणबेल गोला में भगवान गोमटेश्वर का महामस्ताभिषेक होना था। समाज ने आचार्य देशभूषण जी महाराज से ससंघ पधारने के लिए निवेदन किया। आचार्य श्री ने आज्ञा दे दी, संघ बिहार करता हुआश्रवणबेल गोला पहुँचा। भारतवर्ष के प्रान्तों से इस समारोह में श्रद्धालुजन पधारे। विद्याधर को इस विशाल धार्मिक आयोजन के द्वारा अनेक धार्मिक-परम्पराओं को जानने समझने की व्यावहारिक जानकारी हासिल हुई। मुनि-संघ की चर्या और धर्मसाधना के वातावरण ने विद्याधर को काफी प्रभावित किया।

विद्याधर रोज हजारों श्रद्धालुओं को भगवान बाहुबली के दर्शनार्थ चढ़ने-उतरते लोगों के मुख से यही सुनाई पड़ता ''भगवान बाहुबली की जय, भगवान गोमटेश्वर की जय''। श्रद्धालुओं के जयघोषों से आकाश गुंजायमान हो उठता था। जिस दिन श्रद्धालुओं द्वारा गोमटेश्वर की विशाल प्रतिमा का दुग्ध से अभिषेक किया गया उस दिन आनंद का पारावार नहीं रहा। विद्याधर को ऐसा लगा जैसे महामस्तकाभिषेक का दर्शन, अनेक प्रांतों, भाषाओं और वेशभूषाओं की विविधता में एकता सिमट गई हों। वे इन समस्त घटनाओं का अत्यंत बारीकी के साथ निरीक्षण कर साररूप को आत्मसात कर रहे थे। महोत्सव धीरे-धीरे समाप्त हो गया। भगवान बाहुबली के जीवन का प्रतिबिम्ब उनके मनोमस्तिष्क पर समग्रता के साथ छा गया। वे सब क्रियाओं को देखकर अभिभूत हो उठे थे। उनके अन्तःकरण में भाव उमढ़ने लगे थे कि वह सुखद घड़ी जीवन में कब आयेगी जब विधिवत् दीक्षा धारण कर मुक्तिपथ के अनुगामी बनने का अवसर आयेगा।

परिवेश और परिस्थितियों में मन का चंचल होना स्वाभाविक है। विद्याधर भी विशाल जनसमुदाय को देखकर कौतुहलवश विचार करने लगे कि क्या ऐसा अवसर मेरे जीवन में भी आ सकता है? उनके मनोमस्तिष्क में नाना प्रकार की जिज्ञासाएं उठ रही थीं। उनका मन कह रहा था कि लोग हमें भी जानें, हमें भी स्मृति में संजोऐं। लेकिन तुरन्त ही उन्होंने अपने मन पर काबू पा लिया। वे एक तटस्थ दृष्या की तरह सारी घटनाओं को मनोयोग से देखने में तन्मय हो गये। प्रत्येक घटना उनके मानस पटल पर छाप छोड़ती चली गई। उन्होंने स्मृति के कैमरे में सब कुछ कैद कर लिया।

विद्याधर की गुरुभक्ति की सभी प्रशंसा करते थे। उनके संघ में मात्र दो ही महत्वपूर्ण कार्य थे एक तो पूर्णनिष्ठा और समर्पण के साथ गुरुभक्ति और दूसरे नियमों का पालन अत्यंत दृढ़ता के साथ करना। उस समय आचार्य देशभूषण जी महाराज कुछ अस्वस्थ चल रहे थे। अस्वस्थतावश दुर्गम स्थानों में उन्हें डोली में बैठाकर चलना पड़ता था। जो लोग डोली में कंधा देते थे वे अपने आपको सौभाग्यशाली मानते थे। पर कंधा देने वालों में विद्याधर सबसे आगे रहते थे। उनके चेहरे पर थकान का नामोनिशान तक नजर नहीं आता था उनकी गुरुभक्ति को देखकर सभी जन आश्चर्य चकित रह जाते थे।

दिगम्बर वेशधारण करना अत्यंत कठिन कार्य है। इस पथ का अनुसरण करना तलवार की धार पर चलने के समान है। समस्त सुखों का परित्याग कर जीवन में प्रत्येक प्रकार की बाधाओं को हँसते-हँसते वरण करने का संकल्प ही इस पथ का पथिक बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। विद्याधर ने ब्रह्मचारी अवस्था में ही इस पथ के अनुसरण करने पर पथ की बाधाओं को भली प्रकार से जान लिया था। परिषह प्रेरणा की एक घटना इस प्रकार है-''आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज अस्वस्थ होने के कारण डोली से बिहार कर रहे थे। संध्या के समय डोली को जमीन पर रखा गया। आचार्य श्री भूमि

पर बिछी हुई चटाई पर विश्रामार्थ बैठ गये। अचानक कहीं से बिच्छू आया और उसने आचार्य श्री के पैर के अंगूठे में डंक मार दिया। डंक मारते ही आचार्य को ऐसा लगा जैसे किसी ने आग चिपका दी हो। बिच्छू का जहर सारे शरीर में फैल गया। उपचार की अफरा तफरी होने लगी पर आचार्य श्री ने संकेतों में यह जतला दिया कि इसकी आवश्यकता नहीं आज हम अपनी सहनशक्ति की परीक्षा लेंगे। रातभर गुरुवर असहनीय वेदना को धर्मपूर्वक सहते रहे पर उन्होंने किसी को कोई कष्ट नहीं दिया। इस परीक्षा में वे सौफीसदी सफल हुए। प्रातःकाल होते-होते ब्याधि अपने आप शांत हो गई। विद्याधर के अन्तर्मन पर इस घटना ने काफी गहरा प्रभाव डाला। परिषह-सहन करने की प्रेरणा उन्हें सच्चे अर्थों में देशभूषण महाराज से ही प्रथमतः प्राप्त हुई।'' 15

दिगम्बर वेशधारी मुनि धरित्री को बिछौना और आकाश को ही ओढ़ना मानते है। पदयात्रा करते हैं, अंजुलि से आहार ग्रहण करते, पिच्छी और कमण्डल ही उनके जीवन के उपादान हैं, आत्मा की खोज में अन्तर्लीन रहते हुए सांसारिक प्राणियों को जीवन के महात्म्य की शिक्षा देते हैं। सत्य क्या है ? भ्रम क्या है ? माया क्या है ? शाश्वत् की खोज कैसे संभव है ? शरीर नाशवान है, इसके प्रति आसक्ति कैसी? क्योंकि इसकी नियति तो अन्ततः जल जाना है ये सारी चीजें उनके आचरण और क्रियाओं में प्रत्यतः भासित होती है। इसीलिए तो वे महान् है, सबके स्वामी है, सभी उनके समक्ष नतमस्तक होकर उनके आशीष की कामना करते हैं। आचार्य देशभूषण जी महाराज का एक प्रसंग ऐसा है जिसे सुनकर मन श्रद्धावनत होकर आश्चर्यचकित हो उठता है-''आचार्य देशभूषण जी महाराज ससंघ शाजापुर (म.प्र.) की ओर प्रस्थान कर रहे थे। सूर्यास्त होते हुए देखकर संघ की व्यवस्था में संलग्न पं0 बलभद्र प्रसाद जी विश्राम व्यवस्था के लिए वाहन से नगर की ओर चल दिये। आचार्य श्री नगर प्रवेश के पूर्व अंधेरा गहराता हुआ जानकर कुछ दूरी पर एक पेड़ की आड़ में लघुशंका के लिए बैठ गये। अंधेरे में वे ये नहीं जान सके कि सर्पराज बैठे हैं। ज्योंही आचार्य श्री का पैर सर्प पर पड़ा कि उसने डस लिया। यह बात जब संघ के लोगों ने सुनी तो सभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ से हो गये। आचार्य श्री ने शांतभाव से कहा कि जीवन का कोई ठिकाना नहीं मैं सामायिक में बैठता हूँ। भक्तों की असंख्यात भीड़ बढ़ती जा रही थी। डॉक्टर को भी बुलाया गया लेकिन जब उन्हें बताया कि महाराज जी उपचार नहीं कराते, तब किसी विषापहर्त्ता को बुलाया गया। उसने अपनी युक्ति से सर्पदंश निकालने की हरसंभव कोशिश की लेकिन वह भी पूर्णरूप से सफल नहीं हो सका। आचार्य श्री ने कहा कि आज में इसी वृक्ष तले सामायिक करूँगा और वे सारी रात उसी वृक्ष के नीचे सामायिक करते रहे। प्रातःकाल होने पर उन्होंने अपने आपको स्वस्थ अनुभव किया तो लोगों की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। विषापहर्त्ता ने महाराज श्री को स्वस्थ देखकर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि वास्तव में ये योगीराज हैं अन्यथा इस काले नाग का काटा हुआ कोई बच नहीं सकता।''16

श्रवणबेलगोला में अल्पावधि विश्राम के उपरांत संघ विहार करता हुआ स्तवनिधि क्षेत्र पहुँचा। यह स्थान प्राकृतिक सौंदर्य से अनुपम था। पर्वतीय क्षेत्र की शीतल वायु, झरनों का कलकल निनाद, पक्षियों की चहचहाहट, घने वृक्ष की कतारें, वरवश ही मन को आकर्षित कर लेती थीं। यह मनभावन रमणीय स्थान विद्याधर को काफी रूचिकर लगा। शास्त्राध्ययन इस शांत वातावरण में वे भली प्रकार से कर सकते थे लेकिन इस शांत और मनोरम वातावरण में उन्हें असुविधा थी तो मात्र इतनी सी कि सदलगा के लोग अक्सर उनसे मिलने के लिए आते थे। वे लोग अनचाहे ही परिवार का प्रसंग छेड़कर विद्याधर के धर्मध्यान में खलल उत्पन्न करते थे। विद्याधर ने अनेकों बार सोचा कि आचार्य श्री से निवेदन किया जाये कि यहाँ से बिहार कर दिया जाये। लेकिन श्रावकों की भक्ति और आग्रह के समक्ष विद्याध र अपनी व्यथा नहीं कह सके। धीरे-धीरे विद्याधर के मन में अशांति ने डेरा डालना आरंभ कर दिया। वे सोचने लगे कि मुझे इस वातावरण से जितनी जल्दी हो सके निकल जाना चाहिए। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मदनगंज-किशनगढ़ (अजमेर) राजस्थान में मुनि श्री ज्ञानसागर जी महाराज विराजमान है तो उन्होंने सारी बाधाओं के निदानार्थ एक ही उपाय सोचा कि अब मुझे यहाँ से चल देना चाहिए। वे निर्णय कर चुके थे कि अब मुझे जाना ही है। और एक दिन विद्याधर ने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से आज्ञा प्राप्त कर अजमेर के लिए प्रस्थान कर दिया।

यात्रा की बाधाओं को झेलते हुए विद्याधर दो दिनों तक निर्जल निराहार रहकर अजमेर पहुँच गये। अन्न जल ग्रहण न करने के पीछे कारण यह था कि वे मुनि या देवदर्शन के उपरांत ही अन्न जल ग्रहण करने का व्रत लिए हुए थे। सर्वप्रथम अजमेर में विद्याधर जी ने मन्दिर जी के दर्शन किये फिर एक सज्जन के बताये अनुसार वे श्री कजोड़ीमल के घर पहुँचे। उन्होंने अपना परिचय दिया तत्पश्चात् धर्म आराधक श्रावक श्री कजोड़ीमल जी ने उन्हें विनम्रता पूर्वक आहार कराया। कजौड़ीमल जी ने उन्हें विनम्रतापूर्वक आहार कराया। कजोड़ीमल अत्यंत सरल, निर्मल और पवित्र हृदयवाले व्यक्ति थे। एक ब्रह्मचारी को अपने घर आहार ग्रहण कराकर उन्होंने अपने आपको धन्य माना। जब विद्याधर जी ने उनसे मदनगंज-किशनगढ़ जाकर महाराज श्री ज्ञानसागर जी के दर्शनों की अभिलाषा व्यक्त की तो उन्हें अतीव प्रसन्नता हुई। वे सायं उन्हें साथ लेकर मदनगंज-किशनगढ़ गये।

जब विद्याधर जी ने मुनि श्री ज्ञानसागर जी के पास पहुँचकर उनके दर्शन किये तो उन्हें अपारशांति की अनुभूति हुई। विद्याधर ने श्री कजौड़ीमल का हृदय से धन्यवाद ज्ञापित किया।

मुनि श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने कजौड़ीमल से नवागन्तुक के बारे में जानकर महाराज श्री को प्रसन्नता हुई कि एक महात्मा शरण में आया है। मुनि श्री ने विद्याधर से अनेकों प्रश्न किये। सार्थक उत्तर से विद्याधर की प्रतिभा और ज्ञान का आभास हुआ। चर्चा के दौरान बातों ही बातों में मुनि श्री स्मितमुस्कान के साथ कह उठे कि-"जिस तरह आचार्य श्री के चरणों को छोड़कर यहाँ चले आये हो

उसी प्रकार यहाँ से कहीं अन्यत्र तो नहीं चले जाओगे। विद्याधर तत्क्षण बोले कि में आपके विश्वास को बनाये रखने के लिए आज से वाहन की सवारी का त्याग करता हूँ और 'ईर्या-चर्या' को ग्रहण करता हूँ।'' विद्याधर के इस उत्तर से सभी आश्चर्य चकित होकर उनके मुख की ओर देखते रह गये। मुनि श्री भी विचार करने लगे कि यह कोई कच्चा धागा नहीं है जो परिस्थितियों के संघात से टूट जाये। उन्हें उनकी दृढ़ता को देखकर सन्तोष का अनुभव हुआ कि यह मुनिचर्या पालन करने के लायक है। उनका मन विचारमग्न होकर सोचने लगा कि उन्हें अब तक जिस शिष्य की सच्चे अर्थो में तलाश थी, वह तलाश विराम की स्थिति पर आ पहुँची है। उन्होंने विद्याधर को अपना उदार आशीष और पावन आश्रय प्रदान किया। विद्याधर को लगा जैसे मैं धन्य हो गया हूँ। उन्हें अपना आध्यात्मिक आश्रय मिल गया था, उन्होंने परम सन्तोष की अनुभूति की।

विद्याधर की मुनिदीक्षा :

मुनिश्री ज्ञानसागर के सान्निध्य में विधाधर एक वर्ष तक सतत् साधना करते रहे। यद्यपि अभी उनकी आयु केवल बाईस वर्ष की ही थी लेकिन उन्होंने अपने संयम, साधना, तप, त्याग और चर्या से सभी को प्रभावित कर लिया था। मुनि ज्ञानसागर ने भी अपने सुशिष्य को नानारूपों में परख लिया था। उन्होंने विद्याधर के दीक्षा के सम्बन्ध में अपने कुछ निकटस्थ साधकों और श्रावकों से भी चर्चा की। कुछ लोगों ने उनकी आयु को देखकर अवश्य कुछ कहा कि अभी उन्हें और साधना की अग्नि में तपकर सही होने की आवश्यकता है जबकि कुछेक अन्य लोगों का यह भी कहना था कि क्रमशः क्षुल्लक, ऐलक दीक्षा देकर ही उन्हें क्रमशः साधना के सोपानों को पार करने की अनुमति दी जाये। श्रेष्ठिवर्ग भी अभी विद्याध र की मुनिदीक्षा के पक्ष में नहीं था। उन लोगों ने मुनिवर के चरणों में अपना निवेदन कुछ इन शब्दों में व्यक्त किया-''मुनिवर! ब्रह्मचारी अभी अल्पवयस्क है, मुनिचर्या तलवार की धार पर चलना है अत: हमारी इच्छा है कि इन्हें दो-तीन वर्ष और अभ्यास करने दिया जाये। इन्हें यदि क्रम से उठाया जाये तो अच्छा रहेगा, पहले क्षुल्लक, पुनः ऐलक, तदनन्तर मुनि।''।[17] परन्तु विद्याधर की प्रतिभा, ज्ञान और साध ना की दृढ़ता ने मुनिवर को अन्दर तक प्रभावित किया था। वे विद्याधर को भलीभांति परख चुके थे। लिहाजा श्रेष्ठिवर्ग की एक न चली उन्हें मजबूरन यह सोचकर लौटना पड़ा कि जब मुनि श्री ही दीक्षा देने का दृढ़ निश्चय कर चुके हैं तो फिर सारी बातें व्यर्थ हैं। और इस प्रकार काफी विचारविमर्श के उपरांत विद्याधर की दीक्षा सुनिश्चित हो ही गई। वह पावन बेला आ ही गई जिसका कि लोगों को बेसब्री से इंतजार था अर्थात सन् 1968 में जून मास की वह तिथि 30 जून जिस दिन विद्याधर की मुनिदीक्षा होनी थी। वीर निर्वाण संवत् 2494 के अषाढ़ शुक्ल पंचमी के रविवार का दिन। 30 जून को होने वाली विद्याधर की दीक्षा की सूचना ग्राम सदलगा में उनके परिजनों को भी दे दी गई। इसलिए कि शास्त्रानुसार दीक्षा से पूर्व माता-पिता एवं सम्बन्धियों की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। पिता मलप्पा जी इस समाचार को सुनकर आवाक् रह गये। माता जी भी बेहाल हो गई। अनवरत् अश्रुप्रवाह आखिरकार

उन्हें जिस बात की आशंका थी वही हुआ। इस आकुलता के साथ-साथ मन के किसी कोने में इस हर्ष का भी अनुभव हो रहा था कि विद्याधर अब सच्चे अर्थो में अपने नामानुरूपों गुणों को धारण कर सकेगा। वे इस बात को भी अच्छी तरह से समझ रहे थे कि विद्याधर जिस पथ पर आगे बढ़ रहाहै उससे पीछे लौट पाना संभव नहीं हैं । यह सूचना सदलगा में सर्वत्र फैल गयी, सभी लोग आपस में नाना प्रकार की जिज्ञासाएँ प्रकट करते हुए वार्तालाप करने लगे। विद्याधर ने साधना का पथ अपना लिया है। अब वह गुरुवर ज्ञानसागर के द्वारा मुनिदीक्षा अजमेर में ग्रहण करने जा रहा है। हम सभी को इस समारोह में सम्मिलित होकर पुण्यार्जन करना चाहिए।

श्री मलप्पा के परिवार में यह चर्चा हुई कि दीक्षा समारोह में किस किसको जाना चाहिए ? इच्छा तो सभी की थी पर विचारविमर्श के उपरांत यह तय हुआ कि अग्रज श्री महावीरप्रसाद जी ही अजमेर दीक्षा समारोह में जायेंगे। माता-पिता का मोह कहीं पुत्र दीक्षा में बाधक न बने तथा घर भी सूना न रहे यह सोचकर केवल महावीर प्रसाद जी ही अजमेर की ओर चल दिये तथा दीक्षा के कुछ समय पूर्व वहाँ पहुँच गये। विधि अनुसार दीक्षा पूर्व ब्रह्मचारी को मुनि की भाँति करपात्र में आहार लेना पड़ता है। विद्याधर को भी यह विधि पूर्ण करनी थी। उक्त विधि से आहार ग्रहण करते हुए उनकी एक झलक पाने के लिए सहस्त्रों श्रद्धालु नसिया जी में एकत्रित हो गये थे। विद्याधर की अहारचर्या को अपने सतृष्ण नेत्रों से देखकर सभी का अन्तर्मन आनंदविभोर हो उठा। सभी टकटकी लगाये केवल एक ही बात को सोच रहे थे कि धन्य है इन त्यागियों का जीवन जिन्होंने सत्य स्वरूप को जानकर इस रीते संसार के निस्सार वैभव को ठुकरा दिया है। अज्ञानी तो वे हैं जो इस रीतेपन में भी भरे होने का भ्रम पाले हुए हैं। जीवन के शाश्वत् सत्य की अनुभूति विरलों को ही होती है। जिन्हें हो जाती है वे इस संसार से हमेशा के लिए मुक्ति का उपक्रम कर लेते हैं जिन्हें नहीं हो पाती उन्हें तो अन्ततः भटकना ही है। भटकन पर विराम लगे यही सबका लक्ष्य होना चाहिए उस समय कुछ इसी तरह की प्रेरणाओं का आभास हो रहा था।

अन्ततः विद्यासागर की दीक्षा का मूहूर्त 30 जून को सुनिश्चित कर लिया गया। समिति द्वारा काफी प्रचार प्रसार की व्यवस्था की गई, फलस्वरूप आस पास के गाँवों तथा मुख्य रूप से जयपुर और किशनगढ़ से अपार जनसंख्या में भक्तों एवं दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ी। समाचार पत्रों के माध्यम से भी पर्याप्त सूचना का प्रसार हुआ। जिसके कारण दूर दराज के लोग भी 30 जून के दीक्षा दिवस के सम्बन्ध में पूर्व से ही अवगत हो चुके थे। कुछ लोगों में तो विद्याधर की दीक्षा के प्रति इतना अतीव उत्साह था कि वे तीन-चार दिन पूर्व ही अजमेर में अपना डेरा डाल चुके थे। प्रशासन और सम्प्रज ने मिलकर विभिन्न समितियों के माध्यम से व्यवस्था के पर्याप्त इंतजाम किये थे। यात्रियों के ठहरने के लिए अजमेर की धर्मशालाओं तथा अन्य तरह के नानारूपों में ठहरने की उचित व्यवस्था की गई थी। आयोजन और दीक्षा महोत्सव को सोल्लास सम्पन्न कराने के लिए नसिया जी के प्रांगण में एक विशाल पाण्डाल लगाया गया था।

दीक्षा पूर्व परम्परानुसार भव्यशोभायात्रा निकाली गई जिसमें सहस्त्रों नर-नारियों ने नंगे पैर चलकर भाग लिया। इस अवसर पर बैण्ड बाजों, भजन मण्डलियों, हाथी, घोड़ें और झॉकियों के द्वश्य लोगों का मन बरबस ही मोह लेते थे। एक युवा ब्रह्मचारी को वयोवृद्व तपस्वी मुनि द्वारा दी जाने वाली मुनि दीक्षा के दृश्य को देखने में अतीव उत्साह था। युवावस्था में विलास और मोह का त्यागकर कौन तपस्वी अपने आत्मीय परिजनों का मोह त्यागकर मुक्तिपथ को वरण कर रहा है उसे निहारने के लिए सभी जन अपने अन्दर एक अजीव से कौतुहल का अनुभव कर रहे थे।

जिस दिन विद्याधर की दीक्षा का मुहूर्त्त था उस दिन भीषण गर्मी थी। लेकिन असंख्यात लोगों की भीड़ का उत्साह देखते ही बनता था। विशाल पाण्डाल में एक छोर से दूसरे छोर तक नरनारी ही दिखाई दे रहे थे। काफी भीड़ थी तिल भर भी जगह शेष नही बची थी। काफी विशाल और भव्यमंच का निर्माण कराया गया था जिस पर होकर मुनि श्री ज्ञानसागर जी को युवा ब्रह्मचारी को मुनि दीक्षा देनी थी। विशाल शोभायात्रा नगर के प्रमुख मागों से होती हुई दीक्षा मण्डप की ओर बढ़ रही थी विभिन्न वेश भूषा में सजे धजे लोग, नानाप्रकार के परिधानों से सज्जित नारियॉ कतारबद्व रूप में आगे बढ़ते हुए, हाथियों की कतारें उनपर बैठे हुए वस्त्राभूषणों से सुसज्जित राजकुमार लोगों के आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। काफी मन लुभावन मनोरम दृश्य था। चारों और हर्ष का वातावरण, भगवान महावीर की जयकारा के नारे, मुनि ज्ञानसागर की जय, जैनधर्म की जय आदि नारों से वातावरण गुंजायमान हो रहा था। इस धार्मिक शोभायात्रा में विद्याधर के बड़े भाई महावीर प्रसाद जी भी सम्मिलित थे।

अपार जनसमूह से पाण्डाल भरा हुआ था, इस अवसर पर मंच का संचालन सेठ भागचन्द्र जी कर रहे थे। वे सभी को शांति बनाये रखने के लिए मंच से बार बार निर्देशित कर रहे थे। धीरे धीरे जुलूस पाण्डाल की ओर आ पहुँचा था। सभी के ह्रदयों की धड़कनें तीव्र हो गई थी। मंच पर मुनिवर ज्ञानसागर जी के अलावा क्षुल्लक सन्मिति सागर जी तथा क्षुल्लक संभवसागर जी तथा अन्य क्षुल्लक, ब्रह्मचारीगण विराजमान थे। गणमान्य श्रावकों में प्राचार्य निहालचन्द्र लुहाड़िया के साथ श्री भागचन्द्र पाटनी श्री हुकुमचन्द्र लुहाड़ियॉ के साथ श्री भागचन्द्र सोनी भी थे। जुलूस के पाण्डाल में आ जाने पर ब्रह्मचारी विद्याधर को मंच पर बिछी हुई एक चटाई पर बैठा दिया गया। विद्याधर के ज्येष्ठ भ्राता भाई महावीर भी मंच पर एक ओर बैठ गये।

अग्रज जी से दीक्षा की अनुमति के उपरांत ही दीक्षा का कार्य आरम्भ हुआ। विद्याधर ने अत्यंत भक्तिभावपूर्वक गुरुवर के समक्ष हाथ जोड़कर विनतभाव से दीक्षा देने की प्रार्थना की। मुनिवर ने स्वीकृति का संकेत देते हुए विद्याधर से उपस्थित जनसमुदाय के समक्ष प्रासंगिक प्रवचन के लिए निर्देशित किया। यद्यपि विद्याधर अभी उतने परिपक्व और निष्णात प्रवचन की दृष्टि से नहीं थे किन्तु उन्होंने आचार्य देशभूषण जी, मुनिवर ज्ञानसागर जी, पण्डित महेन्द्रकुमार जी से शस्त्राध्ययन कर जो ज्ञान

का सारस्वरूप ग्रहण किया था उसे उन्होंने अपनी भाषा में अभिव्यक्त किया। उन्होंने सांसारिक असारता, माया की जटिलता, मोह के अटूट बन्धन और जीवन के शाश्वत् सत्य के जिस बोधात्मक स्वरूप की अत्यंत सरल शब्दों में अभिव्यक्ति की उसे सुनकर गुरुवर ज्ञानसागर जी के साथ-साथ उपस्थित जनसमूह श्रवणकर आश्चर्यचकित रह गया। सभी को उनकी असाधारण प्रतिभा की सूचनात्मक जानकारी मिल गई। तब लोग मन ही मन सोचने लगे कि यह ब्रह्मचारी जो कुछ ही क्षणों में मुनिदीक्षा ग्रहण करेगा निश्चित ही अपने आने वाले समय में जैन धर्म की पताका को शीर्ष ऊँचाई तक ले जाने में अपना महती योगदान करेगा।

विद्याधर ने मुनिवर के चरणों में विनयभाव से अपना निवेदन करने के उपरांत प्राणिपात किया और गुरुवर से केशलौंच की आज्ञा मांगी। आज्ञा मिलने पर विद्याधर ने केशलौच किया। केशलौच यद्यपि काफी कष्टसाध्य क्रिया है फिर भी वे एक कुशल अनुभवी की तरह मंच पर अपने केशों को उखाड़ने लगे। यद्यपि इस तरह की क्रिया वे ब्रह्मचारी अवस्था में कुछेक बार कर चुके थे। देखते ही देखते उनके सिर के अनेक स्थानों से रक्तस्त्राव होने लगा। स्त्रियाँ विशेष रूप से इस दृश्य को देखकर भावविव्हल हो उठीं। परन्तु वे निर्मल और उदासीनभाव से अपना कार्य करते रहे। मंच पर बैठे हुए अनेक विद्वानों तथा गुणी श्रावकों द्वारा जब लुंचनक्रिया में हाथ बटाँने और रक्त को पोंछने के लिए उद्यत हुए तो विद्याधर ने उन्हें संकेत के माध्यम से मना कर दिया। इस कष्टसाध्य कार्य में भी उनके सौम्यमुख पर किसी तरह का खेद और विषाद दृष्टिगत नहीं हो रहा था। जय-जयकार के नारों से सारा आकश गूंजने लगा था। आम जनता इस दृश्य को देखकर अपने आपको धन्य और सौभाग्यशाली अनुभव कर रही थी।

केशलौंच के उपरांत मुनिवर ने विद्याधर के लिए विधि-विधानपूर्वक अनेक मंत्रों के द्वारा दीक्षा का कार्य सम्पन्न किया। तत्पश्चात् उन्होंने सारे वस्त्रों का परित्याग कर दिया। विद्याधर ज्यों-ज्यों एकएक करके परिधान उतार रहे थे लोगों की उत्सुकता बढ़ती ही जा रही थी। उनकी दिगम्बरी मुद्रा देखने के लिए जनता आतुर थी। लोंगो का कहना था कि विद्याधर मन से विरागी तो काफी समय पूर्व से हो चुका था आज वह तन से भी विरागी हो गया है। मुनिवर ज्ञानसागर को अब दिगम्बर वेशधारण कर चुके विद्याधर का नामकरण करना था।क्योंकि ग्रहस्थ जीवन का नाम दीक्षा ग्रहण करते ही छूट जाता है। मुनिवर ने अब 'विद्याधर' से उन्हें 'विद्यासागर' नाम से सम्बोधित किया। दिगम्बर वेशधारी मुनि का दीक्षा गुरु नामकरण करते समय उनके समस्त गुणधर्म, प्रकृति और स्वभाव का ध्यान रखते हैं जिससे कि नामानुरूप गुणों की अनुभूति श्रावक मुनि के प्रत्येक आचरण और क्रिया से कर सके। ज्योंही मंच से 'विद्यासागर' नाम से नवदीक्षित मुनि को संबोधा गया उसी क्षण सारा वातावरण 'मुनि विद्यासागर' की जयकारा से गूंज उठा। राजस्थान के अजमेर नगर की वह मुनि दीक्षा सदा सर्वदा के लिए स्वर्णाक्षरों में स्मरणीय बन गई। ज्येष्ठ भ्राता महावीर जी ने आदि से लेकर अंत तक इस स्मरणीय दृश्य को अपनी

आंखों से देखा था। वे मन ही मन विचार कर रहे थे कि आज हमारा परिवार का एक होनहार सदस्य संसार के सारे बंधनों से नाता तोड़कर मुक्तिपथ का पथिक बन गया है।

अजमेर का भव्यदीक्षा समारोह लोगों के स्मृतिपटल पर अनेक स्मृतियाँ अंकित कर समाप्त हो गया। सभी लोग अपने-अपने वासस्थान की ओर लौट गये। भाई महावीर प्रसाद जी भी सदलगा आ गये। उन्होंने एक-एक घटना को माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों को अत्यंत रुचिकर भाव से सुनाया। उनकी बातों को सुनकर माता-पिता अश्रुप्रवाहित करने लगे लेकिन गाँव वालों को इस बात का गर्व था कि हमारे गाँव का, विद्याधर आज संसार के सारे बन्धनों को तोड़कर मुनि विद्यासागर बन गया है। 'विद्यासागर' के कारण यह छोटा सा ग्राम 'सदलगा' सारे देश में पहचान का कारण बनेगा और निश्चित रूप से उस समय की वह सोच आज सच साबित हुई है। गाँव के लोग अनेक दिनों तक मलप्पा जी के पास आते रहे और दीक्षा समारोह के संस्मरणों को सुनते रहे। समारोह की चर्चा सुनते समय उनकी आँखों में जिस तरह की चमक और जिज्ञासा देखने को मिलती थी वह सच्चे अर्थों में तो शब्दातीत ही मानी जायेगी। सभी ग्रामवासियों ने मलप्पा जी के परिवार की उन्मुक्त भाव से प्रशंसा की। महावीर प्रसाद जी के भावविव्हल वार्तालाप को सुनकर मलप्पा जी से नहीं रहा गया उन्होंने निश्चय किया कि वे अजमेर जायेंगे 'मुनि विद्यासागर' जी से मिलने। उन्होंने महावीरप्रसाद जी से घर पर रहने को कहा। आखिरकार जिसका पुत्र मुक्ति के मार्ग पर बढ़ने के लिए जिस दृढ़ता के साथ अगसर हुआ हो उसे देखने के लिए कौन लालायित नहीं हो उठेगा। और मलप्पा जी अजमेर के लिए चल दिये।

दीक्षा के उपरांत :

ब्रह्मचारी अब 'मुनि विद्यासागर' के नाम से पहचाने जाने लगे। दीक्षा महोत्सव को अभी दो सप्ताह ही हुए थे कि चातुर्मास की योजना समाज के गणमान्य लोगों द्वारा सुनिश्चित की जाने लगी। विचारोपरांत यह निर्णय हुआ कि इस चातुर्मास को अजमेर में ही सेठ भागचन्द्र जी की नसिया में सम्पन्न कराया जाये। गुरुवर ज्ञानसागर के समक्ष समाज के लोगों ने जब अपना प्रस्ताव श्रीफल भेंटकर निवेदित किया तो गुरुवर ज्ञानसागर जी ने भी अपनी सहमति प्रकट की। अर्थात 1968 का 'मुनिविद्यासागर' का प्रथम चातुर्मास ज्ञानसागर के सान्निध्य में अजमेर में ही सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास के दौरान 'मुनि विद्यासागर' के दो कार्य ही प्रमुख थे प्रथम गुरुसेवा द्वितीय-शास्त्राध्ययन' उनके आचरण में किसी तरह की कोई गलती न हो इस बात का वे विशेष ध्यान रखते थे। जिस समय मलप्पा जी अजमेर की नसिया में परिवार सहित पहुँचे उस समय विद्यासागर जी मुनिवर के पास बैठकर जिनवाणी का अध्ययन कर रहे थे। मलप्पा जी ने अपना परिचय देते हुए परिजनों का परिचय कराया। ज्ञानसागर जी महाराज को यह अच्छा लगा कि मुनि विद्यासागर को देखकर निश्चित रूप से परिजनों तथा मलप्पा जी को राग के प्रति अनासक्ति का भाव जाग्रत होगा। माता-पिता ने अपने पुत्र को मुनिरूप में देखा तो ममता के आंसू टप-टप गिरने लगे, लेकिन उनके यह आँसू विषाद के नहीं हर्ष के थे। भाई-बहिन को भी कुछ झिझक की

अनुभूति हुई वे संकोच का अनुभव कर रहे थे लेकिन बड़ी जल्दी यह झिझक और संकोच दूर हो गया। भाई की इस मुद्रा को देखकर उसके महिमामयी आभामण्डल को निहारकर मन में अपारशांति की अनुभूति हुई। मलप्पा जी के साथ सदलाग से विद्याधर का सहपाठी मारूति भी आया था, जब उसने अपने मित्र को मुनिवेष में देखा तो वह मन ही मन विचार करने लगा कि विद्याधर तूने अपनी उम्र से ज्यादा ऊँचाई प्राप्त कर ली है और एक मैं हूँ जो कितना नीचे पड़ा हूँ ? इस तरह का बोध कभी-कभी जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन का हेतु बन जाता है। मुनिवर उसकी भावना को भलीभांति पहचान रहे थे, मारुति ने जब मुनिवर के चरणों में शरण मांगी तो महाराज ने उसे भी ब्रह्मचर्यव्रत देकर आत्मतुष्ट कर दिया।

मलप्पा जी ने गुरुवर से आज्ञा प्राप्तकर अपने विद्याधर से एकांत में चर्चा का समय मांगा। परिजनों के साथ मुनि विद्यासागर ने चर्चा तो की पर उस चर्चा में ग्रहस्थ के सम्बन्धों की कोई चर्चा नहीं हुई। प्रेम, ममता, अपनत्व और बिछोह की पीड़ा के भी कोई संवाद नहीं हुए। चर्चा हुई तो केवल धर्म की, आत्मा के कल्याण की, मुक्ति, दर्शन और चरित्र की। क्योंकि मुनि विद्यासागर इस बात को भलीप्रकार से जानते थे कि कहीं भी 'अपनत्व बोध' ने झिझोड़ा तो प्रायश्चित लेना पड़ेगा। इसलिए वे आदि से अंत तक चर्चा के दौरान स्थिर बने रहे। मलप्पा जी ने मुनिसंघ के सान्निध्य में कुछ दिन रहकर खूब धर्मलाभ प्राप्त किया। वे नित्यप्रति मुनिसंघ की आहारचर्या में सम्मिलित होते। स्वाध्याय, सामायिक और धर्माराधन में संलिप्त रहते। लोगों के मुख से बार-बार विद्याधर के दीक्षा समारोह की स्मृतियाँ लोगों के मुख से सुनते। इस तरह मुनिसंघ के धाार्मिक परिवेश और 'विद्याधर' की चर्या और धर्माराधन ने उनके अन्तर्मन में वैराग्यभावना का बीजारोपण कर दिया। उनका मन वहाँ पर इतना अधिक रम गया कि एक सप्ताह बीत जाने के उपरांत भी वहाँ से लौटकर अपने ग्रहग्राम सदलगा नहीं जाना चाहते थे। उनके मन में एक बात उन्हें बार-बार कचोट रही थी कि जिसका युवा पुत्र मुनिदीक्षा धारण कर चुका हो और पिता ग्रहस्थ जीवन की वासनाओं में लिपटा हो, उनका मन अशांत था, ग्लानि की पीड़ा उन्हें बार-बार आहत कर रही थी, अतः वे एक दिन गुरुवर ज्ञानसागर जी से निवेदन करने लगे-'महाराज ने उन्हें सहर्ष ब्रत प्रदानकर आशीर्वाद दिया। उपस्थित जनसमुदाय को यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि जहाँ एक ओर पुत्र ने दीक्षा ली तो पुत्र के सहपाठी ने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया और आज पिता जी ब्रहचर्य व्रत को ग्रहण कर रहे हैं। धन्य है ऐसा परिवार जिसके अन्तर्मन में वैराग्य के बीजों का प्रस्फुटन हो रहा है। हम लोग भी अत्यंत भाग्यशाली हैं क्योंकि हमें भी रोज नये व्रती के दर्शन हो जाते हैं।

आचार्य पद से अलंकृत :

मुनि ज्ञानसागर परम तपस्वी और अत्यंत ज्ञानी साधु थे। ज्ञान का अथाह सागर उनके अन्तःकरण में हिलोरें मार रहा था। युवावस्था में दीक्षित मुनि विद्यासागर ने तो उन्हें और ही आत्मविभोर कर दिया था क्योंकि वह तपस्वी, साधक, ज्ञानी और सच्चे गुरुसेवक होने के साथ-साथ करूणा से

परिपूर्ण थे। गुरुवर ज्ञानसागर केसरगंज से चातुर्मास समापन से उपरांत नसीराबाद (अजमेर) पहुँच गये थे। नसीराबाद में ज्ञानसागर जी द्वारा मुनि विवेकसागर की दीक्षा सम्पन्न कराई गई थी। बड़ा ही मांगलिक वातावरण था, ऐसे समय में अनुकूल अवसर पाकर सेठ भागचन्द्र सोनी अपने साथ अन्य अनेक गणमान्य श्रेष्ठिजनों को लेकर गुरुवर के पास पधारे और निवेदन किया कि यह समाज आपको आचार्य पद से अलंकृत कर उपकृत होने का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए लालायित है, गुरुवर ने पहले तो इस आग्रह को स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया लेकिन जब समाज ने बार-बार अपने निवेदन को दोहराते हुए आग्रह की सीमाऐं-लांघ लीं तब गुरुवर ने अपनी औपचारिक सहमति प्रदान की। फिर क्या था ? सर्वत्र एक आनंदभरा उल्लास का वातावरण निर्मित हो गया और फिर समारोह पूर्वक फाल्गुन कृष्ण पंचमी, वि.सं. 2025 अर्थात् 7 फरवरी 1969 को मुनिज्ञानसागर आचार्य ज्ञानसागर कहलाने लगे।

सन् 1969 में केसरगंज के चातुर्मास के उपरांत सन् 1970 का चातुर्मास किशनगढ़ (जयपुर) में हुआ। सन् 1971 का चातुर्मास मदनगंज-किशनगढ़ (अजमेर) में सम्पन्न हुआ। सन् 1972 का चातुर्मास अपने आपमें अत्यंत महत्वपूर्ण इसलिए बन पड़ा क्योंकि इस चातुर्मास के दौरान मुनि विद्यासागर आचार्य पद से अलंकृत हुए। आचार्य ज्ञानसागर इस समय लगभग 80 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुके थे जबकि मुनि विद्यासागर की आयु अभी केवल छब्बीस वर्ष की ही थी। गुरु को अन्तःप्रेरणा हुई कि मुनि विद्यासागर चिंतन, मनन, ज्ञान, विशुद्धि, वक्तव्य-कला की कसौटी पर पूर्णतया खरे साबित हो चुके हैं। अतः उन्हें आचार्य पद सौंपकर निरापद्रभाव से सल्लेखना क्रिया में संलग्न हुआ जाये तो सर्वोत्तम होगा। जब गुरुवर की अन्तःप्रेरणा ने जब उन्हें हर तरह से आश्वस्त कर दिया तो एक दिवस आचार्य ज्ञानसागर जी ने मुनि विद्यासागर के समक्ष अपने मन की बात कही। तब युवा मुनि विद्यासागर ने अत्यंत विनम्रभाव से गुरुवर के चरणों में साग्रह निवेदन किया।

"गुरुवर! आप ज्ञान के अगाध सागर हैं, आप आयु तपोवृद्ध भी हैं, मैं आपका शिष्य अवस्था में अल्प, शास्त्र-ज्ञानार्थी और अनुभवहीन हूँ अतः मैं इस गरिमामय आसन के उपयुक्त नहीं हूँ आप महान् वटवृक्ष हैं, जिसकी शांत शीतल-छाया में हम सभी ज्ञानार्जन करते हैं, सम्यक् चारित्र का पाठ पढ़ते हैं तथा मोक्षमार्ग की गहन ग्रन्थियों को सुलझाते हैं। आप मुझे इस अधिकार से वंचित न कीजिये। दस दिवस तक यह आग्रह-अनुग्रह चलता रहा। मुनि विद्यासागर एक दिन अधिक विकल हो पड़े। समाज ने भी उन्हें समझाया कि गुरुवर ने कुछ सोच समझकर ही यह प्रस्ताव रखा है, परन्तु मुनि विद्यासागर के ऊपर कोई असर नहीं हुआ, वे टस से मस नहीं हुए।"[18]

आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज द्विविधा में पड़ गये। संकल्प-विकल्पों ने आकर जिरह करना, प्रारंभ कर दिया। परन्तु वे अपनी आयु, संघ के साधुओं का अनुशासन और सामाजिक हित की बात सोचकर आचार्य पद से शीघ्रतिशीघ्र निर्मुक्त होना चाहते थे। अतः उन्होंने ज्ञान के उस रूप का प्रयोग

किया, जो विचित्र परिस्थितियों में प्रेरित कर समस्या का निदान बतला देता है। गुरुवर आचार्य की मुखमुद्रा खिल गई और उन्होंने अपने सुशिष्य को बुलाकर कहा-''मैं अत्यंत वृद्ध हो गया हूँ, जीवन नश्वर है अतः अगले क्षण का भी पता नहीं, गुरु तुमसे गुरू दक्षिणा चाहता है, दे सकोगे ? मुनि विद्यासागर समझ न सके और सहसा कह बैठे 'गुरुवर! मैं आपका अकिंचन दास हूँ, सर्वस्व छोड़कर त्यागी बना हूँ, हाँ, जीवन है, आपकी आज्ञा पर मैं उसे न्यौछावर कर सकता हूँ।''

मुनि विद्यासागर के कथन से यह सहज ही भासित हो रहा था कि वे गुरुवर की आज्ञा का हरहाल में पालन करेंगे। अवसर को अनुकूल पाकर आचार्य ज्ञानसागर जी ने अपने अन्तर्मन के भावों को अभिव्यक्त किया। वे बोले कि-''विद्या मैं ही नहीं सारा संघ और समाज चाहता है कि तुम शीघ्रतिशीघ्र मेरे स्थान को ग्रहण कर लो, इसी में संघ और समाज का भला है। प्रबुद्ध शिष्य मुनि विद्यासागर जी को गुरुवर के कथन का आशय शीघ्र ही समझ में आ गया। वे गुरुवर के चरणों में सिर रखकर अश्रु प्रवाहित करने लगे। गुरु ने अशेष स्नेह की वर्षा करते हुए अपने वृद्ध हाथों से उन्हें उठाया, आशीर्वाद दिया और अपने प्रबोधन से उन्हें आश्वस्त किया, अन्ततः गुरुआज्ञा को वे नकार नहीं सके। उपस्थित जनसमुदाय और संघस्थ साधुओं ने जब यह दृश्य देखा तो उनकी आँखें सजल हो उठीं। अब सभी ने अपने आपमें यह आशा संजोली की अब मुनि विद्यासागर ही संघ के भावी संचालक होंगे।

फिर क्या था ? आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने नसीराबाद के चातुर्मास समाप्त होने के उपरांत उसी स्थान पर 22 नवम्बर 1972 को गुरु के द्वारा शिष्य को आचार्य पद से अलंकृत करने की अत्यंत प्रसन्न मुद्रा में घोषणा कर दी। सर्वत्र यह समाचार जंगल में अग्नि की तरह फैल गया। आचार्यवर के इस निर्णय से सभी आश्चर्यचकित हुए पर उन्हें गुरुवर के निर्णय से भारी प्रसन्नता और अत्याधिक संतोष की अनुभूति हो रही थी। जगह-जगह से लोग भारी संख्या में निश्चित तिथि को मुनि विद्यासागर के आचार्य पद अलंकरण समारोह को देखने के लिए नसीराबाद में उमड़ पड़े। नेत्रों को सार्थकता प्रदान करने के लिए।

समारोह की शोभा देखते ही बनती थी। आडम्बर से हीन तथा धर्मप्रभावना से युक्त इस आयोजन में जैन-अजैन सभी एकत्रित होकर धर्मलाभ लेने की होड़ में लगे हुए थे। अद्भुत दृश्यथा-''जब मुनि विद्यासागर को गुरुवर ने अपने कर कमलों से मंत्रोच्चारण के साथ मुनि विद्यासागर को आचार्य पद से विभूषित कर दिया। शास्त्रोक्त परंपरा के अनुसार अब आचार्य ज्ञानसागर मुनि ज्ञानसागर और मुनि विद्यासागर आचार्य विद्यासागर हो गये थे। मुनि ने आचार्य को आचार्य पद पर आरोहण कराया तो उपस्थित जनसमुदाय जय जयकार कर उठा सभी की आँखों में हर्षातिरेक के कारण आँसू छलछला उठे। इस पावन अवसर को देखकर सभी ने अपने आपको पुण्यशाली माना और विचार करने लगे कि धन्य हैं ऐसे गुरु जिन्होंने अपने गुरु पद का परित्याग कर शिष्य को स्वयं गुरु बना दिया हो।

आचार्य पद पर पदासीन कराने के उपरांत अपनी पिच्छी आचार्य विद्यासागर जी महाराज को देकर तथा उनकी पिच्छी स्वयं लेकर उनसे नीचे के पट्ट पर आसन ग्रहण किया। अपरिमित ज्ञान के अगाध भण्डार, सौम्यता की प्रतिमूर्त्ति, एक दाम निरभिमानी और अत्यंत विनम्र आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के इन शब्दों को श्रवण कर तो मानों उपस्थित जनसमुदाय के धैर्य का बांध ही टूट गया, वे बोले-भो आचार्य! अब आप मेरे आचार्य हैं और मैं आपके संघ का एक मुनि। अब आपका हर आदेश मुझ पर भी अन्य संघस्थ साधुओं की तरह ही लागू होगा। आप ही आचार ग्रहण करायेंगे तथा शास्त्र की ग्रन्थियों को सुलझायेंगे। इस संघ का संचालन आपके सुदृढ़ हाथों में होगा। मैं अब समाधिमरण पूर्वक संल्लेखना-संकल्प को ग्रहण करने का इच्छुक हूँ।''[19]

''श्रमण परम्परा के इतिहास में यह संभवतया ऐसी प्रथम घटना थी जब किसी जैनाचार्य ने जीवित अवस्था में अपने ही कर कमलों से अपने शिष्य को आचार्य पद प्रदान किया था और नूतन आचार्य के आज्ञानुरूप स्वयं मुनि-वृत्ति का परिपालन किया था।''[20]

इस अल्हादकारी दृश्य के अवसर आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने जो सँक्षिप्त प्रवचन दिया उसका साररूप कुछ इस प्रकार से था-''मैं तो गुरुभक्त हूँ, आपकी कृपा और पुण्य प्रताप से मुझे इस चतुर्विध-संघ की सेवा का अवसर प्राप्त हुआ है जिसके निर्वहण के लिए में यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा'' [21]

यह समारोह आश्चर्य किन्तु सत्य घटना बनकर लोगों के दिलोदिमाग में एक ऐसी मिठास पैदा कर गया जिसकी अनुभूति कर लोग आज भी सिहर उठते हैं। मुनि ज्ञानसागर जी ने समाधि के निमित्त सल्लेखना ग्रहण कर ली। यह सल्लेखना की प्रक्रिया अनवरत् सात माह तक चलती रही, जिसमें मुनि ज्ञानसागर जी ने एक संघ के सदस्य के रूप में चरित्र का पालन किया तथा आचार्य विद्यासागर जी ने उनकी सल्लेखना काल में अपने श्रेष्ठ आचार्यत्व के गुणों का पालन किया। इस सल्लेखना को जिसने भी देखा उसने यही कहा कि आचार्य शान्तिसागर जी महाराज की सल्लेखना के उपरांत श्रेष्ठ सल्लेखना यदि किसी ने ग्रहण की है तो वह मुनि ज्ञानसागर जी की ही है। इस श्रेष्ठता के हेतु बने आचार्य विद्यासागर। उन्होंने अपने गुरु की सेवा जिन उदात्तभावनाओं से की, वैसा सुयोग शायद कभी बन सके।

(क) परमार्थिक सत्ता का स्वरूप :

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। क्योंकि इस दर्शन की मान्यताऐं अन्य दर्शनों की अपेक्षा कुछ भिन्न हैं, जैन दर्शन की मान्यता है कि सृष्टि को उत्पन्न करने वाला तथा विनाश करने वाला कोई नहीं, क्योंकि वह अनादिनिधन है। इस सृष्टि में रह रहे छहः दृव्यों के अस्तित्व को

चुनौती देने वाला कोई नहीं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छःहों की सत्ता को मिटाया नहीं जा सकता, हाँ इनमें परिवर्तन अवश्य होता है। परिवर्तन होते हुए भी मूलतः उनकी सत्ता ध्रुव (कायम) रहती है। इस दर्शन के अनुसार 'सत्' का लक्षण ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। वस्तु की इस त्रिलक्षणा को कहीं-कहीं आचार्यो ने द्रव्य पर्यायात्मक रूप से भी कहा है। द्रव्य में ध्रुवता तथा पर्याय में उत्पाद व्ययपना गर्भित है। द्रव्य के बिना पर्याय में उत्पाद व्ययपना गर्मित है। द्रव्य के बिना पर्याय नहीं और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं। उत्पाद व्यय पर्याय अर्थात परिण का सूचक है और धौव्य स्थिरता का सूचक है। जैसे कि समुद्र की उत्ताल तरंगें उत्पन्न होती हैं और उसी में समाप्त हो जाती हैं किन्तु समुद्र की ध्रुवता में कोई अन्तर नहीं आता वैसे ही द्रव्य (पदार्थ) में उत्पाद व्यय घटित होते हैं पर मूल द्रव्य ज्यों के त्यों कायम रहते हैं। इस प्रकार सृष्टि का क्रम अनादिकाल से प्रवाहमान है।

जैन दर्शन में ईश्वर या परमात्मा की उपासना का अपना एक अलग ही महत्व है। ईश्वर की आराधना केवल अराधना के लिए नहीं बल्कि उन जैसा बनने के लिए है। भक्त सदा भक्त ही बना रहे। यह इस दर्शन के लिए कदापि मान्य नहीं है। वह भगवान ही क्या, जिसकी भक्ति या आराधना करने से भक्त भगवान नहीं बनता। जैन दर्शन में भगवान बनते है, क्योंकि आत्मा की उस परम विशिष्ट शक्ति में उसका अगाध विश्वास है। आत्मा के स्वभाव में भगवान बनने की शक्ति उसी तरह छिपी है जिस तरह बीज में वृक्ष निहित है। बीज को सिचिंत भूमि में बोकर जब उसकी भली प्रकार से सुरक्षा की जाती है तब वही कालान्तर में वृक्ष का विशाल आकार ग्रहण कर लेता है जिसकी सुखद कल्पना ही मनुष्य को आश्चर्य में डाल देती है। जैन दर्शन के अनुसार यह आत्मा ही परमात्मा है। भक्त को भगवान होने के लिए वही मार्ग अपनाना होता है जो पूर्व में भगवान ने अपने लिए चुना था। अतः यह दर्शन जीव को ईश्वर की गुलामी से छुड़ाकर उसे स्वाबलम्बी बनने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

जैन दर्शन की मान्यता है कि अपनी शक्ति का विश्वास किये बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। इस दर्शन में जिन तीन बातों पर विशेष बल दिया गया है वे हैं दर्शन, ज्ञान और चारित्र। इन तीनों को 'रत्नत्रय' की संज्ञा दी गई है। ये 'रत्न' इस मायने में हैं कि इन तीनों के आधार बिना व्यक्ति परमार्थ की सिद्धि तो क्या लौकिक कार्यों की भी सिद्धि नहीं कर सकता।

'कर्म' में इस दर्शन की गहरी आस्था है। 'कर्म' का फल आज नहीं तो कल निश्चित प्राप्त होगा। श्रमण संस्कृति की यह विशिष्ट देन ही मानी जायेगी जिसके कारण व्यक्ति जीवन में निष्क्रियता को धारण नहीं करता। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल भोगना पड़ता है। यदि किसी व्यक्ति ने अपने जीवन में कडुए कर्म के बीज बोये हैं तो फिर उसे मधुर फल की आशा करना व्यर्थ है। प्रकृति के इस अटल नियम को आज तक कोई चुनौती नहीं दे सका है। यही कारण है कि जैन दर्शन व्यक्ति की कर्म कुशलता में विश्वास करता हुआ उसे शाश्वत् सिद्धि का मार्ग सुझाता है।

'अनेकांत' इस दर्शन का प्राण है।' अनेक अन्ताः धर्मा यस्यासौ अनेकान्तः' जिसमें अनेक अन्त कहिये धर्म पाये जाएं उसे अनेकान्त कहते हैं। जैनाचार्यों ने प्रत्येक वस्तु को अनेकांत मयी कहा है। उसका स्वरूप ऐसा है कि जो वस्तु तत्वस्वरूप है, वही अतत्वस्वरूप है। जो एक है वही अनेक है जो सत् है वही असत् है और जो नित्य है वही अनित्य है। एक ही वस्तु तत्व को प्रतिपादन करने वाला एवं परस्पर शक्तिद्रव्य को प्रकाशित करने वाला यह 'अनेकांत' है।

अनेकांत में दुराग्रह को स्थान नहीं रहता जबकि एकांत में दुराग्रह और दृढ़ रहता है। इस एकांत दुराग्रहपूर्ण ज्ञान रखनेवालों में अंधो के हाथी के एक एक अवयव को ही हाथी मान लेने वालों की तरह परस्पर में अविवेकपूर्ण कलह और संघर्ष होता है। हाथी के एक-एक अवयव को ही हाथी मान लेने से दुराग्रह के कारण जैसे उन अंधों में से किसी को भी हाथी का बोध नहीं होने पाता वैसे ही जीव अजीवादि तत्वों में रहने वाले नित्य अनित्यादि अनेक ग्रंथों का विवेक यदि स्याद्वाद्व दृष्टि से नहीं किया जाता है तो तत्व का यथार्थबोध नहीं होता। और मनुष्य अज्ञानान्धकार में निरन्तर भटकता रहता है। आत्मस्वरूप(धर्म) की प्राप्ति उसे कभी भी नहीं होने पाती।

जैन धर्म में प्रतिपादित अनेकांत दृष्टि जहाँ समाज और व्यक्ति के बीच होने वाले संघर्षो को दूर कर उनमें समन्वयता और स्नेह की भावना उदित करती है वहाँ तत्व निर्णय में वह समस्त एकांत मिथ्या दोषों का एवं विरोधो का परिहार कर दार्शनिक जगत में सत्य का उद्घाटन करती है एवं विवेक के प्रकाश में आत्मा को समुज्जवल पथ का निर्देशन कराती है।

अनेकांत जैन जगत के लिए एक अमूल्य देन है। यह सम्यक्ज्ञान का प्रकाश पुञ्ज है। परमागम का बीज है, विवेक बुद्धि का बल प्रदाता है तथा धर्म की आधार शिला है।

अहिंसा :

अहिंसा जैन धर्म का मूल सिद्वान्त है यों तो अहिंसा का सिद्वान्त प्रायः सभी धर्म अपनाते हैं पर केवल सामाजिक व्यवहार के पालन के लिए । लेकिन जैन सिद्वान्त तो अहिंसा को 'परमोधर्माः अहिंसा' अर्थात् परम् धर्म मानता है। यही कारण है कि जैन सन्तों ने अहिंसा भावना का मूलरूप में चित्रण किया है। आचार्यो का मानना है कि रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है और राग-द्वेष, काम-कोधादि भावों की आत्मा में उत्पत्ति होना ही हिंसा है। जिनागम के अनुसार यही संक्षिप्त अहिंसा की सार सम्बन्धी विवेचना है। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा की स्वभाव च्युति वैभाविक विकार मय परिणति ही हिंसा है और स्वभाव स्थिरता स्वाभाविक परिणमन ही अहिंसा है। आत्मा का यह स्वाभाविक परिणमन ही परब्रह्म परमात्मा स्वरूप है। इस तरह 'जैन सिद्वान्त' हिंसा आत्म परपीड़न

के कारण स्वरूप भावों को ही हिंसा बतलाता है। तथा इन भावों के अभाव में कोई भी आत्मा पूर्ण अहिंसक हो सकता है।अहिंसा की इस साधना के लिए मन,वचन और काय की प्रवृत्ति को सतत् नियमित रखने और सर्वत्र अप्रमाद यत्नाचार वर्तने का विधान किया गया है। क्योंकि प्रमादी पुरूष पहले आत्मा द्वारा आत्मा की हिंसा करता है दूसरे प्राणियों की हिंसा हो या न हो परन्तु सतत् सावधान व्यक्ति जो अपनी आत्मा को रागद्वेषादि विकारों से बचाने में प्रतिक्षण जागरूक है वह यद्यपि लोक स्थिति में वर्तता हुआ जन्तुओं से भरे लोक में द्रव्य हिंसा से बच नहीं सकता है तो भी वह अहिंसक ही हैं।

इस प्रकार अनेकांत और अहिंसा जैन धर्म के ऐसे मौलिक रत्न है जो जीवन में परमात्मतत्व का सतत् प्रकाश विकीर्ण करते रहते हैं।

(ख) जीव :

'जीव' अनेक योनियों में भ्रमण करता है। शास्त्रोक्त दृष्टि से ये योनियां 84 मानी गई हैं। जीव जातियों का विभाजन मुख्य रूप से चार अपेक्षाओं से किया जाता है - गतियों की अपेक्षा, इन्द्रियों की अपेक्षा, प्राणों की अपेक्षा, और काम की अपेक्षा।

(1) गतियों की अपेक्षा से जीव चार प्रकार के होते है- नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव। इनमें से नारक,मनुष्य तथा देव तो एक ही प्रकार के हैं परन्तु तिर्यञ्च गति का विस्तार अधिक है। क्योंकि इसमें पृथ्वी, तेज, वायु, वनस्पति, कीट, पतंग, पशु-पक्षी सभी तिर्यञ्च के अंतर्गत आते हैं। जीवों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म राशियाँ भी इसी के अंतर्गत आती हैं।

(2) इन्द्रियाँ पाँच मानी गई है- स्पर्शन, रसना, ध्राण, नेत्र, कर्ण। पाँचों इन्द्रियों को धारण करने वाले मनुष्य और पशु-पक्षी पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। इनमें से मनुष्य के पास 'मन' रूपी एक छटवीं इन्द्रिय होती है इसीलिए इन्हें 'संज्ञी' कहा जाता है।

(3) प्राण 10 माने गये है। अर्थात अपर्युक्त पाँच इन्द्रियों के अलावा मन, वचन, काय, श्वासोच्छ वास और आयु। इनको धारण करने के कारण जीव प्राणी कहलाते हैं।

(4) काय कहते है शरीर रूप परमाणु-पिण्ड को। इसकी अपेक्षा से जीव दो प्रकार के होते है-स्थावर तथा त्रस। भय का कारण उपस्थित हो जाने पर जो स्वयं अपनी रक्षार्थ भागने दौड़ने के लिए समर्थ नहीं हैं वे स्थावर कहलाते हैं। तथा इस तरह की सामर्थ्य को रखने वाले जीव 'त्रस' कहलाते है।

मानव जीवों में इस समस्त प्रकार के भेदों-उपभेदों में एक मनुष्य ही है जिसे स्थूल रूप में 'जीव' माना जाता है। इसी जीव की खातिर सारे भौतिक और धार्मिक उपक्रमों को संवारा जाता है। यह मानव जीव अनंत योनियों में भटकने के उपरांत मनुष्य योनि को धारण करता है। यह 'मनुष्य' का जीवन

उसे बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है। पर वह इस दुर्लभ जीवन को प्राप्तकर सांसारिक माया-मोह के

बंधनों में फँसकर अपने आपको भूल जाता है। उसे जिस 'मैं' की पहचान के लिए अपना पुरूषार्थ करना चाहिए था। उसे वह विस्मृत कर देता है। मैं कौन हूँ,? कहाँ से आया हूँ? क्या करना है? और फिर कहाँ जाना है? इन प्रश्नों के नजदीक आते आते उसका जीवन चुक जाता है। पर 'जैन दर्शन' उसे सचेत करता है। उसे जीवन का शाश्वत् बोध प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। उसके 'ज्ञानचक्षु-खुल जाते हैं। वह परम सौभाग्य से वीतरागी प्रभु की शरण में पहुँच जाता है, उसका सारा भ्रम एक बार ही टूट जाता है। उसे अपने आप पर हँसी आती है कि मैं अब तक कितना भटका? उसे आभास होने लगता है कि भ्रम की अज्ञात शक्ति मेरे पीछे पड़ी थी जिसके कारण में अब तक प्रभू की शरण में नहीं आ सका। गुरू के प्रसाद से भ्रम दूर हो गया और उस परम् सत्ता का आभास हो गया जो मेरे अत्यंत निकट है पर जिसे में बाहर-बाहर खोजने में लगा हुआ था।

उस परमतत्व का नाम 'मैं' है। इसी को आगम की भाषा में आत्मा कहते हैं। जितना छोटा शब्द उतना ही महान तत्व। यह आत्मतत्व वास्तव में ज्ञानप्रमाण है। 'ज्ञान' अर्थात चिरज्योति ही उसका स्वरूप है। इसीलिए ज्ञानीजन उसे 'चिन्मात्र' कहते है। यह एक प्रकार का आलोक है जिसकी उपासना में सभी रत हैं। जो इसे जानना चाहता है वह जान लेता है। यह वह महातत्व है जो एक कोनें में सबकुछ समेट लेता है। इसका बखान शब्दों में कर पाना संभव नहीं है। केवल स्वानुभव एवं रसास्वादन स्वरूप है। ज्ञानीजन इसे सच्चिदानन्द, भगवान आत्मा मानते हैं। ज्ञान, दर्शन, वैराग्य, समता, सुख, शांति, वीर्य आदि अनन्त ऐश्वर्य का नित्य उपभोग करते रहने के कारण भगवान है वह स्वयं मेरा निजस्वरूप होने के कारण आत्मा।

''उत्तम गुणाणधामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाणं परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो।''[22]

भले ही साधारण जनों को समझाने के लिए 'जीव' नाम से कहा गया हो यह, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो सर्वगुणों का धाम यह महातत्व सर्वद्रव्यों में उत्तम द्रव्य है और सर्वतत्वों में उत्तम तत्व है।

यह जीव अनादिकाल से शांति की खोज में भटकता रहा है, वह शांति के लिए जिस जिस का सम्पर्क प्राप्त करता आया है उसे शांति के स्थान पर अशांति ही मिली है। वह सोचता है बड़ी विचित्र बात है कि पुरूषार्थ करूँ शांति का और मिलती है अशांति। पर जहाँ चाह हुआ करती है वहाँ राह मिल ही जाती है। अन्तत: वह शांति के भण्डार वीतरागी गुरू की शरण में पहुँच जाता है। गुरूवर उपदेश देते है कि हे जीव! तू चेतन स्वरूप में आकर इसे खोज, विषय वासनाओं और भोगों में शांति की खोज करना

व्यर्थ है। तुझे भोगों में शांति का भ्रम भले ही होने लगे, पर भोग तो शांति की जगह अशांति को भड़का देते है। फिर इसके लिए तुझे भटकने की आवश्यकता नहीं है। तू तो स्वयं ही शांति का मन्दिर है शांति तेरा स्वभाव है। तुझे अपने पुरूषार्थ को किसी अन्य पदार्थ के उपयोग से हटाकर चेतन को जाग्रत करने में लगाने से शांति मिलेगी जहां कि उसका वास है। अर्थात निज स्वभाव में एकाग्र होना ही शांति प्राप्ति के प्रति स्वाभाविक पुरूषार्थ है। इसी के लिए 'जीव' को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(ग) जगत :

यह 'जगत' अनित्य और नश्वर है। इसके पीछे भागना मानव की मूर्खता है। संसार के सारे बन्धन व्यर्थ हैं। मोह माया के जाल में फँसकर मनुष्य अपने जीवन को व्यर्थ ही गंवा देता है। इस असार संसार की अनित्यता का बोध जब तक इस मानव को नहीं होता तब तक वह इस संसार में भटकता रहता है। शांति की खोज करते-करते वह इस भ्रम में जीने लगता है कि माया ही उसे शांति की अनुभूति करा सकती है। विषय वासनाओं में ही उसे सच्चे सुख और शांति की प्राप्ति हो सकेगी। यह भ्रम उसका जब टूटता है तब कहीं जाकर चेतन तत्व जाग्रत होता है, वह फिर सच्चे सुख और शांति की खोज में निकल पड़ता है अपने लक्ष्य को पाने के लिए। यह लक्ष्य ही उसके जीवन का वास्तविक गंतव्य है।

मनुष्य जीवन का समग्र अनुभव एक ही तथ्य को स्वीकृत करता है कि सांसारिक भोग विलास और उनके प्रति उत्पन्न राग मनुष्य जीवन की अन्तिम फलश्रुति नहीं है। क्योंकि मनुष्य को इनके द्वारा स्थायी आनन्द की प्राप्ति नहीं हो पाती। कोई मनुष्य चाहे कितना ही वैभवशाली क्यों न हो, उसे कभी न कभी अपने जीवन में उत्पन्न होती हुई रिक्तता का बोध अवश्य होता है। वह ऐसे अभाव का अनुभव करता है जिसकी पूर्ति भौतिक उपायों के द्वारा कदापि संभव नहीं है। यह अभाव उसके आनंद और वैभव को अर्थहीन बना देता है, उसकी समस्त उपलब्धियाँ मूल्यहीन हो जाती हैं। ऐसे समय में अशांति का वातावरण उसके तन मन को मथता चला जाता है। उसे सारा संसार सूना-सूना भाषित होने लगता है क्योंकि ''अशांत वातावरणे कुतः सुखम्।'' इस अशांति से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय है 'आध्यात्मिक साधना।' अनादिकालीन कर्म सन्तति के कुसंस्कार से संस्कारित, कषाय कालिमा से कलंकित,, रागानुरंजित संसारी आत्मा स्वभावभान के अभाव में आत्मसाधना को क्लिष्ट मानता है। आचार्यों ने आत्मसाधना को सरल करने के लिए 'भक्ति मार्ग' का उपदेश दिया है। तीर्थंकर भगवन्तों ने तथा प्राचीन संत महन्तों ने अध्यात्म की दिशा में बढ़ने वाले अनेक मार्गों का अन्वेषण और अनुसरण किया। उनके असाधारण परिश्रम के कारण अन्ततोगत्वा उन्हें यह अनुभूति भी हुई कि वे सभी मार्ग सनातन सत्य हैं, क्योंकि वे सभी मार्ग एक ही गन्तव्य पर (आत्म साक्षात्कार) पहुँचाते हैं।

कतिपय मार्ग (जैसे ज्ञानयोगादिक) सर्वसाधारण जनों के लिए कठिन हैं, विशेष पुरुषार्थी व्यक्ति ही उन मार्गों का अवलम्बन ले सकते हैं। इस अपेक्षा से भक्ति मार्ग अत्यंत सरल है। भक्ति के

मार्ग पर वे व्यक्ति आसानी से चल सकते हैं जिनमें विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करने की क्षमता न हो, जिनमें संकटापन्न स्थिति में मस्तिष्क पर विवेक का सन्तुलन बनाये रखने की शक्ति न हो, जिनमें स्थैर्यत्व, धैर्यत्व तथा प्रबल पुरुषार्थ करने का बल न हो, उस व्यक्ति को उपर्युक्त गुणों की प्राप्ति के लिए भक्ति मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिससे की उसकी आध्यात्मिक साधना निरापद भाव से पूरी हो सके।

जैनाचार्यों के अनुसार भक्ति निष्काम कर्म है। भक्ति का फल भावों की विशुद्धि और पापों का नाश है। कर्मबन्ध में कारणभूत इन्द्रियां व मन भक्ति के ही प्रभाव से अन्तस् से तन्मय हो जाते हैं। वही तन्मयता आत्मा को चिन्मयत्व की प्राप्ति में निमित्त बन जाती है। यही कारण है कि जैनाचार्य भक्ति को मुक्ति मानते हैं। आचार्य पदमनन्दि स्वामी ने लिखा है-

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये।।''[23]

अर्थात जो भव्य प्राणी उर में भक्ति को धारण कर जिनेन्द्र भगवान की पूजा, दर्शन और स्तुति करते हैं वे त्रैलोक्य में स्वतः दर्शन-पूजन व स्तुति के योग्य हो जाते हैं।

फिर 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए जितने आगम वर्णित साधन हैं उन सबमें भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस असाधारण साधन के द्वारा समस्त पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। भक्ति के कारण ही ज्ञानशक्ति बढ़ती है। जिस प्रकार कागज पर सरकारी मुद्रा लगने से वह कागज 'नोट' कहलाने लगता है तथा मूल्यवान हो जाता है उसी तरह ज्ञान पर भक्ति की मोहर लगने से ज्ञान सम्यक् ज्ञान बन जाता है ऐसा ज्ञान ही 'मोक्ष' का कारण बनता है।

कुल मिलाकर यहाँ पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि 'भक्ति' मन की उर्वरा भूमि में उपजा हुआ सुन्दर पुष्प है। भक्ति मन की स्वथ्यता का नाम है, भक्ति सुन्दर जीवन की आधारशिला है, भक्ति जीवन का संगीत है। भक्ति आध्यात्मिक जीवन का प्रथम चरण है। भक्ति की शक्ति से ही भक्त एक दिन भगवान बनता है। अतएव आत्म कल्याण की कामना से इच्छुक जीव रुपी नदी को भक्ति रुपी सागर के आँचल में अपने अस्तित्व को विलीन कर देना चाहिए तभी मुक्ति संभव है।

(घ) विरोध स्वरुप :

आचार्य विद्यासागर के साहित्य में दर्शन की मीमांसा विस्तार से की गई है। वेद, उपनिषद्, गीता, चार्वाक, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत दर्शन की जो मान्यताऐं हैं उनसे अपेक्षाकृत कुछ भिन्न मीमांसा आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने जैन दर्शन के अंतर्गत की है। यहाँ पर सर्वप्रथम मैं उपर्युक्त सभी दर्शनों के बारे में उनके मूल सिद्धांतों की चर्चा करुँगी तत्पश्चात् आचार्य विद्यासागर द्वारा प्रतिपादित 'जैनदर्शन' के बारे में अपने विचार रखँगी जिससे कि यह स्पष्ट हो सके कि

आचार्य श्री की जैन दर्शन के सम्बन्ध में क्या धारणा रही है?

वेद दर्शनः

1. वेद नित्य हैं अर्थात सृष्टि से पूर्व भी विद्यमान थे। वे स्वयंभूत, स्वयंप्रकाश और स्वयंप्रमाण हैं।
2. जीवात्मा और परमात्मा की एकता से ही परम श्रेय की उपलब्धि हो सकती है।
3. इस जगत का नियंता और अधिष्ठाता चेतन सत्ता है। उस चेतन सत्ता का नाम देवता है।
4. वेद बहुदेववाद में विश्वास रखते हैं तथा मनुष्य के कर्मों का फल प्रदान करने वाला देवता है।
5. प्रत्येक जीव अपने कर्म के आधार पर ही उनके फलोपयोग हेतु पुनर्जन्म लेता है।

उपनिषद् दर्शन :

1. आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत् और पुरातन है।
2. ब्रह्म का स्वरुप विज्ञानमय और आनंदमय है।
3. ब्रह्म की उपासना से विशुद्ध मोक्ष और कार्य रुप जगत की उपासना से मोक्ष रुप फल मिलता है।

गीता दर्शन :

1. कर्मयोग से ही मोक्ष प्राप्ति संभव है।
2. ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति और प्रलय का कारण है।
3. भक्ति, कर्म, उपासना व ज्ञान, ये चार मोक्ष के साधन हैं।

चार्वाक दर्शन :

1. परलोक और मोक्ष, सब मन की भ्रान्तियाँ हैं, मृत्यु ही मोक्ष है।
2. देह आत्मा से भिन्न नहीं है।
3. सृष्टि के समस्त कार्य व्यापारों में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है।
4. ईश्वर मोक्ष का प्रदाता नहीं है।

बौद्ध दर्शन :

1. जीवन के चार अनिवार्य सत्य हैं- दुःख, दुःख का कारण, दुःख का अंत, दुःखों के अंत का उपाय।
2. प्रत्येक वस्तु की सत्ता क्षण भंगुर होती है।
3. पुनर्जन्म का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से है।

न्याय दर्शन :

1. आत्मा निराकार, देशकाल के बंधनों से मुक्त व सीमातीत है।
2. ईश्वर अशरीर है किन्तु वह सर्वज्ञ, शक्तिमान और अनंतज्ञान का भण्डार है।

वैशेषिक दर्शन :

1. पदार्थों का सम्यक् ज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सांख्य दर्शन :

1. ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता नहीं है।
2. जगत का अपादान कारण ईश्वर नहीं प्रकृति है।

योग दर्शनः

1. दुःखमय संसार में जीवात्मा के मोक्ष का एक मात्र उपाय योग है।
2. ईश्वर नित्य, अद्वितीय और त्रिकालातीत है।

मीमांसा दर्शन :

1. सृष्टि अनादि व अनंत काल से अस्तित्व में है।
2. ईश्वर के सम्बन्ध में मीमांसक मौन हैं। वे ईश्वर के न तो समर्थक हैं, न विरोधी।

वेदांत दर्शन :

1. जगत का उपादान कारण अज्ञान है।
2. ब्रह्म अद्वितीय है, अर्थात वह सजातीय-विजातीय भेद से रहित है।

जैन दर्शन :

1. जैन दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। ''आचार में अहिंसा विचार में अनेकांत वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह, जैन दर्शन के ये चार महान् स्तम्भ हैं जिन पर जैन दर्शन का महाप्रसाद खड़ा है।''
2. जैन-दर्शन एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन है। यह केवल कमनीय कल्पनाओं के आकाश में विचरण नहीं करता, वरन् उन विमल विचारों को जीवन के प्रत्येक व्यवहार में प्रतिफलित भी करता है।
3. जैन दर्शनाचार्यों के अनुसार संसार की समस्त वस्तुओं में स्थिरता और विनाश दोनों का आवास रहता है। कोई भी वस्तु न तो सर्वदा नित्य कही जा सकती है और न सर्वथा अनित्य ही। सभी में नित्य और अनित्य दोनों की सत्ता विद्यमान रहती है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा शक्ति की अपेक्षा परमात्मा के समान है। परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है। कर्मबद्ध आत्मा कहलाता है और कर्ममुक्त परमात्मा। रहस्यवाद की प्रक्रिया में आत्मा स्वानुभूति के द्वारा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नौ कर्मों का विनाश कर परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है''[24] जैनों का परमात्मा न तो अद्वैत है न सृष्टिकर्त्ता।''[25] परमात्मा बनने की प्रक्रिया साधना मार्ग है। आत्मानुभूति अलौकिक होती है, इसकी तुलना संसार की किसी वस्तु से नही की जा सकती। जैन दर्शन में रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) को साधना मार्ग कहा गया है।''[26] आत्मा की पर पदार्थों में भिन्नता की प्रतीति को सम्यक्दर्शनर्थ''[27] आत्मा के विशुद्ध रुप का ज्ञान सम्यक् ज्ञान''[28] और आत्मस्वरुप में रमण करना सम्यक् चारित्र है। (वही, ढाल-3,2) साधनामार्ग पर आरुढ़

साधक निर्विकल्प समाधि में निमग्न होकर सभी कर्मबंधन को काटकर परमात्मा बन जाता है, जहाँ वह अतीन्द्रिय अलौकिक सुख का अनन्तकाल तक भोग करता है। वह पुनः संसार में लौटकर नहीं आता, न ही सृष्टि की रचना, उसका पालन, संहार आदि ही करता है।''[30]

आचार्य श्री विद्यासागर स्वयं अध्यात्म रस के रसिक हैं। अतः उनके सभी हिन्दी काव्यों में उनकी उदात्त आध्यात्मिक चेतना प्रकृति के विभिन्न उपादानों के माध्यम से अत्यंत सरस रुप में प्रस्फुटित हुई है। उनका सम्पूर्ण काव्य आदि से अंत तक रहस्यवाद से ओत-प्रोत है। उनके हिन्दी काव्य संकलन 'चेतना के गहराव में', 'डूबो मत लगाओ डुबकी', 'तोता क्यों रोता?', 'नर्मदा का नरम कंकर' तथा महाकाव्य 'मूकमाटी' आदि सभी में भिन्न-भिन्न प्रतीकों के माध्यम से कर्मबद्ध परतंत्र जीवात्मा की व्यथा और गुरु उपदेश से सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र प्राप्त कर कर्मों के बंधन से मुक्त होकर असीम और अलौकिक आत्मसुख के सागर में गोते लगाने का संदेश मिलता है।

(ड.) उदात्त चेतना के अन्तःस्वर एवं समसामयिक संदर्भ :

आचार्य विद्यासागर की उदात्त चेतना का अन्तःस्वर उनके रचनात्मक कृतित्व में सर्वत्र देखने को मिलता है। आचार्य श्री के प्रवचन तो मानो 'ज्ञान राशि के संचित कोश हैं' उनमें हमें जीवन का यथार्थ, सृष्टि का सार, जीवन का सौंदर्य, मानवता का मर्म, मनुष्य की महिमा और गरिमा, संस्कृति का स्वरुप, सम्यता का सौंदर्य, मर्यादाओं की थाती, मुक्ति की प्रेरणा, तप और संयम का उत्कर्ष तथा जागरण का शंखनाद सुनाई देता है। उनकी 'मूकमाटी' काव्य, दर्शन और अध्यात्म की अन्यतम् उपलब्धि ही मानी जायेगी। 'मूकमाटी' ने साहित्य जगत में सर्वाधिक हलचल पैदा की है। आज यह कृति साहित्य जगत में उस स्थान की अधिकारिणी मानी जाने लगी है जहाँ कभी प्रसाद की कामायनी, दिनकर की उर्वशी और पंत का लोकायतन हुआ था। इसलिए कि इसमें महाकाव्य की सम्पूर्ण विशेषताऐं होने के साथ-साथ आधुनिक युग की उन मूलभूत समस्याओं का भी उचित समाधान प्रस्तुत किया गया है जो कृति के कालजयी होने के लिए आवश्यक है।

आचार्य श्री ने आत्मदर्शन और काव्यानुभूतियों का अनुपम उपहार साहित्य जगत को 'नर्मदा का नरम कंकर' के रुप में प्रदान किया है। इस कृति में कवि का ऐसा मानना है कि आत्मदर्शन के लिए आत्मदोष दर्शन जीवन की सबसे बड़ी कसौटी है। यह आत्म परीक्षण बड़ा कठिन है। परन्तु मुक्तिपथ का पथिक इस परीक्षण की अनुभूति से वीतरागी आत्मा को अनुभूत कर लेता है। कवि इसी आत्मा को परमात्मा बनने के लिए कृति के माध्यम से सम्बोधन देता है।

ऐसा माना गया है कि एक 'संत' जब कविता के रुप में अपनी आत्मानुभूति को प्रकट करता है तब उसकी वाणी को हृदयंगम करने में अधिक सरलता की अनुभूति होती है। यह बात आचार्य श्री

के 'तोता क्यों रोता?' की कविताओं में स्पष्ट रुप से देखी जा सकती है। यों तो कविता के लिए वैसे भी ब्रह्मानन्द सहोदर' माना गया है। इस दृष्टि से यदि विचार करें तो यह कहना काफी उपयुक्त होगा कि जहाँ आचार्य श्री अध्यात्म-काव्य के द्वारा ब्रह्मानन्द की स्वयं अनुभूति करते हैं वहीं वे जन-जन को भी उसका आस्वादन करा रहे हैं।

अतल गहराईयों की अतीन्द्रिय अनुभूति आचार्य श्री के 'चेतना के गहराव में' काव्य संग्रह में देखने को मिलती है। साहित्यकारों का ऐसा मानना है कि उत्तम साहित्य वही है जो मानव को हित की ओर उन्मुख करे। उसके जीवन का परिमार्जन करे। उसे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाये। असत्य से सत्य की ओर मोड़े। मृत्यु से भयमुक्त कर मृत्युंजयी बना दे और फिर मानवता के भीरर सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, करूणा और ममता के भाव तरंगायित हो उठें। यदि सही मायने में देखा जाए तो साहित्य का यही रूप धर्म साधना से भी निखरता है। 'धर्म' का सही अर्थ भी व्यक्ति को बाहय प्रदूषण से मुक्त कर आत्मा के पवित्र पर्यावरण में ले जाता है। इस व्याख्या से यह बात स्वमेव ही स्पष्ट हो जाती है कि धर्म और साहित्य परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। तत्सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आचार्य श्री का धर्म चिंतन ही उनकी काव्य-चेतना बन गई है, जिसने सांसारिक प्राणियों को उत्तम काव्य-रस की संजीवनी पिलाकर जीवनदान दिया है।

भक्तिरस में डूब जाने की ललक आचार्य श्री के 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' काव्य-संग्रह में देखने को मिलती है। यह कृति कवि के अन्त:करण की सोच और स्वानुभूति का प्रतिबिम्ब है जिसमें कवि सांसारिक सुखों में डुबकी लगाने की बात तो करता है पर उसमें डूब जाने की मनाही करता है। हम संसार में रहें, पर संसार हमारे अंदर न रहे। गृहस्थ-जीवन को जियें पर उसमें आसक्त न होंये। आसक्ति ही हमारे दु:खों को निर्मंत्रित करती है विरक्ति हमें दु:खों से निजात दिलाती है। आवश्यकता है अपने आचरण को निर्मल बनाने की, उस पर चारित्र्य का रंग चढ़ाने की, फिर तो सभी विकार अपने आप ही झड़ने लगेंगे।

आचार्य विद्यासागर जी महाराज का सृजनात्मक अवदान उनकी अन्तश्चेतना के उदात्त स्वरूप को भाषित करता है। वह समसामयिक जीवन के विविध संदर्भों को लेकर चलने के कारण एकदम प्रासंगिक और उपयोगी है। हम उनके साहित्य के द्वारा अपने जीवन को सुपथ पर ले जाकर अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

2. जीवनबोध :

प्रेरणा से पथ प्रशस्त होता है। जीवन का लक्ष्य और गंतव्य मिल जाता है। प्रेरणा का प्रभाव इतना प्रभावकारी होता है कि जीवन की दिशा और दशा ही बदल जाती है। विद्याधर बचपन में ही मुनियों

को देखकर अतीव प्रसन्नता की अनुभूति करते थे। उनके प्रवचनों को सुनकर उनके जीवन में परिवर्तन की सुगबुगाहट होने लगती थी। साधुओं की चर्या को देखकर उनके जीवन में अनुशासन की दृढ़ता कायम होने लगी थी। वे धीरे-धीरे सांसारिक असारता का अनुभव करने लगे थे। वैराग्य की भावना ने उनके अदर प्रवेश कर एक विचित्र तरह की छटपटाहट उनके अन्तर्मन में पैदा कर दी थी। वे धीरे-धीरे ईश्वर की सत्ता को सर्वोपरि मानने लगे थे। वे इस बात को अच्छी तरह से जान चुके थे कि 'प्रभु' से मिलने में सबसे बड़ी बाधा यदि कोई उत्पन्न करने बला है तो वह है 'अहंकार'। 'अहंकार' का विसर्जन किये बगैर प्रभु से मिल पाना संभव नहीं, है। उनका मानना था कि जिस तरह नदियाँ अपने अस्तित्व को मिटाकर सागर से मिल जाती हैं उसी प्रकार भक्त भी अपने 'अंह' को गलाकर 'प्रभु' से साक्षात्कार कर सकता है।

सोलह वर्ष की अवस्था में विद्याधर के अन्त:करण में धार्मिक भावनाओं ने अपना सुन्दर वेश धारण कर स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया था। उनके आध्यात्मिक ज्ञान की परिपक्वता लोगों को आश्चर्य चकित करने लगी थी। मुनियों के प्रति तीव्र आकर्षण की भावना उस समय देखी जा सकती थी जब वह पास के गांवों में मुनियों के आगमन की सूचना सुनकर बिना बताये दौड़े चले जाते थे। उनका ह्दय पंख लगाकर वैराग्य की दुनियाँ में क्षितिज को छूने के लिए ललचाने लगा था। अब वे संयोग की प्रतीक्षा कर रहे थे। और फिर क्या? जहाँ चाह वहाँ राह अर्थात् विद्याधर को आचार्य देश भूषण जी का आशीर्वाद मिल ही गया। वे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने के लिए दृढ़ संकल्पित हो गये। आचार्य श्री ने उदारतापूर्वक आशीर्वाद दे दिया। विद्याधर को जीवन की दिशा मिल गई। वे अपने लक्ष्य की ओर क्रमशः बढ़ते ही गये। स्नेह, प्रेम के बंधन टूटने में बाधाऐं अवश्य उत्पन्न हुई पर वे अडिग रहे। उन्होंने अत्यंत विनम्रतापूर्वक अपने ज्येष्ठ भ्राता महावीर प्रसाद जी से कहा-''मुझे संसार से निकलने दो, मैं मुक्ति के लिए छटपटा रहा हूँ। भला दूध से निकला मक्खन पुनः दूध में समरस कब हुआ है?'' यह कथन विद्याधर का उस समय का है जब परिजनों ने उन्हें घर लौट चलने के अपने सम्बन्धों का वास्ता दिया था। लेकिन सब व्यर्थ क्योंकि विद्याधर का 'जीवन-बोध' जाग्रत हो चुका था। फिर अन्तर्मन में वैराग्य की भावना उत्पन्न हो जाने पर सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति अपने आप समाप्त हो जाती है। विद्याधर का 'जीवन-बोध' जाग्रत हो चुका था। फिर अन्तर्मन में वैराग्य की भावना उत्पन्न हो जाने पर सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति अपने आप समाप्त हो जाती है। विद्याधर ने संसार की समस्त सुख-सुविधाओं का परित्याग कर अध्यात्म को अंगीकार किया। कारण यह था कि उन्होंने सांसारिक असारता, जीवन के वास्तविक रहस्य और साधना के महत्व को भली प्रकार से जान लिया था। विद्याधर की निष्ठा, दृढ़ता, संकल्प और अड़िगता के सामाने सभी ने घुटने टेक दिये।

दिगम्बर वेशधारण करना यद्यपि कठिन कार्य है पर विद्याधर ने इस पथ पर सारी कठिनाईयों का अनुभव ब्रह्मचारी अवस्था में ही कर लिया था। परिस्थितियों और संयोग ने विद्याधर को मुनि ज्ञानसागर जी के पास अजमेर पहुँचा दिया। कुनि ज्ञानसागर ने एक कुशल जैहरी की तरह विधाधर रूपी हीरे की

परख अल्प समय में ही कर ली। उन्हें लगा कि विद्यासागर अत्यंत निष्ठावान, अध्यवसायी, ज्ञान-पिपासु, प्रखरबुद्धि से युक्त तथा प्रतिभाशाली हैं उसकी चर्या और साधना में भी कोई कमी नहीं है। मुनि ज्ञानसागर ने अपने सुशिष्य को नाना रूपों में परख लिया लिहाजा गुरूवर ज्ञानसागर ने ब्रह्मचर्य विद्याधर को मुनि दीक्षा देने का सुनिश्चय कर लिया। और फिर वह मंगलबेला भी आई 30 जून की जिस दिन विद्याधर मुनि विद्यासागर बन गये। भटकन पर विराम लग गया। जीवन का वह सुनिश्चित सत्य जिसके 'बोध' की अनुभूति बिरलों को ही हुआ करती है। पर जिसे हो जाती है वह मुक्तिपथ का अनुगामी बन जाता है।

ज्ञानपिपासा :

आचार्य ज्ञानसागर के मुनिदीक्षा ग्रहण करने के उपरांत 'विद्यासागर' सच्चे अर्थो में -विद्यासागर' बनना चाहते थे। उनका ऐसा विचार था कि मुनि के लिए हरदृष्टि से परिपूर्ण होना चाहिए अर्थात विद्या, ज्ञान और आचरण की दृष्टि से वह पारंगत हो। विद्वता उसके रोम-रोम से टपकती हो। वह शास्त्रों की रग-रग से वाकिफ हो। इसके लिए एकांत और पर्याप्त समय का होना आवश्यक था। संघ में अनेकों श्रावक आते थे। मुनि ज्ञानसागर और विद्यासागर जी को समय देना ही पड़ता था जिससे अध्ययन में बाध ा उत्पन्न होती थी। लेकिन जब मिलने जुलने और चर्चा का समय औपचारिक रूप से निश्चित हो गया तो अनेक बाधाएं स्वमेव ही दूर हो गई। मुनिज्ञासागर जी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे उन्होंने युवावस्था में बनारस में रहकर संस्कृत का अध्ययन किया था। वहीं से उन्होंने शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। अध्ययन के दौरान उन्हें उस समय जबरदस्त आघात लगा जब किसी विद्वान ने यह कहा कि जैनों के यहाँ कोई तात्विक शास्त्र नहीं हैं। उन्होंने अपने आपको हीनभावना से ग्रसित पाया। तब उन्होंने यह संकल्प किया कि वे इस दिशा में संकल्पभावना से कार्य करेंगे, जिससे विद्वान की उक्त टिप्पणी का सार्थक जबाव दिया जा सके। फिर उन्होंने कठोर परिश्रम और अध्यात्म के एक से बढ़कर एक संस्कृत ग्रन्थों का सृजन किया जिसकी सराहना स्वयं पण्डितों ने भी की है। ज्ञानसागर जी महाराज ने संस्कृत में वीरोदय, दयोदय, भद्रोदय आदि महाकाव्य, चम्पू आदि अनेक काव्यग्रन्थ लिखे जिनमें 'जयोदय' की विद्वानों ने उन्मुक्त कंठ से प्रशंसा की। ऐसे उद्‌भट संस्कृत विद्वान के चरणों में बैठकर मुनि विद्यासागर ने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अष्टसहस्त्री आदि न्याय ग्रन्थों को पढ़ा, तत्पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द के रत्नत्रय, समयसार, प्रवचनसार और नियमसार का अध्ययन किया। इसी क्रम में पंचास्तिकाय को भी पढ़ डाला। इसी दौरान उन्हें आँखों की पीड़ा ने अत्याधिक कष्ट पहुँचाया। 'अक्षिवेक्षा' का प्रभाव सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त था। वे भी उससे अछूते नहीं रह सके, लेकिन इस पीड़ा को बर्दाश्त करने में उन्होंने अपनी अपरिमित सहनशक्ति का परिचय दिया।

मुनिदीक्षा के पश्चात् पहला चातुर्मास सन् 1969 में अजमेर के निकट केसरगंज में सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास में मुनि विद्यासागर धर्मध्यान, चर्या और अध्ययन मनन की दृष्टि से अत्यंत व्यस्त से हो गये थे। प्रवचन का क्रम भी उनका चलने लगा था। वह वृद्ध गुरुवर की सेवा को वे अपने अन्य कार्यों की

अपेक्षा ज्यादा महत्व देते थे। दूर-दूर से लोग आकर गुरुचरणों में भक्भिावना से धर्मलाभ लिया करते थे। इस चातुर्मास में मलप्पा जी भी सपरिवार रहकर धर्मलाभ लिया करते थे। वे सन्तों की समस्त क्रियाओं में अद्योपान्त भग लेकर अपने अन्तर्मन को अन्दर ही अन्दर परिपक्व करने में लगे हुए थे। उनके साथ उनके पुत्रद्वय अनन्तनाथ और शांतिनाथ भी जो उस समय अल्पायु अर्थात बारह, चौदह वर्ष के थे वे भी प्रवचनों के ज्ञानामृत का पान कर वैराग्य के रंग में क्रमशः अपने अपको रंगते जा रहे थे। उन्होंने भी छोटी-छोटी धार्मिक क्रियाओं के साथ-साथ व्रतादि भी करना प्रारंभ कर दिये थे। प्रारंभ में प्रवचन मुनि विद्यासागर कन्नड़ भाषा में ही करते थे जिसे वे दोनों भ्राता भली प्रकार से समझ लेते थे।

केसरगंज चातुर्मास के दौरान मुनि विद्यासागर जी महाराज को ब्रह्मचारी पन्नालाल जी की सल्लेखना के दौरान उनकी सेवा सुश्रषा का अवसर मिला जिसे उन्होंने परम कर्त्तव्य मानकर पूरा किया। ब्रह्मचारी पन्नालाल जी ने अंतिम समय में मुनिदीक्षा ग्रहण की थी। यह परामर्श उन्हें मुनि विद्यासागर जी ने ही दिया था। अशक्त जीवन की पीड़ा से जब शरीर अनवरत् वेदना के दौर से गुजरता था तब मुनि विद्यासागर उन्हें धार्मिक चर्चा के द्वारा उनके कष्टों का शमन कर देते थे। ब्रह्मचारी पन्नालाल जी को गुरुवर ने दीक्षा प्रदान कर उन्हें मुनि 'पवित्रसागर' बना दिया था। उनकी सल्लेखना अवधि के दौरान मुनि विद्यासागर उन्हीं की सेवा में तत्पर बने रहे। उनके साधु जीवन का यह प्रथम अवसर जिसने उन्हें एक ऐसी ऊर्जा प्रदान की थी जो मुनि ब्रत धारण करने के उपरांत उनके जीवन के लिए नानारूपों में लाभकारी साबित हुई।

साधना और सर्जना :

गुरूवर आचार्य ज्ञान सागर जी की सल्लेखना (स्वर्गारोहण) के पश्चात् आचार्य विद्यासागर जी की साधना उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होती गई। आप अपने प्रति वज्र से भी कठोर लेकिन दूसरों के प्रति नवनीत से भी मृदु बने रहने की साधना आपकी अनवरत् चलती रही। आपकी साध ना के आगे परिषह और उपसर्ग हारते चले गये। 'साधना' के मर्म को जानने के कारण आप प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पर्वत की कन्दराओं, ईदगाह के एकांत कोने में, जैन मन्दिर के प्रांगण में ऋतु परवाह किये बिना साधना करते रहते थे।''[31] आपकी साधना 'स्व' को जानने, इन्द्रियों को जीतने और मन को स्थिर करने की साधना बड़ी ही अद्भुत और प्रशंसनीय रही है। श्रम और अनुशासन विनय और संयम, तप और त्याग की अग्नि में तपी आपकी साधना सबके प्रति समता दृष्टि की रही है। सारी सृष्टि में शांति का साम्राज्य हो यही उनकी साधना का सारतत्व रहा है:-

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर।
हरी-भरी दिखती रहे, धरती चारों और ''[32]

अपनी साधना में आपने ऋद्धि- सिद्धि तथा तंत्र-मंत्र को कोई स्थान नहीं दिया। वासना पर विजय, भेद भाव की दृष्टि और बुराईयों से लड़ने की साधना, प्रभु की भक्ति और आराधना, समता और संयम के पालन में आप सदैव तत्पर रहे। आप आत्मसाधना में रत रहकर केवल अपने आपको पहचानने की साधना में ही संलग्न रहें-

> ''रहूँ रमूं निज में सदा, भ्रमूं न पर में भूल।
> चिदानंद का लाभ लूं, पर को सब कुछ भूल ॥''[33]

आपकी यह साधना उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होती गई। आप सदैव मन को स्थिर कर मुक्ति मार्ग के साधना पथ पर आगे बढ़ते रहे। आपकी इसी साधना से प्रभावित होकर युवा पीढ़ी आपकी दीवानी हो उठी। वे आपके विचारों, सिद्वान्तों को अपनाने और जीवन पथ को खोजने में लग गये। आपने अपने समत्व भाव के कारण क्षेत्रीयता के दायरे का परित्याग कर आचरणशील, संयम, साधना, और तप को ही ज्यादा महत्व दिया। मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, कर्नाटक, बिहार, गुजरात, बंगाल, महाराष्ट्र , राजस्थान, पंजाब आदि सम्पूर्ण भारत के साथ ही अफ्रीका (विदेश) में भी आपके शिष्य-शिष्याऐं आपकी दृष्ट्रि के नीचे रहकर आपकी तरह ही श्रम, साधना, तप, घ्यान, नियम-संयम समता पालकर श्रमण संस्कृति (भारतीय संस्कृति) की शोभा बढ़ा रहे है।''[34]

महत्वपूर्ण बात यह है कि आपने उत्तम कोटि की साधना में रत् रहते हुए भी उदात्तकोटि के साहित्य का भी सृजन किया है। ऐसा माना जाता है कि गुरूवर ज्ञानसागर जी महाराज की सल्लेखना के उपरांत आपने उनकी पावन स्मृति में ''आचार्य श्री ज्ञानसागर स्तुति'' की रचना क पश्चात 1973 के चातुर्मास ब्यावर (अजमेर) राजस्थान में ''निजानुभव शतक'' लिखा। सन् 1974 में जब आपका चातुर्मास अजमेर में सोनी जी की नसिया में हुआ उस समय आपने 'श्रमण शतकम्' लिखा। संस्कृत में शतक रूप में यह आपकी पहली रचना थी जो 'आर्याछन्द' में लिखी गई। जिसका पद्यानुवाद 'बसन्ततिलका छंद' में स्वयं आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने किया। इसी चातुर्मास में आपने संस्कृत में 'भावना-शतकम्' प्रारंभ किया जिसका समापन सन् 1975 में अतिशय क्षेत्र महावीर जी के सवाईमाधोपुर (राजस्थान) में हुआ । तथा जिसका पद्यानुवाद बसन्ततिलका छन्द में सन् 1975 में ही स्वयं आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने फिरोजाबाद(उ.प्र.) में किया।

पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी और पं. दरबारीलाल जी कोठिया, न्यायाचार्य, वाराणसी तत्कालीन समय के उद्भट और बहुख्यात विद्वान माने जाते थे। जिस समय आचार्य श्री मदनगंज-किशनगढ़ (अजमेर) में विराजमान् थे उस समय समाज के बहुमान्य सज्जनों ने इन दोनों विद्वानों को आचार्यवर से मिलने के लिए आमंत्रित किया। ये दोनों विद्वान लोकाचार वश आग्रह को अस्वीकार न कर सके और अन्यमनस्क भाव से कुछ समय के लिए वहाँ पधारे जहाँ आचार्य श्री विराजमान थे।

लेकिन जब उन विद्वानों ने आचार्य श्री का पाण्डित्य, चारित्र, सद्भाव, साधना और मुखमण्डल पर संयम और तप का तेज देखा और उनकी तत्वचर्चा सुनी तो उन्हें अपने ज्ञान और मान् का भलीभांति बोध हो गया। उनका भ्रम टूट गया, अहं विगलित हो गया और वे अन्तर्मन से आचार्य श्री के प्रति श्रद्धावनत् हो गये। पं. कैलाशचन्द्र जी ने मथुरा से निकलने वाले 'जैन सन्देश' में अपनी संपादकीय के अंतर्गत लिखा कि-''मैंने इन जैसा किसी मुनि के मुख से उपदेश प्रवचन नहीं सुना। एक-एक वाक्य में वैदुष्य झलकता है। अध्यात्मी कुन्दकुन्द और दार्शनिक समन्तभद्र का समन्वय मैंने इन्हीं के प्रवचनों में सुना है। मैं पंचनमस्कार मंत्र की त्रिकाल जाप करता हूँ और 'णमो लोए सव्व साहूणं'' जपते समय ये मेरे मानस-पटल पर विराजमान रहते हैं। आज के कतिपय साधुओं की स्थिति विडम्बनाओं को देखकर मेरा यह मन बन गया था कि इस काल में सच्चा दिगम्बर जैन साधु होना संभव नहीं है, किंतु जब से आचार्य विद्यासागर जी के दर्शन किये हैं, मेरे उक्त मत में परिवर्तन हो गया है। जिनका मन आज के कतिपय साधुओं की स्थिति से खिन्न होकर 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद से विरक्त हुआ हो, उनसे हमारा निवेदन है कि वे एक बार आचार्य विद्यासागर जी का सत्संग करें। हमें विश्वास है कि उनकी धारणा में निश्चित ही परिवर्तन होगा।''[35]

साधना और सर्जना का अनोखा संगम जहाँ साधना के तेज से अनेक युवा पीढ़ी के बालक आकर्षित हुए वहाँ मोक्षमार्ग के इस पथिक ने अनेक बहिनों को भी आत्मकल्याण की बलवती प्रेरणा प्रदान की। अल्पायु में ही आचार्य पद, कुछ ही समय में अनेक श्रमण दीक्षाऐं पर शर्त ये कि दीक्षार्थी बाल-ब्रह्मचारी हो। वासना का भँवरजाल जिसे लालयित न कर सका हो। ग्रहस्थ जीवन की ग्रन्थियाँ न पाल रखीं हो। स्नेह और मोह के भ्रमजाल जिसे फँसाने के लिए अपना मायाजाल न फैला रहे हों। आचार्य श्री ने ऐसे ही संयम साधकों को दीक्षाऐं प्रदान की। ये साधु बिल्कुल सौ आने खरे। कहीं किसी प्रकार की कोई शिथिलता नहीं इसीलिए आज भी आचार्य श्री का संघ निर्विवाद रूप से साधना और सर्जना के क्षेत्र में शिखर ऊँचाईयों की ओर अग्रसर है। सर्जना के क्षेत्र में आपके 'मूकमाटी' महाकाव्य ने सबसे ज्यादा विद्वानों के लिए बोलने को विवश किया है। आत्मा से परमात्मा बनने की सतत् यात्रा का संदेश 'मूकमाटी' महाकाव्य ने सबसे ज्यादा विद्वानों के लिए बोलने को विवश किया है। आत्मा से परमात्मा बनने की सतत् यात्र संदेश 'मूकमाटी' के द्वारा श्रावकों को दिया गया है। जीवन के शाश्वत् सत्य की अभिव्यक्ति इस महाकाव्य में देखने को मिलती है। अन्यान्य संदर्भो के रूप में जो विषयगत चर्चा इस ग्रन्थ में की गई है वह आत्मसुख प्राप्त करने वालों के लिए संजीवनी का काम करती है। 'मूकमाटी' के अलावा 'शतक संग्रह', अनेक 'काव्य-संग्रहों' के साथ बीसों ग्रन्थों के पधानुवाद तथा जनमानस को कल्याण मार्ग पर ले जाने 'प्रवचन-संग्रह' आपके ही समान साहित्य-जगत में सूर्य-चाँद की तरह प्रकाशवान हैं।

सन् 1980 में आचार्य श्री समत्तमद्रकृत 'स्वयंभू स्त्रोत' का अनुवाद किया। जिसका अभिधान 'समन्तभद्र की भद्रता' नाम से हुआ तथा जिसको पूर्ण सागर में किया गया। इसी दौरान आचार्य श्री की

शैली में एक असाधारण परिवर्तन आया। बात उस समय की है जब एक बार इन्दौर से डॉ0 नेमीचन्द्र जैन दर्शनार्थ आचार्य श्री के पास आये उन्होंने साहित्य संवाद के दौरान आचार्य श्री से अतुकांत कविता लिखने के लिए आग्रह किया जिसे आचार्यवर ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और नूतन विद्या की नवीन कृति के रूप में 'नर्मदा का नरम कंकर' नामक काव्य-संग्रह की रचना प्रारंभ हुई जिसका समापन मुक्तागिरि बैतूल (म. प्र.) के चातुर्मास में सम्पन्न हुआ। सन् 1980 में ही आचार्य गुणभद्र रचित 'आत्मानुशासन' का हिन्दी अनुवाद हुआ जसका नामकरण 'गुणोदय' हुआ। इसका समापन भी मुक्तागिरि में ही हुआ। सन् 1981 में आचार्य समन्तभद्रस्वामीकृत 'रत्नरण्डक-श्रावकाचार' का पद्यानुवाद 'रयण-मंजूषा' के नाम से कुण्डलगिरि (कोनोजी) जबलपुर (म.प्र.) में पूर्ण हुआ। सन् 1981 एवं 82 के चातुर्मास नैनागिरि में सम्पन्न हुए। यही पर सन् 1982 में पात्रकेसरी स्वामी विरचित 'पात्रकेसरी स्तोत्र' का सृजन हुआ। यहीं पर आचार्य श्री ने संस्कृत में 'परीषहजय शतकम्' काव्यग्रंथ लिखना प्रारंभ किया जिसे हिन्दी अनुवाद के साथ पूर्णता सन् 1982 में कुण्डलगिरि (कोनो जी) जबलपुर में मिली। सन् 1983 में आपने सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखर जी के पादमूल ईसुरी (गिरीडीह) बिहार में वर्षावास किया, जहाँ संस्कृत में 'सुनीति-शतकम्' की उपजाति छंद में रचना को पूर्णता प्रदान की जिसका हिन्दी अनुवाद 'ज्ञानोदय छंद' में पूर्ण किया गया। यहीं पर आचार्य समन्तभद्र स्वामीकृत आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) का पद्यानुवाद पूर्ण हुआ तथा कुण्डलगिरि (कोनो जी) में पूर्ण हुए 'डूबो मत लगाओ डुबकी' नामक काव्य-ग्रन्थ का अतुकांत छंद में प्रथम प्रकाशन हुआ। सन् 1984 का चातुर्मास पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर (म.प्र.)में हुआ। इस वर्ष अतुकांत छंद में 'तोता क्यों रोता?' काव्यकृति का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष जबलपुर में दूसरी बार आयोजित चतुर्थ 'षड्खण्डागम' की वाचना आरंभ हुई। इस अवसर पर भगवान मुनिसुव्रतनाथ के दीक्षा कल्याणक दिवस के अवसर पर 25 अप्रैल सन् 1984 को बहुचर्चित कृति 'मूकमाटी' की रचना प्रारंभ हुई जिसका समापन सन् 1987 में नैनागिर (छतरपुर) म.प्र. में आयोजित त्रिगजरथ महोत्सव एवं विश्वशांति महायज्ञ के अवसर पर केवलज्ञान कल्याणक दिवस अर्थात 11 फरवरी 1987 को हुआ। काव्य-रचना के सम्बन्ध में आचार्य की यह विशेषता रही है कि उनका चिंतन स्वतंत्र रहा है। एक बार डॉ. प्रभाकर माचवे ने आपसे पूछा कि ''क्याआपने संस्कृत और हिन्दी आदि भाषाओं के विशिष्ट काव्य अथवा महाकाव्यों का अध्ययन किया है जिससे कि 'मूकमाटी' जैसी श्रेष्ठ कृति को लिखने में आप समर्थ हो सके। तब आचार्य श्री ने सहजभाव से उत्तर दिया कि नहीं मैंने हिन्दी महाकाव्यों का अध्ययन किये बिना ही रचना की है। यही कारण है कि इस वृहत् काव्य में कहीं भी भाषा या भाव का अनुवाद या पुनरावृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रायः कवि या लेखक ऐसा करते हैं कि चलते-फिरते, सोते-जगाते अथवा पढ़ते, विचार करते हुए कोई भाव उद्‌गत हुआ और उसे तत्काल या शीघ्र ही लेखनी बद्ध कर दिया, किन्तु आपने ऐसा कभी नहीं किया। आपके चिंतन का समय अधिकांशतः सामायिक के पश्चात् रात्रिकाल रहता था जिसमें भावसमुद्र लहराता था और वे प्रातः उन भावों को भाषा का रूप दे देते थे।'' 36 मैं अचार्य श्री के जीवन के सम्बन्ध में इस अध्याय के प्रारंभ में ही विस्तार से चर्चा कर चुकी हूँ तथा उनके सृजन के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा अगले अध्यायों में करूँगी। अतः यहाँ पर बस इतना ही।

संदर्भ-सूची

1. विद्या सागर भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ0-67
2. संस्कृत शतक परम्परा और आचार्य विद्यासागर, डॉ0 आशालता मलैया, पृ0- 234
3. तीर्थंकर(पत्रिका) डॉ. नेमीचन्द्र जैन, पृ0-80 सितम्बर- 1978
4. सागर में विद्यासागर (पत्रिका) डॉ0 पन्नालाल जैन, पृ0-2
5. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ0-70
6. श्रमण भारती, आचार्य विद्यासागर, डॉ0 श्रेयांस कुमार जैन, पृ0-136
7. विद्याधर से विद्यासागर, श्री सुरेश सरल, पृ0-56
8. वही, पृ0-62
9. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर पृ0-102
10. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागरः जीवन एवं साहित्यिक अवदान, डॉ. विमलकुमार जैन, पृ0-11
11. वही, पृ0-12
12. वही, पृ0-12
13. एक उगता सूर्य, आचार्य विद्यासागर, नरेन्द्र प्रकाश, 803
14. दोहा-दोहन, आर्चाय विद्यासागर, पृ0-10
15. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागरः जीवन एवं साहित्यिक अवदान, डॉ. विमल कुमार जैन, पृ0-13, 14
16. जैन गजट, साप्ताहिक, 25/3/1965
17. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागरः जीवन एवं साहित्यिक अवदान, पृ0-19
18. वही, पृ0-30
19. वही, पृ0-32
20. वही, पृ0-32
21. वही, पृ0-32
22. शांतिपथ प्रदर्शन, जिनेन्द्रवर्णी, पृ0-48
23. पंचविंशतिकाः 6/14
24. परमात्मप्रकाश, पृ0-89, दोहा-2, 3
25. जैन धर्म, पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, पृ0-111
26. तत्वार्थसूत्र, उमास्वामी, 1.1
27. छःहढाला, दौलतराम, ढाल-3,2
28. वही, ढाल-3, 2

29. वही, ढाल-3,2
30. रत्नकरण्डश्रावकाचार, संमतभद्र, पृ0- 133
31. विद्याधर से विद्यासागर, सुरेश सरल, पृ0-89
32. दोहा-दोहन, आचार्य विद्यासागर, पृ0-22
33. वही, पृ0-23
34. आचार्य विद्यासागर, संघ परिचय- मुनि समाधि सागर, पृ0-5
35. तीर्थंकर (मासिक) आचार्य श्री विद्यासागर एवं नैनागिर विशेषांक (वर्ष-18, अंक 7-8) नबम्बर-दिसम्बर, 1978
36. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागर' जीवन एवं साहित्यिक उवदान, डॉ0 विमलकुमार जैन, पृ0-43
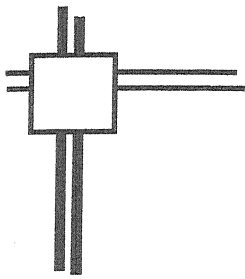
अध्याय-दो

आचार्य प्रवर का महाकाव्य-'मूकमाटी'

- पाश्चात्य और पौर्वात्य जगत में महाकाव्य के शास्त्रीय प्रतिमान
- आधुनिक हिन्दी महाकाव्य-परम्परा की 'त्रयी'- 'कामायनी,' 'उर्वशी' तथा 'लोकायतन' की श्रृंखला में 'मूकमाटी' : स्वरूप तथा प्रतिपाद्य
- मूकमाटी का जीवन दर्शन और अध्यात्म।
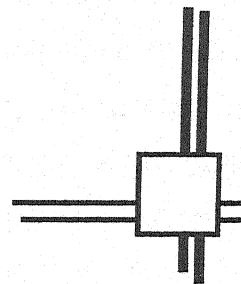
पाश्चात्य और पौर्वात्य जगत में महाकाव्य के शास्त्रीय प्रतिमान

आचार्य विद्यासागर का 'मूकमाटी' महाकाव्य 20 वीं सदी का बहुचर्चित महाकाव्य है। इसमें महाकाव्य के सब लक्षण मौजूद हैं जो कि एक श्रेष्ठ महाकाव्य के लिए आवश्यक माने गये हैं। यहाँ पर महाकाव्य के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन करने के पूर्व 'महाकाव्य' के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य अवधारणा क्या रही है? तत्सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करेंगे जिससे कि 'मूकमाटी' की महाकाव्य की दृष्टि से सम्यक् विवेचना हो सके।

पाँचवी शताब्दी में अलंकारशास्त्र के प्रणेता आचार्य 'भामह' ने कहा था कि ''लम्बे कथानक वाला, महान चरित्रों पर आधारित, नाटकीय पंचसंधियों से युक्त, उत्कृष्ट और अलंकृत शैली में लिखित तथा जीवन के विविध रूपों और कार्यों का वर्णन करने वाला सर्गबद्ध सुखान्त काव्य ही महाकाव्य है।''[1] छठी शताब्दी में 'दण्डी' ने महाकाव्य के स्थूल और बाह्य दोनों ही तरह के लक्षणों की बात करते हुए कहा कि– ''महाकाव्य वह है जिसका कथानक इतिहास या कथा से उद्‌भूत हो, जिसका नायक चतुर और उदात्त हो, जिसका उद्देश्य चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति हो, जो अलंकृत, भावों और रसों से भरा हुआ और बड़े आकार का, सर्गबद्ध और पंचसंधियों से युक्त हो।''[2] दण्डी की यह परिभाषा ही आगे चलकर अधिक विकसित हुई और हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ ने इसी में कुछ बातें और जोड़कर महाकाव्य के लक्षण बनाये। उन्होंने कहा–''पद्यं प्रायः संस्कृत प्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषा निबद्ध भिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्ध कबन्धं सत्संधिशब्दार्थ वैचित्र्योहं महाकाव्यं।''[3] फिर भी उनकी परिभाषा दण्डी से अधिक भिन्न नहीं है, उनकी परिभाषा में नवीनता इतनी ही है कि उन्होंने लक्षणों को शब्दवैचित्र्य और अर्थवैचित्र्य और उभयवैचिम्य में रसानुरूप संदर्भ, अर्थानुरूप छंद, समस्त लोकरंजकता आदि होना आवश्यक माना है।'' आचार्य विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का समाहार करके विशेष रूप से दण्डी की परिभाषा के आधार पर अपने लक्ष्य निर्धारित किये हैं। उनके आदर्श ग्रन्थ माघ, भारवि और श्रीहर्ष के महाकाव्य हैं। इसलिए उन्होंने अपनी परिभाषा में महाकाव्य के बाह्य या स्थायी लक्षणों का ही अधिक निर्देशन किया है, उसके मूल तत्वों पर आधारित स्थायी लक्षणों का नहीं। उन्होंने यह शर्त भी लगा दी कि महाकाव्य का नायक कुलीन, क्षत्रीय या देवता होना चाहिए ओर महाकाव्य में आठ या आठ से अधिक सर्ग होना चाहिए।''[4] सातवीं शताब्दी में महाकाव्य के सम्बन्ध में रूद्रट ने जो परिभाषा दी है वह उपर्युक्त सभी आचार्यों की मान्यताओं से अधिक व्यापक है।''[5] उन्होंने संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों के अतिरिक्त

रामायण-महाभारत तथा प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत के पौराणिक रोमांसिक महाकाव्यों को भी ध्यान में रखकर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये हैं। उन्होने पद्यबद्ध कथा के उत्पाद्य ओर अनुत्पाद्य तथा महत् और लघु, ये दो प्रकार के भेद करके केवल महाप्रबन्ध को ही महाकाव्य कहा है, चाहे उसकी कथा उत्पाद्य हो या अनुत्पाद्य। उन्होंने अवान्तर कथाओं की आवश्यकताओं के साथ युग-जीवन के विविध रूपों, पक्षों और घटनाओं को चित्रित करने की बात बहुत स्पष्ट रूप में और विस्तार से कही है। उनके अनुसार महाकाव्य का नायक द्विजकुलात्पन्न, सर्वगुणसम्पन्न, महानवीर, शक्तिवान, नीतिज्ञ, कुशल राजा होता है और अंत में उसकी की विजय होती है। साथ ही, महाकाव्य में प्रतिनायक और उसके कुल का भी वर्णन होता है। उत्पाद्य कथानक वाले महाकाव्यों में रूद्रट के मत से प्रांरभ में सन्नगरी वर्णन और नायक के वंश की प्रशंसा होती है और उसमें अलौकिक और अतिप्राकृत तत्वों का समावेश रहता है। ये बातें प्रायः कथाआरव्यायिका में मिलती हैं। अतः रूद्रट ने कथात्मक (पौराणिक, रोमांसिक) महाकाव्यों की स्थिति भी स्वीकार की है जिसे अन्य आचार्यों ने नहीं माना है। इस तरह पद्यबद्ध कथा का जिसे पाश्चात्य देशों में रोमांस या रोमांसिक कथाकाव्य कहा जाता है, महाकाव्य पर जो प्रभाव पड़ा है, उसे केवल 'रूद्रट' ने ही परिलक्षित किया है।

पाश्चात्य काव्यशात्रियों में 'अरस्तु' ने महाकाव्य के सम्बन्ध में सबसे अधिक विचार किया है। यूनान में उस समय काव्य के तीन रूप महाकाव्य, गीतिकाव्य ओर दुःखांत नाट्यकाव्य प्रचलित थे। अरस्तु के अनुसार-''महाकाव्य वह काव्यरूप है जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है, जो षट्पदी छन्द में लिखा जाता है, जिसका कथानक दुःखान्त नाटक के समान अन्वितियुक्त और किसी सम्पूर्ण आद्यन्त घटना का वर्णन करने वाला होता है और कथानक का आदि मध्य और अंत में समग्र रूप से जीवंत विकास दिखाया जाता है, जिससे वह जीवित प्राणी की तरह पूर्ण इकाई प्रतीत होता है। महाकाव्य में समुचित आनंद प्रदान करने की क्षमता होती है। अरस्तु के अनुसार कवि पूर्वकालीन या समकालीन घटनाओं का वर्णन भी महाकाव्य में अवान्तरकथा के रूप में कर सकता है अथवा विविध वस्तु-व्यापारों का विवरणात्मक वर्णन कर सकता है, जिससे युग-जीवन के विविध पक्षों और रूपों का सम्यक् उद्घाटन हो सके।''[6]

प्रारंभिक युग के पाश्चात्य महाकाव्यों में रोमांसिक तत्व अनिवार्य रूप से रहा करते थे। यद्यपि 'वर्जिल' ने शास्त्रीय शैली के जिन महाकाव्यों का प्रारंभ किया उनमें ये रोमांसिक तत्व अधिक नहीं हुआ करते थे। परन्तु मध्ययुग में यूरोप की परिस्थितियाँ ऐसी थीं जिनमें रोमांसिक कथाकाव्यों का बहुत अधिक प्रचार हुआ और महाकाव्य का उदात्त काव्यरूप भुला दिया गया। किन्तु पुनर्जागरणकाल में महाकाव्य का सम्मान फिर बढ़ा और दाँते, एरियास्टो, स्पेन्सर, कैमांस, टैसो और मिल्टन ने उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया।

आधुनिक युग के पाश्चात्य आलोचकों ने महाकाव्य की परिभाषा को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। डब्ल्यू.पी. करके मत से ''महाकाव्य में चरित्रों की कल्पना बहुत ही स्पष्ट और सम्पूर्ण रूप से की जाती है, अतः उनकी विभिन्न मनःस्थितियों और समस्याओं के चित्रण के कारण महाकाव्य में नाना प्रकार के दृश्यों और गुणों का चित्रण स्वभावतः हो जाता है। इस प्रकार इसमें समग्र जीवन के कार्य-कलाप जीवन-कथा का रूप धारण कर लेते हैं। महाकाव्य की सफलता कवि की कल्पनाशक्ति और चरित्र-चित्रण पर निर्भर होती है। कुछ महाकाव्यों में कथानक यद्यपि नाटकीय गुणों से युक्त नहीं होता और नायक महत्वहीन होता है, फिर भी ऐसे कथानकों में एक विशेष गरिमा होती है जिससे वे महाकाव्य मान जाते हैं।''[7] अंग्रेजी के एक अन्य आलोचक 'एबर क्रोम्बी' का कहना है कि बड़े आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। जब उसकी शैली महाकाव्य की शैली होगी, तभी उसे महाकाव्य माना जायेगा और वह शैली कवि की कल्पना, विचारधारा तथा उनकी अभिव्यक्ति में जुड़ी रहती है। इस शैली के काव्य (महाकाव्य) हमें एक ऐसे लोक में पहुँचा देते हैं जहाँ, कुछ भी महत्वहीन और असारगर्भित नहीं होता। महाकाव्य में एक पुष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो उसकी गति का आद्यन्त संचालन करता है।''[8] सी.एम.बावरा ने महाकाव्य की परिभाषा देते हुए कहा है-''महाकाव्य वृहदाकार कथात्मक काव्यरूप है, जिसमें कुछ महत्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओं का वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रों के क्रियाशील और भयंकर कार्यों से भरे जीवन की कथा होती है। उसके पढ़ने से हमें एक विशेष प्रकार का आनंद प्राप्त होता है, क्योंकि घटनायें और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महत्ता, गौरव और उपलब्धियों के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न करते हैं।''[9] स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्त्तक 'वाल्टेयर' की परिभाषा महाकाव्य ही दृष्टि सर्वाधिक समीचीन मानी गई है, जो इस प्रकार है-''ऐसे काव्य-ग्रंथ की महाकाव्य नाम के अधिकारी हैं जिसमें किसी महती घटना का वर्णन होता है और जिन्हें समाज व्यवहारतः महाकाव्य मानने लगता है। चाहे उसकी घटना सरल हो या जटिल, चाहे एक स्थान पर घटित होने वाली हो या उसका नायक संसारभर में भटकता फिरे, चाहे उसमें एक नायक हो या अनेक, चाहे उसका नायक अभागा हो या सौभाग्यशाली, भयंकर क्रोधी हो या ध र्मात्मा, चाहे वह राजा हो या सेनापति या इनमें से कुछ भी न हो, चाहे उसके दृश्य महासागर के हों या धरती के, स्वर्ग के हों या नरक के, इससे कुछ नहीं बनता बिगड़ता। इसके बाबजूद कोई मान्य महाकाव्य तब तक महाकाव्य कहा जाता रहेगा जब तक आप उसके गुणों के अनुरूप उसका कुछ और नामकरण नहीं कर देते।''[10]

वाल्टेयर का अभिप्राय यह है कि महाकाव्य में कुछ ऐसे गुण होते हैं जो भले ही शब्दों में व्यक्त न किये जा सकें, पर समाज अपनी सहजबुद्धि द्वारा उन्हें पहचानता है। अतः किसी काव्य का महाकाव्य होना कुछ बाह्य लक्षणों या परम्परागत रूढ़ियों के अपनाये जाने पर नहीं, बल्कि समाज की स्वीकृति पर निर्भर है। उस स्वीकृति के लिए वाल्टेयर ने केवल एक शर्त रखी है और वह है महाकाव्य में घटना का महती या गरिमामयी होना। इस तरह वाल्टेयर ने यह सिद्ध किया है किस संकीर्ण मानदण्ड से महाकाव्य के स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत भी यह जरूरी है कि महाकाव्य की कोई सर्वमान्य व्यापक परिभाषा होनी चाहिए जिसके अनुसार शास्त्रीय, रोमांसिक, नाटकीय, मनोवैज्ञानिक, प्रतीकात्मक आदि सभी प्रकार के तथा सभी देशों और कालों के महाकाव्यों की परख हो सके। इस प्रकार की परिभाषा यह हो सकती है-"महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है जिसमें क्षिप्र कथाप्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवंत लम्बा कथानक हो, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ हो सके, जिसमें यथार्थ, कल्पना या संभावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक रूप में वर्णन हो जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी-न-किसी रूप में प्रतिनिधित्व कर सके, जिसमें किसी महत् प्रेरणा से अनुप्राणित होकर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्वपूर्ण, गंभीर अथवा रहस्यमय और आश्चर्योत्पादक घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति विशेष या युग विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं और कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी गरिमामयी और उदात्त हो कि युग-युगान्तर तक महाकाव्य के जीवित रहने की शक्ति प्रदान कर सके।"[11]

महाकाव्य की इस परिभाषा को द्वारा युगों और देशों की विभिन्न शैलियों तथा महाकाव्य के लक्षणों का स्थायी समावेश हो गया है। निष्कर्ष रूप में हम महाकाव्य के स्वरूप को रेखांकित करने वाले अवयवों को इस प्रकार से रख सकते हैं। :-

1. महत्उद्देश्य, महत प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा
2. गुरूत्व, गांभीर्य और महत्व
3. महाकार्य और युगजीवन का समग्र चित्रण
4. सुसंघटित जीवंत कथानक
5. महत्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र
6. गरिमामयी उदात्त शैली
7. तीव्र प्रभान्विति और गंभीर रसयोजना
8. अनवरूद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

वास्तव में ये तत्व या लक्षण सर्वांश या अधिकांश रूप में जिन काव्यों में प्राप्त होंगे वहीं सच्चे अर्थों में 'महाकाव्य' कहे जा सकेंगे, अन्यथा नहीं।

'मूकमाटी' महाकाव्य की रचना आधुनिक काल में हुई। आचार्य विद्यासागर जी महाराज के गहन चिंतन, मनन्, अध्ययन और उनकी काव्य प्रतिभा की यह एक ऐसी अनूठी कृति है जो महाकाव्य की कसौटी पर पूर्णतया खरी साबित होती है। महाकाव्य के लक्षणों के आधार पर इस महाकाव्य के अध्यात्म और जीवनदर्शन के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय के अंतर्गत विस्तार से विवेचन करेंगे।

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत भी यह जरूरी है कि महाकाव्य की कोई सर्वमान्य व्यापक परिभाषा होनी चाहिए जिसके अनुसार शास्त्रीय, रोमांसिक, नाटकीय, मनोवैज्ञानिक, प्रतीकात्मक आदि सभी प्रकार के तथा सभी देशों और कालों के महाकाव्यों की परख हो सके। इस प्रकार की परिभाषा यह हो सकती है-''महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है जिसमें क्षिप्र कथाप्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवंत लम्बा कथानक हो, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ हो सके, जिसमें यथार्थ, कल्पना या संभावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक रूप में वर्णन हो जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी-न-किसी रूप में प्रतिनिधित्व कर सके, जिसमें किसी महत् प्रेरणा से अनुप्राणित होकर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्वपूर्ण, गंभीर अथवा रहस्यमय और आश्चर्योत्पादक घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति विशेष या युग विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं और कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी गरिमामयी और उदात्त हो कि युग-युगान्तर तक महाकाव्य के जीवित रहने की शक्ति प्रदान कर सके।''[11]

महाकाव्य की इस परिभाषा को द्वारा युगों और देशों की विभिन्न शैलियों तथा महाकाव्य के लक्षणों का स्थायी समावेश हो गया है। निष्कर्ष रूप में हम महाकाव्य के स्वरूप को रेखांकित करने वाले अवयवों को इस प्रकार से रख सकते हैं। :-

1. महत्उद्देश्य, महत प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा
2. गुरूत्व, गांभीर्य और महत्व
3. महाकार्य और युगजीवन का समग्र चित्रण
4. सुसंघटित जीवंत कथानक
5. महत्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र
6. गरिमामयी उदात्त शैली
7. तीव्र प्रभान्विति और गंभीर रसयोजना
8. अनवरूद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

वास्तव में ये तत्व या लक्षण सर्वांश या अधिकांश रूप में जिन काव्यों में प्राप्त होंगे वहीं सच्चे अर्थों में 'महाकाव्य' कहे जा सकेंगे, अन्यथा नहीं।

'मूकमाटी' महाकाव्य की रचना आधुनिक काल में हुई। आचार्य विद्यासागर जी महाराज के गहन चिंतन, मनन्, अध्ययन और उनकी काव्य प्रतिभा की यह एक ऐसी अनूठी कृति है जो महाकाव्य की कसौटी पर पूर्णतया खरी साबित होती है। महाकाव्य के लक्षणों के आधार पर इस महाकाव्य के अध्यात्म और जीवनदर्शन के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय के अंतर्गत विस्तार से विवेचन करेंगे।

2. आधुनिक हिन्दी महाकाव्य परम्परा की त्रयी-

''कामायनी'' ''उर्वशी'' तथा ''लोकायतन'' की श्रृंखला में मूकमाटी : स्वरूप और प्रतिपाद्य-

(अ) कामायनी :

खड़ी बोली के गौरवग्रन्थों में 'कामायनी' का महत्वपूर्ण स्थान है। यह महाकाव्य हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग की प्रतिनिधि रचना हैं। 'कामायनी' के सृजन के पीछे प्रसाद की मूलभूत प्रवृत्तियाँ रही हैं जिनके वशीभूत होने के कारण इस 'महाकाव्य' का सृजन हो सका। प्रसाद जी की प्रवृत्तियाँ कुछ इस प्रकार से हैं- वे नियतिवादी, कर्मण्यतावादी, आनंदवादी, मानवतावादी, सौन्दर्यवादी, आत्मवादी, आदर्शवादी, स्वच्छन्दतावादी और नव-अभिव्यंजनावादी होने के साथ-साथ वे भारतीय संस्कृति तथा देश और राष्ट्र के अनन्य प्रेमी, इतिहास के परम भक्त और मानव की अन्तःप्रकृति के कवि रहे हैं जिसके कारण 'कामायनी' जैसा महाकाव्य हिन्दी साहित्य को मिल सका है। प्रसाद जी ने उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों का इस महाकाव्य में दिग्दर्शन कराया है।

कथा -

जहाँ तक कामायनी की कथा का प्रश्न है तो यह अत्यंत लघु है पर प्रसाद जी ने अपनी कल्पना के माध्यम से इसे विस्तार प्रदान किया है। कथा के अनुसार एक भयंकर जलप्लावन के कारण देवसृष्टि नष्ट हो जाती है और उसमें से केवल 'मनु' शेष बचते हैं। मनु की नौका एक महामत्स्य का चपेटा खाकर उत्तर में हिमगिरि पर हा पहुँचती है। मनु इसी स्थान पर उतर पड़ते हैं। जलप्लावन के उतर जाने पर पहले वे शालियाँ बीनकर पाक-यज्ञ करते हैं तत्पश्चात् उनकी भेंट एक परम सुन्दरी युवती से होती है, जिसका नाम श्रृद्धा है। वह निराश, व्यथित एवं किंकर्त्तव्य विमूढ़ मनु को आशा, दृढ़ता और कर्मण्यता का संदेश देती है तथा मनु के लिए अपना जीवन समर्पित करती हुई पशुपालन, कृषि आदि कार्यों द्वारा मानव-सभ्यता के प्रारंभिक उपकरणों का संग्रह करती है। इसी समय प्रलय के कारण भटकते हुए आकुलि-किलात नामक दो असुर पुरोहित मनु के समीप आते हैं और मनु से पशु-बलि द्वारा यज्ञ कराते हैं। इस हिंसा कार्य से श्रद्धा रूठ जाती है और वह मनु को इस कार्य से विमुख करने का भरसक प्रयत्न करती है। परन्तु मनु आखेट में लीन रहकर इस कार्य को नहीं छोड़ते। इसी बीच श्रद्धा गर्भवती हो जाती है और वह अपनी भावी संतान के लिए ऊनी वस्त्र, सुन्दर कुटीर आदि का निर्माण करती है। मनु श्रद्धा के इन सभी कार्यों को प्रणय-सुख में बाधक समझते हैं। अतः उनके हृदय में गर्भस्थ शिशु के प्रति ईर्ष्या होती है और वे गर्भवती श्रद्धा को छोड़कर चल देते हैं। यहाँ से चलकर मनु उजड़े हुए सारस्वत नगर में पहुँचते हैं। इस नगर की रानी ढूड़ा से उनकी भेंट होती है और वह मनु को अपने नगर का शासक नियुक्त करके उन्हें नगर की उन्नति करने की प्रेरणा देती है। मनु अपने प्रयत्नों द्वारा नगर की पर्याप्त श्रीवृद्धि करते हैं। परन्तु अपनी वासना की तृप्ति के लिए वे नगर की रानी 'ढूडा' के साथ अनैतिक व्यवहार करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। जिसके परिणामस्वरूप समस्त नगर में जनक्रांति मच जाती है। देवता भी रूष्ट हो जाते हैं और मनु तथा उनकी प्रजा में घमासान युद्ध होता है। प्रजा का नेतृत्व करने

वाले आकुलि-किलात हैं। मनु सबसे पहले इन दोनों असुर पुरोहितों को मार गिराते हैं परन्तु अंत में प्रजा से पराजित होकर मूर्च्छित अवस्था में पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।

इधर पुत्रवती श्रद्धा विरहिणी के रूप में अपना जीवन व्यतीत करती है, परन्तु एक रात को उसे मनु से सम्बन्धित उक्त दुर्घटना स्वप्न में दिखाई देती है और वह अपने कुमार को साथ लेकर खोजती-खोजती उसी स्थान पर आ पहुँचती है जहाँ मनु मूर्च्छित पड़े हैं। सेवा-सुश्रुषा से मनु ठीक हो जाते हैं, परन्तु ग्लानिवश फिर वे एक रात को श्रद्धा के समीप से भाग जाते हैं। प्रातः होते ही श्रद्धा अपने पुत्र को ढूड़ा की शासन-व्यवस्था संभालने के लिए वही सारस्वत नगर में छोड़ जाती है और मनु को खोजने के लिए चल देती है। मनु पास में ही सरस्वती नदी के निकट तपश्चर्या करते हुए मिल जाते हैं। श्रद्धा के आते ही मनु को नटराज शिव के दर्शन होते हैं और वे उनके चरणों तक ले चलने के लिए श्रद्धा से आग्रह करते हैं। श्रद्धा उनका पथ-प्रदर्शन करती हुई मार्ग में त्रिपुर या त्रिकोण का रहस्य समझाती है। इस त्रिपुर में इच्छा, क्रिया और ज्ञान नामक तीन शक्तियों से सम्बन्धित भावलोक, कर्मलोक और ज्ञानलोक है, जो पृथक-पृथक रहने के कारण अपूर्ण है। तदन्तर श्रद्धा अपनी स्मृति से इन तीनों लोकों का समन्वय कर देती है, जिससे समस्त विश्व में मनु को दिव्य 'अनहद-नाद' सुनाई पड़ता है उनके स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि नष्ट हो जाते हैं और वे श्रद्धा सहित तन्मय होकर अखण्ड आनंद को प्राप्त होते हैं। जिस स्थान पर मनु को यह आनन्द प्राप्त होता है, उसे कैलाशगिरि कहा गया है। कुछ कालों के उपरांत ढूड़ा तथा मानव भी अपनी समस्त प्रजा को लेकर कैलाश की यात्रा करने आते हैं। यहाँ आकर श्रद्धा तथा मनु से उनकी भेंट होती है और सभी एक संयुक्त परिवार के सदस्य बन जाते हैं। सभी के हृदयों में भेदभाव की भावना तिरोहित हो जाती है तथा सभी समरसता को प्राप्त करके अखण्ड आनंद में मग्न हो जाते हैं।

महाकाव्यत्व :

कामायनी का निर्माण केवल भारतीय प्राचीन लक्षणों के आधार पर ही नहीं हुआ है, अपितु युग की परिवर्तनशील विचारधाराओं को अपनाते हुए आधुनिक मान्यताओं के आधार पर हुआ है जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों देशों की अधिकांश प्राचीन और नवीन मान्यताओं के दर्शन होते हैं।

कथानक- कामायनी का कथानक इतिहास सम्मत है तथा आदि-मानव की जीवन गाथा से सम्बन्धित होने के कारण श्रेष्ठ भी है पर इतना अवश्य है कि यह कथानक विस्तृत नहीं है। श्रद्धा और मनु की जीवन-गाथा अत्यंत लघु है, उसमें कथानक का उतना विस्तार नहीं है जितना की एक महाकाव्य के लिए होना चाहिए। परन्तु, प्रसाद जी न इस लघु कथानक को भावों के वर्णन तथा आधुनिक मानव जीवन की विषमताओं के चित्रण द्वारा विस्तृत कर दिया है। इसका मूलकारण यह है कि " एक तो मनु और श्रद्धा की विस्तृत कथा मिलती नहीं, दूसरे प्रसाद अन्तर्मुखी कवि हैं, अतः उन्हें कथा कहने में उतना रस नहीं मिलता, जितना भावना व्यापार के विश्लेषण और जीवन समस्याओं को सुलझाने में मिलता है।"[12] इसके

साथ ही मनु, श्रद्धा तथा ढूड़ा के लौकिक जीवन का चित्रण करते हुए उसमें कुछ अलौकिक घटनाओं के वर्णन द्वारा चमत्कार भी उत्पन्न किया गया है, जैसे- देव-सृष्टि, प्रलय, रूद्र का कोप एवं मनु का वाण-संधान, तांडव-नृत्य, त्रिपुर या त्रिकोण इत्यादि के वर्णन। इन सबके माध्यम से यही ज्ञात होता हैकि 'कामायनी' का कथानक लघु होते हुए भी एक महाकाव्य के अनुकूल है, उसमें मनु और श्रद्धा की जीवन-गाथा के सहारे आधुनिक मानव के बौद्धिक एवं भावात्मक चित्र अंकित किये गये हैं, जिनमें यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है जो समग्र मानव-जीवन के अन्तबलि स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

नायक- कामायनी के कथा-नायक 'मनु' हैं। 'मनु' देव-पुरूष हैं, परन्तु उनमें आदर्शवादी काव्यों की भाँति धीरोदात्त रूप के दर्शन नहीं होते। इतना अवश्य है कि वे निश्चिन्त, सुखी, मृदुल स्वभाव एवं नये-नये प्रेम में लिप्त रहने वाले शासक होने के कारण 'धीरललित' नायक के सभी गुण उनमें दिखाई देते हैं। 'मनु' के जीवन में दुर्बलता-सबलता, निकृष्टता-उत्कृष्टता आदि का समावेश किया गया है। इसका मूल कारण यह है कि प्रसाद अपने नायक को अतिमानव नहीं बनाना चाहते, वे उसे जन-जीवन के अधि क निकट लाना चाहते हैं, उन्हें आदर्शवादी महाकाव्यों की भांति नायक में केवल गुण ही गुण दिखाना अभीष्ट नहीं, वे एक साधारण व्यक्ति की भाँति उसमें सात्विकी, राजसी एवं तामसी प्रवृत्तियों का रूप दिखाना अच्छा समझते हैं। दूसरे 'मनु' 'मन' के भी प्रतीक हैं। इसी रूपक का निर्वाह करने के लिए भी इन दुर्बलताओं का दिखाना आवश्यक समझा गया है, और फिर किस प्रकार एक मानव अपनी तामसी एवं राजसी प्रवृत्तियों से ऊपर उठता हुआ सात्विक जीवन व्यतीत कर सकता है, वे इस भावना को मुख्यरूप से रेखांकित करना चाहते हैं। इसीलिए प्रसाद जी ने 'कामायनी' के नायक में उदात्त एवं अनुदात्त, साधारण और असाधारण, उत्कृष्ट और निकृष्ट सभी प्रकार की मनोवृत्तियों को दर्शाया है और अन्त में सात्विकता की उन्नतावस्था में पहुँचकर मानव मात्र के सम्मुख यह आदर्श उपस्थित किया है कि मानव कितना ही पतित और निकृष्ट क्यों न हो जाए, वह श्रद्धा सहित इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वित स्वरूप को अपनाता हुआ पुनः एक महापुरूष बन सकता है, उसके जीवन में समरसता आ सकती है, वह सन्तुलित जीवन व्यतीत कर सकता है और अंत में परमानन्द भी प्राप्त कर सकता है। प्रसाद का यह प्रयत्न आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के अनुकूल ठहरता है जो कि आधुनिक युग की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। परन्तु 'कामायनी' नायक प्रधान महाकाव्य न होकर नायिका- प्रधान महाकाव्य है। इस काव्य की नायिका श्रद्धा है। उसमें वे समस्त लक्षण देखने को मिलते हैं जो शास्त्रों में दर्शाये गये हैं। लेकिन कामायनी का नायक सर्वथा आधुनिक विचारधारा के अनुकूल रखा गया है।

चरित्र चित्रण : आधुनिक काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उनमें रस अथवा कथा-संकलन की ओर अधिक ध्यान न देकर चरित्र-चित्रण की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता है,

परन्तु कामायनी में ऐसा नहीं है। यहाँ पर रस की ओर ध्यान देते हुए पात्रों के चारित्रिक विकास को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। इतना अवश्य है कि इस काव्य में पात्रों की संख्या अधिक नहीं है और थोड़े से ही पात्रों का चरित्र-चित्रण मिलता है। सर्वप्रथम 'मनु' के रूप में प्रसाद जी ने यथार्थवादी चित्रण द्वारा साधारण मानव को अपने जीवन-यापन का ढ़ंग बतलाने का प्रयत्न किया है। वासनापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य भले ही विश्वासमयी उदारवृत्ति-सम्पन्न नारी (श्रद्धा) के समीप रहे, परन्तु उसकी इन्द्रिय-लिप्सा उसे कभी सुखी नहीं रहने देगी। यदि वह ऐसी पतिव्रता नारी का परित्याग करके किसी तर्कशीला, आडम्बर प्रिय एवं बौद्धिक विकासमयी नारी (ढूड़ा) के सम्पर्क में सुख की लालसा से जायेगा तो वहाँ उसे निराश ही हाथ लगेगी। सच्चा सुख तो पति परायणा उदारवृत्ति वाली नारी के सामीप्य में ही प्राप्त हो सकता है। इसी नैतिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य को दिखलाने के लिए प्रसाद जी ने 'मनु' में मानव की सहज दुर्बलताओं का समावेश किया है।

प्रसाद ने कामायनी में 'श्रद्धा' को ह्रदय का प्रतीक माना है। वह वास्तव में ह्रदय के समस्त उदात्त गुणों से परिपूर्ण है। उसके निःश्छल प्रेम,निःस्वार्थ त्याग, ध्रुव विश्वास, सहज करूणाभाव, सहिष्णुता, अतुल अनुराग आदि गुण उसे विशाल अन्तःकरण सम्पन्न महान नारी के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, ऐसे सुन्दर ह्रदय को धारण करने वाली नारी से दूर रहकर कभी सुख और आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। वैसे श्रद्धा एक ऐसी भावना भी बतलाई गई है जिसके बिना मनुष्य का जीवन निरर्थक है क्योंकि वही ज्ञान और विश्वास दोनों को ही उत्पन्न करती है। वही आनन्द की प्राप्ति कराती है। श्रद्धा पात्र में निःसंदेह हम प्रसाद की नारी सौन्दर्य सम्बन्धी भावना, आदर्श नारी सम्बन्धी विचारधारा एवं नारी-सौन्दर्य के चित्रण की कला का समन्वित रूप देख सकते हैं।

प्रसाद ने मनु तथा श्रद्धा के रूप में जहाँ भारतीय आदिपुरूष एवं आद्या नारी का चित्र अंकित किया है, वहाँ 'ढूड़ा' के रूप में आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति में निष्णात बुद्धि के अतिवाद का प्रचार करने वाली नारी का भी चित्रण किया है। उसके सारस्वत-नगर के रूप में वर्तमान वैज्ञानिक जगत का पूर्णतः आभास मिलता है। ढूड़ा की प्रजा, उसका संघर्ष, श्रम-विभाजन, यंत्र-आविष्कार आदि सभी बातें आधुनिक युग की वैज्ञानिक उन्नति की ओर संकेत करती है। परन्तु श्रद्धा के संपर्क में आकर 'ढूड़ा' के अंदर जो परिवर्तन दिखलाया गया है वह प्रसाद के समन्वयवाद की ओर इंगित करता है, उनका मानना है कि श्रद्धा समन्वित बुद्धि ही सफलता तथा आनंद की सृष्टि कर सकती है और श्रद्धा रहित बुद्धि विनाश के पथ पर ले जाती है। इस तरह प्रसाद ने यहाँ आधुनिक युग को समन्वय की भावना का महत्व बतलाने के लिए 'ढूड़ा' की इस तरह की कल्पना की है।

'मानव' के रूप में प्रसाद ने समरसता/एवं मानवता के एक श्रेष्ठ प्रचारक का रूप प्रस्तुत किया है। यह मनु-पुत्र होने के कारण मननशील है श्रद्धा पुत्र होने से हृदय की उदार-वृत्तियों से सम्पन्न है, और

ढूडा के साथ रहने के कारण ज्ञान-विज्ञान संबंधी समस्त वैदिक गुणों से भी ओत-प्रोत है । इस प्रकार समरसता के लिए उपर्युक्त तीनों गुणों का समन्वय कुमार के रूप में हो गया है ।

आकुलि-किलात ये प्रसाद के दोनों ही गौण पात्र केवल आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं, क्योंकि दोनों ही यहां असुर-संस्कृति के अवशिष्ट अंश बतलाए गये हैं । श्रद्धा,मनु और ढूडा-देवसंस्कृति के प्रतीक हैं । वहां ये दोनों व्यक्ति असुर संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं । ऐसा माना गया है कि मानव सृष्टि के आरंभ में आदिमानव के अंतर्गत सात्विकी, राजसी एवं तामसी प्रवृत्तियों का समावेश भी दिखाना कवि के लिए आवश्यक था । इसलिए श्रद्धा द्वारा सात्विकी, ढुडा द्वारा राजसी तथा आकुलि-किलात द्वारा तामसी प्रवृत्ति का योग मनु के जीवन में दिखाया गया हैं ।

प्रकृति-चित्रण -

भारत प्राकृतिक सौंदर्य का अक्षय भण्डार है । यही कारण है कि भारतीय कविता में प्रकृति चित्रण अपने पूर्ण-वैभव के साथ विद्यमान रहा है । आधुनिक कवियों ने तो प्रकृति चित्रण में पर्याप्त परिवर्तन भी किये हैं जिसके कारण उसमें सजीवता, चेतनता, मार्मिकता आदि के पर्याप्त दर्शन होते हैं । प्रकृति चित्रण के यों तो अनेक रूपों की चर्चा आलोचकों द्वारा की गई है पर 'कामायनी' में जिन रूपों की चर्चा मुख्य रूप से हुई है उनका संक्षेप में विवरण इस प्रकार से है -

'कामायनी' के चिंता-सर्ग में प्रलय वर्णन का भयानक दृश्य देखने को मिलता है । इसमें प्राकृतिक शक्तियों के आंकुचन-विकुंचन, प्राकृतिक पदार्थों के आलोड़न-विलोड़न, भयंकर मेघों के गर्जन-तर्जन, करका-क्रन्दन, पंचभूत के भैरव मिश्रण, जलधिलहरियों के आरोहण-अवरोहण आदि का ऐसा चित्र अंकित किया गया है जिसमें भयानक रूपों के दर्शन के साथ हृदय को कंपा देने वाली ध्वनियों को भी स्पष्टतः सुना जा सकता है ।

कामायनी में प्रकृति के भयानक रूपों के अतिरिक्त प्रकृति के मानवीकरण रूप की झांकी भी कितने ही स्थलों पर देखने को मिलती है जिनमें प्रकृति के अनंत सौंदर्य के साथ साथ उसके मानवोचित सूक्ष्म रूपों को भी देखा जा सकता है, जैसे - 'आशा सर्ग' का प्रभात, हिमालय एवं अभिसारिका, रजनी का वर्णन, 'वासना' सर्ग के सन्ध्याकाल का वर्णन, 'ढूडा' सर्ग में सरस्वती नदी का वर्णन, 'रहस्य' तथा 'आनन्द' सर्ग में कैलाश शिखर का विस्तृत वर्णन आदि । 'कामायनी' के इन रम्य चित्रणों में सर्वत्र चेतन प्रकृति के सजीव व्यापारों का उल्लेख हुआ है, जिनमें कहीं प्रकृति हंसती, इठलाती, क्रीड़ा करती, प्रबुद्ध होती है, अगड़ाईयॉं लेती तथा संकुचित होकर मान करती दिखलाई गई है ।

'कामायनी' में विश्वव्यापी रहस्यमयी सत्ता का वर्णन करने के लिए भी प्रकृति को माध्यम बनाया गया है और प्राकृतिक पदार्थों के रहस्यात्मक चित्रण द्वारा उस रहस्यमयी सत्ता की ओर संकेत किया गया

है, जिसकी खोज में नील गगन के असंख्य ग्रह, नक्षत्र एवं विधुतकण छिपते और निकलते हुए चक्कर लगा रहे हैं, जिसके रस से सिंचित होकर तृण वीरूध लहलहा रहे हैं । जिसकी सत्ता को सिर नीचा करके सभी स्वीकार करते हैं और मौन होकर जिसका निरन्तर प्रवचन करते हैं, परन्तु उस सत्ता का पता आज तक नहीं लगा है । प्रकृति के समस्त व्यापारों को देखकर केवल इतना ही मान होता है कि वह कुछ है ।''[15]

प्रकृति के प्रतीकात्मक रूप का चित्रण भी 'कामायनी' में स्थान-स्थान पर मिलता है। प्रसाद जी ने प्रतीकों का प्रयोग करते हुए कितने ही सजीव वर्णन प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से 'काम' सर्ग के प्रारंभ का वसन्त-वर्णन पूर्णतया यौवन के प्रतीक रूप में आया है, जिसमें किशोरावस्था की समाप्ति के लिए 'रजनी का पिछला पहर' रूप सौंदर्य के लिए ' कोकिल' प्रेम की उमंगों के लिए 'कलियाँ' संकेत-स्थलों के लिए 'कोरक-कोना' भाव-प्रवाह के लिए ' काकली' आदि का प्रयोग किया गया है।''[16]

इस तरह प्रसाद जी ने प्रकृति के नाना रूपों का आकर्षक एवं भव्य रूप 'कामायनी' में चित्रित किया है। प्रसाद की दृष्टि में प्रकृति के अंतर्गत एक ऐसी चेतना-सम्पन्न विराट् सत्ता विराजमान है जिसके उदर में वन, गिरि, नदी, निर्झर आदि सभी समाये हुए हैं जो समयानुकूल परिवर्तनों द्वारा अद्‌भुत छटा विकीर्ण किया करती है एवं अपने अद्‌भुत दृश्यों एवं आश्चर्यजनक लीलाओं द्वारा अलौकिक आनन्द प्रदान करती है।''[17]

युग-चित्रण-

कामायनी आधुनिक युग का प्रतिनिधि काव्य है। अत: इसमें तत्कालीन समाज की स्थिति का पूरा पूरा चित्रण करते हुए, उसके कल्याणार्थ अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है, जैसे-कवि ने सबसे पहले विदेशियों के प्रभाव से तत्कालीन समाज में फैली हुई निर्बाध विलासिता का चित्रण देवों की विलासिता के रूप में किया है।''[18] और उसके दुष्परिणाम को दिखाकर समाज को सदैव दुष्प्रवृत्तियों के अतिरेक से बचने की सलाह दी है। साथ ही यह भी बताया है कि जिस तरह देवगणों के अनन्त शक्ति-सम्पन्न होने पर भी उनकी अबाध विलासिता ने उनका सर्वनाश कर दिया, वैसे ही कोई भी समाज या राष्ट्र अपनी शक्ति का दुरूपयोग करता हुआ उसे केवल विलास-सामग्री के संकलित करने में ही लीन रहेगा, तो उसका भी विनाश अवश्यम्भावी है। इसके अतिरिक्त कवि ने समाज में फैलीं हुई विषमता का चित्र अंकित करते हुए यहाँ की वर्ण-व्यवस्था, वर्ग-भेद, ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, शासक-शासित आदि की भावना से उत्पन्न होने वाली विषम परिस्थिति का दिग्दर्शन कराया है और अंत में पारस्परिक सौहार्द्र से युक्त जीवन व्यतीत करने , सामाजिक नियमों का समान रूप से पालन करने एवं समरसता के साथ व्यवहार करने की सलाह दी है।

भाव और रस-

कामायनी में भावों का अत्यंत सजीव चित्रण देखने को मिलता है, कहीं कहीं तो कवि भाववर्णन में इतना तल्लीन हो गया है कि वह कथा-भाग की उपेक्षा तक कर बैठा है और भाव-निरूपण में ही पूरा सर्ग लिख दिया है। 'कामायनी' का 'लज्जा' सर्ग इसका ज्वलंत प्रमाण है, जिसमें लज्जा भाव का अत्यंत सजीव वर्णन मिलता हैं जैसे:-

छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं
कलरव परिहास भरी गूँजे, अधरों तक सहसा रूकती हैं।

यहाँ पर लज्जा या ब्रीड़ा के उत्पन्न होने पर हिचकना, पलकों का झुकना, संकुचित होना आदि अनुभावों का सुन्दर चित्रण किया गया है, शेष सर्गो में से 'चिन्ता' 'आशा' 'काम' 'वासना' आदि अधिकांश सर्गो में उपर्युक्त भावों के सुन्दर उदाहरण देखे जा सकते हैं।

कामायनी में अधिकांश रसों का पूर्ण-परिपाक देखने को मिलता है। रसों के अंतर्गत मुख्य रूप से 'श्रृंगार रस' 'रौद्र रस' 'भयानक रस' 'अद्भुत रस' ' करूण रस' ' वीभत्स रस' ' शांत रस' 'वात्सल्य रस' के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं।

कलागत विशेषताऐं- कामायनी एक सर्गबद्ध काव्य है। इसमें कुल 15 सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग का नामकरण उसमें वर्णित मुख्य मनोभाव या घटना के आधार पर किया गया है। ये सर्ग न तो अधिक विस्तृत हैं और न अधिक लघु, अपितु वर्णन के अनुसार उचित सम्यक विस्तार के साथ समाप्त हुए हैं। प्रत्येक सर्ग में लगभग एक ही छन्द अपनाया गया है, समस्त छन्द-विधान शास्त्रानुकूल है और 'इड़ा' सर्ग में नवीन प्रगीतप्रणाली के आधार पर नवीन छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'कामायनी' की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। उसमें भावानुकूल शब्दों का चुनाव हुआ हैं तथा शब्द विधान उच्च कोटि का है। इसके साथ ही उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि साम्यमूलक प्राचीन अलंकारों के साथ साथ मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यार्थ-व्यंजना आदि नवीन अलंकारों का ही प्रयोग अधिक हुआ हैं, परन्तु अलंकार सर्वत्र भावों के उत्कर्ष के लिए ही प्रयोग किए गए है। इसकी रचना-शैली में कलात्मकता का प्राधान्य हैं और सर्वत्र लाक्षणिकता , उपचावक्रता व्यंग्य आदि की ही अधिकता हैं, जिसमें कहीं कहीं अर्थ-क्लिष्टता भी आ गई हैं, परन्तु काव्य-सौष्ठव सरसता एवं उत्कृष्टता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती और सर्वत्र एक भव्य एवं प्रौढ़ साहित्यिक शैली के दर्शन होते हैं, जिसमें कलात्मकता, ओजस्विता, माधुर्य आदि के साथ-साथ गवेषणापूर्ण रचना कौशल विद्यमान है।

'कामायनी' का जीवन-सन्देश-

विश्व के सभी महाकाव्य युग-युग की संचित सम्पत्ति के भण्डार होते हैं। उनका निर्माण मानव-जीवन के आधार पर होता है और वे दुर्बल, पतित एवं आपत्तिग्रस्त मानवता को सशक्त, उन्नत एवं आनंदमय बनाने के लिए लिखे जाते हैं। 'कामायनी' के द्वारा भी प्रसाद जी ने निरन्तर द्वयता(द्विविध ा, द्वन्द्व) में रहने वाली, अनजान समस्याओं में व्यस्त तथा एकता के कारण नष्ट्र हो जाने के कारण अनन्त

कोलाहल एवं कलह में फँसी हुई संकुचित दृष्टि वाली आधुनिक युग की इस 'अभिनव मानव प्रजा सृष्टि' को यह संदेश दिया हैं कि दु:खों से घबड़ाकर संसार से भागने की आवश्यकता नहीं है। यह दु:ख तो ईश्वर का रहस्यमय वरदान है तथा दु:ख और सुख तो रात और दिन की तरह निरन्तर आते जाते रहते हैं। लेकिन कर्मों की ओर प्रवृत्त होने वाला मानव कभी-कभी सत्कर्मों की अपेक्षा दुष्कर्मो की ओर प्रवृत्त होने लगता है। इसके लिए प्रसाद जी ने 'कामायनी' में मनुष्य की पतनावस्था की ओर संकेत करते हुए पुन: उसे जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठने का संदेश दिया है। उनका मानना है कि भौतिक सुखों की लालसा से यांत्रिक सभ्यता की भूल-भुलइयों में पड़े रहना श्रेयस्कर नहीं हैं क्योंकि इससे वर्ग भेद का जन्म होता है, अपनत्व सो जाता है, आलोक नहीं रहता, सब अपने-अपने पथ पर श्रांत होकर चलते हैं और प्रत्येक विभाजन भ्रांत धारणा के आधार पर होने लगता हैं। ''[19] अत: भौतिक सुखों की इस संकुचित भावना को छोड़कर आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने के लिए सबको सुखी देखकर सुखी होना, सबके साथ उदारता का व्यवहार करना, सम्पूर्ण समाज की सेवा को अपनी ही सेवा समझते हुए निरन्तर प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग, आध्यात्मिकता और भौतिकता आदि के संतुलित समन्वय द्वारा जीवनयापन करना श्रेयस्कर है। इसी के द्वारा मानव का जीवन उन्नत हो सकता है और इसी में उसका कल्याण भी निहित है।

मानव जीवन को कल्याणमय बनाने के लिए प्रसाद ने आगे चलकर, समरसता का सन्देश दिया है और बतलाया है कि जीवन में विषमता ही दु:ख की जननी है। इसी के चंगुल में फँसकर मनुष्य कभी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, में आकृष्ट होकर इच्छा के माया राज्य में चक्कर काटता रहता है। ''[20] कभी ऐषणाओं का शिकार बनकर निरन्तर अंधकार में दौड़ता रहता है। ''[21] और कभी बुद्धि के निर्मम और निरंकुश राज्य में प्यासा होकर ओस चाटता फिरता है। ''[22] जीवन की इस विषमताजन्य विडम्बना को देखकर ही उन्होंने मानव-मात्र के लिए इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय पर बल दिया है और तीनों के समरस हो जाने पर ही जीवन के विषमता-जन्य संघर्ष का समाप्त होना सिद्व किया है।

अन्त में नाना प्रकार के संकटों , भौतिक बाधाओं एवं दु:खों से पीड़ित विश्व को प्रसाद ने आनन्द प्राप्ति का आशामय संदेश दिया है और बताया है कि बुद्वि के दुरूपयोग द्वारा नहीं, अपितु उसके सदुपयोग द्वारा ही इस जगत में अभीष्ट आनन्द की प्राप्ति हो सकती हैं, किन्तु बुद्वि का सदुपयोग उसी समय होता है, जबकि बुद्वि का नियंत्रण श्रद्वा करती है। श्रद्वा के बिना मन और बुद्वि दोनों अवयवस्थित रहते हैं और मानव अभीष्ट फल को प्राप्त नहीं कर पाता।

अत: 'कामायनी' महाकाव्य इस निराश, भयग्रस्त, भ्रमित एवं चिर-दग्ध दु:खी वसुधा' को शांति और सुख की आशा बँधाता हुआ अखण्ड आनन्द-प्राप्ति का मंगलमय संदेश दे रहा है।

(ब) 'उर्वसी':

दिनकर की 'उर्वसी' का प्रकाशन सन् 1961 में हुआ था। इस रचना पर दिनकर को सन् 1972 में ज्ञानपीठ पुरूस्कार से सम्मानित किया गया। यह रचना कवि के गहन चिंतन और मनन का मुखरित रूप है तथा कलात्मक दृष्टि से भी अपने आपमें अद्वितीय है। प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक काल तक के सूत्र इसमें मिलते हैं। इसमें 'काम' की स्वध्य स्थापना, नारी-गरिमा की प्रतिष्ठा तथा काम का स्थूल स्तर से आत्मिक और सूक्ष्म स्तर तक उन्नयन वर्णित हैं। मुख्यकथा पुरूरवा-उर्वशी की प्रेमकथा है। पुरूरवा-औशीनरी की दाम्पत्य कथा सहयोगी कथा है। तथा च्यवन-सुकन्या की कथा प्रासंगिक कथा है। 'उर्वशी' के कुल पांच अंक है फिर भी विशिष्ट उद्देश्य के कारण रचित होने पर इसमें महाकाव्योचित गरिमा देखने को मिलती है।

'उर्वशी' का प्रथम अंक 'भू' और 'गगन' की वृत्तियों को मिलाने वाला अंक है। इस अंक के पात्र रम्भा, सहजन्या और मेनका स्वच्छन्द वृत्ति वाली नारियाँ हैं जो नारियों के स्वभाव, आकर्षण और स्वतंत्रता की आलोचना करती हैं। सभी विवाहिता मानवी की माँ बनने की स्थिति को कुत्सित दृष्टि से देखती हैं लेकिन मेनका द्वारा मानव के यश की स्थापना कराई गई है। इसमें उर्वशी और पुरूरवा को पूर्वराग भी वर्णित है।

द्वितीय अंक में नारी के लज्जाशील रूप को पुरूष के मिथ्यागामी होने का कारण बतलाया गया है। मदनिका और निपुणिका द्वारा नारी की इसी भूल का अहसास कराया गया है। इसमें पुरूरवा और उर्वशी के मिलन की भी सूचना दी गई है।

तृतीय अंक में काम, प्रेम और सौंदर्य की व्याख्या है जिसे केवल दैहिक स्तर तक नहीं वरन् आत्मिक स्तर पर भी परखा गया है।

चतुर्थ अंक नारी की पूर्णता का अंक है। यहाँ 'उर्वशी' मानसी रूप में चित्रित की गई है। पति और पुत्र में से किसी एक को चुनने में मजबूरन वह पति को ही चुनती है क्योंकि परिस्थितियाँ ऐसी ही हैं। अबोध शिशु को विमाता के पास अभी शैशवावस्था में पहुँचाना उचित नहीं, और फिर पुरूष के अहं के लिए ममता का त्याग भी जरूरी था। उर्वशी मृन्ति-सुख को छोड़ने को अभी तैयार नहीं। पति-पुरूष के अहं की रक्षा के लिए वह पुत्र को सुकन्या के पास छोड़ देती है।

पंचम अंक सुकन्या और औशीनरी जैसी एकनिष्ठ और सती नारियों के धर्म और कर्तव्य का अंक है। नारी के त्यागमय, प्रेममय और प्रेरक रूप की प्रतिष्ठा इसी अंक में हुई है। यही अंक आसक्ति के बीच अनासक्ति और लिप्सा के बीच निर्लिप्तता का पाठ सिखाता है।

यों तो दिनकर की विविध काव्य-कृतियों की भावधारा में सरसता और ओज का समन्वित रूप देखने को मिलता है। कवि के हृदय में विद्यमान मधुर-भाव, अपनी शक्ति में निरंकुश नहीं, वरन् उस पर सामाजिक परिवेश और समय की पुकार का प्रभाव है, धर्म और नैतिकता का अंकुश भी है। उनकी प्रेममयी कल्पनाओं ने ऊँची उड़ानें भरनी चाहीं हैं, हृदय की कोमल उमंगों ने एकांत-निर्जन प्रदेश में अठखेलियां करने की इच्छा की है किन्तु कवि का प्रेमभाव ओजपूर्ण रूप में अलग-अलग प्रकट होता रहता है।

'उर्वशी' काव्य में प्रेम, सौंदर्य, काम और नारी विषयक भाव प्रतिफलित हुए हैं। इन सब भावों का एकीकरण एक आकस्मिक घटना नहीं है वरन् दिनकर के अन्य काव्यग्रथों में इन भावों की अभिव्यक्ति पहले और बाद में भी हुई है।

'उर्वशी' का कथा-स्त्रोत :

'उर्वशी' काव्य का नामकरण प्रसिद्ध प्रेमी युगल 'पुरूरवा-उर्वशी' की नायिका 'उर्वशी' के नाम पर हुआ है। दिनकर की इस रचना की कथा का स्त्रोत वेद, ब्राम्हण, पुराण तथा संस्कृत-काव्यों में भी मिलता है। इन स्त्रोतों में ह्रदयस्पर्शिता और संप्रेषणीयता के गुण कवि अपनी कल्पनाशक्ति के सामंजस्य के द्वारा समाविष्ट करता है। केवल कल्पना पर आधारित काव्य सरस और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से शून्य होता है। कवेल कल्पना पर आधारित काव्य सरस और मनोवैज्ञानिक अनुशीलन से युक्त हो सकता है। किन्तु इतिहास और कल्पना के समन्वय से उसमें जो गहन प्रतिक्रिया मूलक गुण उत्पन्न हो जाता है, वह केवल कल्पना के द्वारा संभव नहीं होता। ऐतिहासिक पात्र अपने मिथकीय प्रभाव के कारण रचना को और अधिक सजीव और ह्रदयग्राही बना देते हैं।

उर्वशीकार ने अपने काम-विषयकभाव और विचारों को काम-समस्या के रूप में चित्रित करने के लिए 'पुरूरवा-उर्वशी' जैसे पात्रों को लिया है। ये दोनों प्रेमी-युगल 'अप्सरा-संस्कृति' और 'मानव-संस्कृति' के आधार स्तम्भ हैं।

पुरूखा-उर्वशी की कथा को प्रेम-कहानियों में सर्वाधिक प्राचीन कहा जाता है।''[23] कुछेक लोगों के मत के अनुसार इनकी कथा अन्योक्तिपरक है, जिसके वास्तविक नायक हैं सूर्य और उषा।''[24] इन दोनों का मिलन कुछ ही काल के लिए होता है।

उर्वशी का उद्देश्य :

'उर्वशी' का कथ्य है 'काम' और उद्देश्य है, काम का उन्नयन'। अत: उर्वशी की समस्या 'काम' के उन्नयन की समस्या है। इसी कारण मिलन-प्रसंगों को अनुभूति के आंतरिक स्तर पर रूपायित

किया गया है। उसके लक्ष्य का रूप सत्य है, काल्पनिक सुखों की उलझन से निकलकर प्राप्त सुखों का उपभोग करना। 'काम' का सामान्य अर्थ इच्छा या इन्द्रिय-सुख की इच्छा है। यह इसका सीमित अर्थ है। व्यापक अर्थ में 'काम' शब्द से मानव-मन की समस्त क्रियाओं और वासनाओं की ध्वनि निकलती है। इसकी महत्ता और व्यापकता के सम्बन्ध में स्वयं दिनकर जी ने कहा है-''इसे अपदस्थ करने की चाहे जितनी भी चेष्टा की जाय वह हर बार सिंहासन के ऊपर आ बैठता है और शास्त्र एवं नैतिकता के प्रहरी उसे बांधने की जो भी तैयारी करते हैं, उस पर सेक्स का देवता व्यंग्य से मुझकराता है मानो वह यह कह रहा हो कि उतने बन्धन तो मैं तोड़ चुका, देखूँ इस बार तुम कैसी कड़ियाँ तैयार करते हो।''[25]

उर्वशी का मूलभाव 'काम' :

उर्वशी काव्य प्रेम और सौन्दर्य के भावों से युक्त प्रेम और सौन्दर्य के आकर्षण के स्वरूप को प्रगट करने वाला 'गीतिनाट्य' है। यह 'काम' ही 'उर्वशी' काव्य की महिमा है। दिनकर के ही शब्दों में -''मनुष्य में वह आकर ऐसे आनन्द का कारण बन गयी है जो निष्प्रयोजन, निस्सीम और निरूद्देश्य है। वह नित्य नये-नये पुलकों की रचना करती है, नयी-नयी कल्पनाओं को जन्म देती है और मनुष्य को नित्य नवीन स्फुरणों में अनुप्राणित रखती है।''[26] धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरूषार्थों में मोक्ष को साध्य माना गया है। इस मोक्ष प्राप्ति के लिए साधन धर्म के रूप में ही जुटाये जाते हैं और पुनः काम के मोक्ष रूप में लीन हो जाते हैं।

कवि दिनकर ने काम के उन्नयनकारी स्वरूप को अन्तिम साध्य माना है। आज के द्वन्दमय, संघर्षशील, भौतिकवादी समाज के लिए काम का यही रूप साध्य होने पर जीवन में समन्वय संभव है। काम की सर्वमान्य शक्ति, अनुभूति और अनिवार्यता उर्वशीकार ने ग्रहण की है। काम का वह रूप दिनकर को ग्राह्य है जो केवल वासना के वशीभूत होकर शरीर आसक्ति ही नहीं रखता वरन् जिसमें तन और मन भी मिलकर एकाकार हो जाते हैं।''[27] डॉ. नगेन्द्र मानते हैं कि उर्वशी काव्य के तृतीय अंक में, काव्य का प्रतिपाद्य और उसका विवेचन हुआ है। कामवृत्ति तत्व मानव जीवन का प्रबल तत्व है। काम की सूक्ष्म, प्रबल, कोमल-कठोर, तरल-प्रगाढ़, मोहक-पीड़क, उद्वेग-सुखकर, दाहक और शीतल, मृण्मय और चिन्मय अनेकों रूप 'उर्वशी' में चित्रित हैं। इनमें सबसे आकर्षक है-'प्रेमरूप'।''[28] यह प्रेम काम की उदात्तीकृत अवस्था है। रागों में मैत्री का रूप है। इसे कवि ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है-''मनोविज्ञान जिस साधना का संकेत है, वह निषेध नहीं स्वीकृत और समन्वय का संकेत है, वह निषेध नहीं स्वीकार और समन्वय का संकेत है, वह संघर्ष नहीं, सहज, स्वच्छ प्राकृतिक जीवन की साधना है।''[29]

अतः 'काम' भाव ही उर्वशी का कथ्य है। इस काम की आत्मिक स्तर तक की लम्बी यात्रा, उसकी मानसिक अनुभूतियों का चित्रण, उस अनुभूति के कारण आलिंगनपाश में बंधे प्रेमी युगल को

वायवीय लोक में पहुँचा देना उर्वशी में गहराई से चित्रित किया गया है। जैविक धरातल से आत्मिक धरातल तक पहुँचने की 'काम' की स्थिति को कवि ने 'काम' का आत्मिक उन्नयन माना है-"इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की अध्यात्मिक महिमा है।"

कवि दिनकर द्वारा लिखी गई 'उर्वशी' की भूमिका में आज के संघर्षमय, द्वन्दमय ओर बुद्धिजीवी युग में एक नया मार्ग सुझाया है। काम का अतीन्द्रिय स्पर्श, प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है और इसी को 'कामाध्यात्म' कहा गया है। काम की इस आध्यात्मिक महिमा कों 'अध्यात्म' के रूढ़ अर्थ में ग्रहण किया गया है, किन्तु ऐसे काम को रूढ़ अर्थ में ग्रहण कराना दिनकर का उद्देश्य नहीं है, वरन् उनका तात्पर्य यह है कि हम 'काम' के स्वथ्य मार्ग को मानें जो समाज में आनन्द, प्रेम और उत्थान का ज्ञान करा सके।

कवि दिनकर का लक्ष्य काम के भव्य रूप को चित्रित करना है। इसके लिए उन्होंने उर्वशी और पुरूरवा के 'प्रेममय' 'काम' को लिया है, जिसमें आकर्षण के स्मरण, चिंतन और मनन से दोनों का मन प्रेममय हो गया। काम विव्हला उर्वशी पुरूरवा का सामीप्य पाने के लिए धरा पर आ गयी। तन और मन की काम की अनुभूतियों से एकाकार 'उर्वशी' पुरूरवा के मुख से, जब कामासक्ति को, दैहिक स्तर के मिलन को अंधकार का नाम देते सुनती है तो वह अपनी 'काम' की भोगपरक अनुभूतियों के लिए प्रश्न उठाती है कि प्रेममय आलिंगन अंधकार नहीं हो सकता वरन् वह तो इन्द्रियों की जड़ता को दूर कर तन-मन की ग्रन्थियों को खोल देता है।"[31] ऐसी कामानुभूतियाँ पशुधरातल की जैविक अनुभूतियाँ नहीं वरन् काम के सूक्ष्म सुख का आस्वाद कराने वाली हैं। इस 'काम' के एक नहीं वरन् अनेक रूप हैं। यह काम ऊर्जा की शक्ति को बढ़ा देता है, सद्कर्म की प्रेरणा देता है तथा कथनी और करनी में धर्म प्रवृत्ति का उन्नयन करता है। इस काम के एक नहीं वरन् अनेक रूप हैं। यह मनुष्य को पशुवत जन्तु भी बना सकता है और धार्मिक आस्थापूर्ण 'संत' भी। जो इसमें सूक्ष्म स्तर पर अनुभूति करता है उसे यह अलौकिक आनन्द प्रदान करता है। काम धर्म है, पाप भी। वह ऊँचा उठाता है और पशु श्रेणी तक गिरा भी देता है।"[32]

एक ही काम के दो रूप हैं, इसका कारण मन है। काम भोग के आंनद में आसक्त जब मन उसकी स्मृति संजोये रखता है, तब प्रेम शून्य मन, मात्र दैहिक स्तर पर उस आनंद को प्राप्त करने के लिए येन-केन-प्रकारेण यत्न करता है। जिसका परिणाम बलात्कार जैसे दानवी और घृणित कर्मों को जन्म देता है-"तन का काम अमृत, लेकिन, यह मन का काम गरल है।"[33] एक ओर कवि ने उस काम को उच्चकोटि का कहा है जिसमें तन ओर मन मिले रहते हैं। दूसरी ओर 'काम' के दानवी रूप का कारण मन को कहा है। मन का सम्बन्ध विचारण शक्ति से है। यदि मन के भाव शुद्ध, पवित्र, प्रेममय हैं तो दैहिक स्तर का काम तदनुकूल अनुभूति प्रदान करता है, किन्तु यदि मन में काम की कुण्ठा, उसके

आनन्द की प्रवृत्ति और अधिकाधिक शारीरिक आनंद की लिप्सा बनीं रहती है, तो कामवृत्ति वासना रूप में कुकृत्यों को जन्म देती है। दिनकर के शब्दों में - ''जीवन के सूक्ष्म आनंद और निरूद्देश्य सुख के जितने भी स्त्रोत हैं, वे कहीं न कहीं, काम के पर्वत से फूटते हैं। जिसका काम कुंठित, उपेक्षित अथवा अवरूद्ध है, वह आनंद के अनेक सूक्ष्म रूपों से वंचित रह जाता है।''[34] काम के इन्हीं सूक्ष्म रूपों की स्थापना दिनकर ने 'उर्वशी' में की है।

उर्वशी का लक्ष्य :

'उर्वशी' काव्य का लक्ष्य काम के इस वासनामय स्वरूप का निराकरण कर लोगों में स्वथ्य-भोग वाले 'काम' की स्थिति के प्रति विश्वास उत्पन्न करने में है। यह मन की तंत्रियों को झंकृत करके उसे उच्च शिखर पर पहुँचा देता है।

''परिरम्भापाश में बंधे हुए प्रेमी, परस्पर एक-दूसरे का अतिक्रमण करके, किसी ऐसे लोक में पहुँचना चाहते हैं, जो किरणोज्जवल और वायवीय हैं।''

''प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति वह भी है जो समाधि से मिलती-जुलती है। जिसके व्यक्तित्व का देवोपम विकास हुआ है, जिसके स्नायविक तार चेतन और सजीव हैं तथा जिसका मन स्वभाव से ही अर्ध्वगामी और उड्डयनशील है उसे काम के स्पर्श मात्र से इस समाधि का बोध होता है-

''तत्पाणिस्पर्शसौख्यं परमनुभवति सच्चिदानन्दरूपम्।
तत्रासीत् वाणभिन्नारतिपतैः योगनिद्रां गतैव।''[35]

इस दृष्टि से 'काम' केवल एक दैहिक आवश्यकता अथवा क्षणिक आनन्द का रूप नहीं वरन् एक ऐसा तत्व है जिसकी किरणोंज्जवल अनुभूति, हृदय में ईर्ष्या, घृणा, द्वेष और पारस्परिक वैमनस्य के भावों के स्थान पर करूणा, सहानुभूति, मैत्री आदि भावों से पूर्ण है। सत्त्व की प्रधानता से मनुष्य धीरे-धीरे सामान्य धरातल से ऊँचा उठता हुआ मानवता के गुणों से पूर्ण प्रतीत होती है और विस्तार भाव को प्राप्त करते-करते स्व-पर के भेद को भूल, निःस्वार्थ भाव से समदृष्टि रखते हुए सुकृत्यों में लग जाता है। यह निःस्वार्थ-भाव और समदृष्टि ही कवि दिनकर के 'काम' का आध्यात्मिक रूप है, जो पूर्णतः लौकिक स्तर पर वर्णित है। इसमें जीवन का मूलस्त्रोत 'काम' अपना सूक्ष्म और अलौकिक विस्तार करता है। इस 'काम' में व्यष्टि का सुख और आनंद तो है ही, साथ ही समष्टि का कल्याण भी निहित है। कवि को 'काम' का यह धर्ममय रूप ही अधिक प्रयोजनीय प्रतीत होता है।

दिनकर के अनुसार-''किन्तु विकसित और उदात्त हो जाने पर तो वह मनुष्य को बहुत कुछ वही शीतलता प्रदान करता है, जो धर्म का अवदान है।''

''धर्मोदर्थो अर्थतः कामः कामाद्धर्मः-फलोदयः।''- पद्मपुराण।

धर्म से अर्थ और अर्थ से काम की प्राप्ति होती है, किन्तु काम से फिर हमें धर्म के ही फल प्राप्त होते हैं।''36

इस स्थिति में 'काम' साधन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काम साधन भी है और धर्म रूप में साध्य भी। धर्म रूप में काम का साध्य रूप लौकिक स्तर का है। इसके लिए चित्त की एकाग्रता की आवश्यकता होती है। मनुष्य में ऐन्द्रिय से अतीन्द्रिय, स्थूल से सूक्ष्म और लौकिक से लोकोत्तर की ओर अग्रसर होने की इच्छा बनीं रहती है।

वैसे देखा जाए तो मध्यकालीन सभी संप्रदायों का लक्ष्य पर परमसत्ता से साक्षात्कार तथा मोक्ष रहा है। किन्तु 'उर्वशी' में कहीं भी हमें 'सिद्धि' या 'मोक्ष' के तत्व ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते। यद्यपि यह सच है कि शाक्त और तन्त्र के अलावा सहजयानियों ने लौकिक स्तर से अलौकिक की तरफ गमन की प्रक्रिया अपनाई है जिसमें सुरा, सुन्दरी आदि को माध्यम बनाया गया है। उनका साधन प्रवृत्ति में प्रवृत्त होकर, निवृत्ति की ओर बढ़ना था। किन्तु उर्वशीकार का काम प्रवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर गमन है, जिसमें प्रथम प्रवृत्ति जीवन की समान्य स्थिति है जो सभी मनुष्य जीते हैं और दूसरी प्रवृत्ति की तरफ गमन उनका है जो चैतन्य हैं तथा जीवन को जीवंतता का रूप देकर उसे सार्थक करना चाहते हैं। उर्वशी में कवि दिनकर ने काम की उदात्तीकरण स्थिति को लौकिक धरातल पर उभारा है। उन्होंने इसकी तुलना समाधि अवस्था से की हे। इसके लिए निष्काम भाव से जीवनयापन और भोग करने की जरूरत बतलाई है। समाधि की अवस्था निर्द्वन्द्वता की अवस्था है जब चित्त एकाग्र होकर अपनी पंचेन्द्रियों को स्वाभाविक रूप में स्पन्दित होने देता है उस पर न चिंतन का बोझ होता है और न क्रिया की प्रक्रिया। इस तरह जब नर-नारी समागम में यदि दोनों पात्र निर्द्वन्द्व भाव से, चित्त की एकाग्रता के साथ संयोजित होते हैं, तो काम की सूक्ष्म अनुभूतियाँ उनके उत्कर्ष की साधिका होती हैं। उपभोग के बाद स्वाभाविक स्थिति में लौट आने पर उनके चित्त पर स्वथ्य, आनन्दमय और उन्नयनकारी प्रभाव छाया रहता है, जिसकी प्रेरणा सत्वविध ायिनी और प्रकर्षकारिणी होती है। संतुष्ट, तृप्त और भोग से स्फुरित मन जीवन की कार्यप्रणालियों में एकाग्रता और स्वाभाविक आनन्द को भोगते-भोगते, आसक्ति के बीच अनासक्ति, लिप्तता के बीच निर्लिप्तता और मृण्मयभोग के बीच चिन्मययोग स्वयं ही आकर मिल जाते हैं।

अपने इस 'लक्ष्य' को काव्यमय रूप देने के लिए दिनकर ने 'पुरूरवा' और 'उर्वशी' के आख्यान को लिया है। सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्तव्यपक्ष का प्रतीक मनु और ढूड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावनापक्ष पुरूरवा और उर्वशी की कथा है। यह भावनापक्ष 'काम' का पक्ष है।

दिनकर ने कहा है-'' काम की ये जो निरन्तर झंकृतियाँ हैं, वे ही उदात्तीकरण के सूक्ष्म सोपान हैं। त्वचाऐं, स्पर्श के द्वारा सुन्दरता का जो परिचय प्राप्त करती हैं, वह अधूरा और अपूर्ण होता है। पूर्णता

पर वह तब पहुँचता है, जब हम सौन्दर्य के निदिध्यासन अथवा समाधि में सोते हैं।''[37] कवि दिनकर के सौन्दर्य के निदिध्यासन अथवा समाधि शब्दों से अर्थ योग का नहीं, वरन् भोग की निर्द्वन्द तन और मन की युगल-एकाकारिता की अवस्था से है। यहाँ काम एक समस्या के रूप में नहीं, वरन् प्रकृति की स्वच्छन्द धारा के रूप में है। उस पर योग, नियम, साधना आदि के बन्धन नहीं होते।

'उर्वशी' काव्य में इसी सहज और प्राकृतिक जीवन की साधना का प्रतिपादन करना कवि का लक्ष्य रहा है। वस्तुतः उर्वशी दिनकर की काव्य-शक्ति का समन्वित निरूपण है जो दार्शनिक, सामाजिक, साहित्यिक और कला प्रेमियों के लिए चिंतन-विचारणा का आरम्भ कराता है। भाव की सूक्ष्म गहन पकड़ के लिए भाषा, छन्द, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक सभी कलात्मक तत्व सहज ही जुटते चले आए हैं। कुछेक शब्दों को छोड़कर, कहीं भी बिम्बों और प्रतीकों ने अनाधिकार चेष्टा नहीं की है। संगीतात्मकता और छन्दोबद्ध लयात्मकता, भावों की अलौकिक अनुभूति के साथ, स्वर से स्वर मिलाकर लीन हो गयी है।

'उर्वशी' में 'काम' मूलप्रवृत्ति के माध्यम से, प्रेम की श्रृंगारिक उपासना, साधना और पुनीत भक्ति भावना की प्राप्ति की चेष्टा सन्निहित है। अलौकिकता के सूक्ष्म आवरण में आच्छादित स्थूलता के महत्व और अनिवार्यता को प्रतिस्थापित करती हुई यह रचना, यह काव्यकृति-किसी के भी हृदय को वश में करने की क्षमता से युक्त है।

(स) लोकायतन :

'लोकायतन' महाकवि पंत के विचारों और आदर्शों की लोकचेतना का महाकाव्य है। यह एक महान भागवत काव्य है जो जगत जीवन के विकास-ह्रास में विश्व चैतन्य के संचरण को समझाता है।''[38] इस विशाल महाकाव्य को पंत जी अपने सम्पूर्ण जीवन की संचित भाव राशि मानते हैं। इस महाकाव्य में कवि का समस्त जीवनदर्शन समाहित है। यह स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत लिखा गया महाकाव्य है। इसमें वर्तमान की विघटित परिस्थितियों की मांगलिक झांकी प्रस्तुत की गई है। कवि के अनुसार 'लोकायतन' का प्रतिपाद्य विषय है-''गाँधीयुग का मूल्यांकन और वह वैचारिक संक्रमण जो विज्ञान के द्वारा अतीत जीवन के भौतिक विकास तथा आंतरिक जीवन की संगति के ह्रास से पैदा हुआ है।''[39] लोकायतन का धरातल व्यक्तिगत नहीं है, विश्वजनीन है। यह भूत, वर्तमान और भविष्य की चेतना को एकसूत्रता में गूँथकर यह बतलाता है कि सबकुछ एक ही व्यापक सत्य के स्फुलिंग है। यह सत्य परिस्थितियों द्वारा अपने को व्यक्त करता है। अतः लोकायतन में पुरातन नवीन है और नवीन पुरातन है।''[40] इसमें पंत जी के सौन्दर्य बोध, भाव-चेतना, और विचार-नैवेद्य को समग्र रूप में देखा जा सकता है और कवि के विकास-सोपान में यह काव्य उच्चतम् स्थिति बिन्दु का द्योतक है। देश-काल सापेक्ष इसका महत्व है, क्योंकि भारतीयों को मध्ययुगीन भग्नावशेषों से उबारकर, यह काव्य नवीन दिशा में

पथ-निर्देश करता है। वैयक्तिक चैतन्य के लिए लोकायतन का महत्व इसलिए है कि बाहय हलचलों के मध्य रहकर भी वह अक्षत और आनंदमय रह सके, ऐसी प्रेरणाशक्ति लोकायतन के पाठक को प्राप्त होती है।

लोकायतन में पंत जी ने स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात् की भारत की कथा का वर्णन किया है। यह दो खण्डों में बाह्य परिवेश और अन्तश्चेतना में विभक्त है। 680 पृष्ठों के इस महाकार काव्य में अन्त:बाह्य का संतुलित उन्नयन, योगीराज अरविंद का अतिमानस दर्शन, भारत की युगीन स्थिति, समकालीन संघर्ष-संकुल जीवन, समस्त आपाधापी, गांधीवाद का जागरण स्वर तथा जीवन के शाश्वत् मूल्यों का अवतरण एवं विश्व की आधुनिकतम वैज्ञानिक प्रगति को संयोजित करने का सफल प्रयत्न किया गया है। इसके अलावा इन दोनों खण्डों में कवि ने विषम देशकाल, परिस्थितियों और अन्धविश्वासों से जर्जरित भारतीय जनजीवन का सुन्दर और मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। इसीलिए विद्वानों ने इसे व्यष्टि-चेतना का काव्य नहीं बल्कि समष्टि चेतना के सामूहिक कर्मका काव्य कहा है।''[41] चेतना काव्य की दृष्टि से लोकायतन का महत्व सर्वथा निर्विवाद है क्योंकि इसमें मानव के सर्वांगीण रूपांतरण को दर्शाया गया है।''[42]

नामकरण की सार्थकता :

लोकायतन में सम्पूर्ण विश्व का 'आयतन' अर्थात् चित्र है। इसमें लोकजीवन छिपा हुआ है। प्रत्येक महाकाव्य अपनी युग की परिस्थितियों से प्रभावित होता है और युग-चेतना का अंकन जाने अनजाने हो जाता है। परन्तु लोकायतन ऐसा महाकाव्य है जिसका गठन पूर्णतया लोकचेतना पर आधारित है। कवि तो यहाँ तक स्वीकार करता है कि युग-जीवन ने ही उन्हें प्रबंध काव्य लिखने को बाध्य किया है। महाकाव्य में भी पंत यत्र-तत्र इस बात की पुष्टि करते हैं-

जग जीवन के तत्वों को चुन धुनकर
प्रमुख वृत्तियों की पूनी कर निर्मित,
कथा सूत्र बँट, बुनो लोक जीवन पट,
मानव उर कर नव भू गरिमा मंड़ित।''[43]

कथावस्तु :

'लोकायतन' दो भागों में विभक्त है। प्रथमखण्ड बाह्य परिवेश है जिसमें पूर्वस्मृति, आस्था, जीवनद्वार, संस्कृतिदार, मध्यबिन्दु: ज्ञान, इस तरह के चार अध्याय हैं। जीवनद्वार अध्याय के तीन विभाग हैं-युगभू, ग्राम शिविर और मुक्तियज्ञ। संस्कृति द्वार के भी तीन विभाग हैं-आत्मदान, संक्रमण (ह्रास: विध्न: विकास) और मधुस्पर्श।

दूसरे खण्ड का शीर्षक है अंतश्चैतन्य, जिसमें कलाद्वार, ज्योतिद्वार और उत्तरस्वप्न (प्रीति) तीन अध्याय हैं। कला द्वार के तीन विभाग हैं-संस्थान, द्वन्द, विज्ञान। ज्योतिद्वार के भी तीन विभाग हैं-अन्तर्विकास, अन्तर्विरोध और उत्क्रांति।

'लोकायतन' की कथा के दो खण्डों में प्रथम खण्ड 'पूर्वस्मृतिः आस्था' काव्य की भूमिका के रूप में आता है। इस सर्ग के प्रारंभ में कवि ने दार्शनिक विचारों को प्रतिष्ठित करने के लए प्रयत्न किया है। इस खण्ड को हम लोकायतन की आधारशिला कह सकते हैं। नवयुग में नवीन-जीवन बिताने का बोध पाठकों को देने के साथ ही उन्होंने राम, सीता, लक्ष्मण, उर्मिला, ऋषि बाल्मीकि आदि पात्रों का सहारा लेकर भागवत धर्म का परिचय दिया है।

राम के वनवास का कारण यह बताया गया है कि प्रत्येक मानस क्षुद्रता के आवरण में पड़ा है। इस क्षुद्रता के आवरण को हटाने पर ही मानव का उत्थान संभव है। सीता के सौन्दर्य का चित्रण कवि के द्वारा दार्शनिक ढांचे में ढला हुआ दिखाई देता है। सीता में परा और अपरा शक्तियों का निवास होता है इसलिए वह पूज्यनीय हैं। सीता और राम में अन्तर केवल इतना है कि राम अव्यक्त हैं तो सीता व्यक्त और अव्यक्त, दोनों हैं। पंत का यह प्रतीकात्मक प्रयोग अवश्य ही नवीन है।

इस महाकाव्य में बाल्मीकि शिक्षा देते हैं कि प्राचीन भारतीय आदर्शों को नवयुग के अनुरूप रूपायित करना चाहिए। कवि ने यहाँ आध्यात्मिक और भौतिक जीवन के समन्वय पर बल दिया है।

प्रथम खण्ड का दूसरा भाग, 'जीवन-द्वार' है। यहाँ से कवि की दार्शनिकता और प्रकृति प्रेम का आभास मिलता है। यहाँ से ही 'लोकायतन' का मूल कथानक प्रारंभ होता है। सन् 1925-30 के आसपास की भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय अवस्था में पहुँच गयी है कि सारी जनता एक कष्टपूर्ण जीवन बिता रही है। भारत की विगत स्वर्णिम सभ्यता और संस्कृति के खण्डहर के रूप में, 'सुन्दरपुर' नामक जनपद अपनी जर्जर अवस्था में स्थित था। भारत उस समय परतंत्र था। जनता में जाग्रति लाने के लिए 'वंशी' और 'हरि' का आगमन हुआ। 'वंशी' एक कवि है और 'हरि' उसका सहचर है और 'सिरी' हरि की बहन है। भाई-बहिन आधुनिक शिक्षा प्राप्त युवक और युवती हैं। देश को आजाद कराने के लिए 'वंशी' और 'हरि' गंगाजल छूकर व्रत लेते हैं। तीसरी भूमिका महात्मा गांधी का स्वतंत्रता-संग्राम जिसे 'मुक्तियज्ञ' शीर्षक का नाम दिया गया है। इसमें विशेष रूप से गांधी जी के नमक-सत्याग्रह आन्दोलन और उनकी दाण्डी यात्रा को केन्द्र में रखा गया है।

'आत्मदान' शीर्षक सर्ग के अंतर्गत कवि ने सम्पूर्ण भारतीय परिवेश का निरीक्षण करके अपने विचार तथा अनुभव की अभिव्यक्ति की है। उन दिनों की घटित घटनाओं का चित्रण कवि ने वितृष्णा के साथ किया है।

'विघटन' शीर्षक के अंतर्गत भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों तथा भाषागत वाद-विवादों का खूब वर्णन किया है। 'मधुस्पर्श' सर्ग में कवि ने 'कामायनी' की आलोचना की

है। इस सर्ग में कवि ने आनन्द की समरस, भूमि से मानव को धरती पर उतारने की कल्पना की है। यहाँ पर कवि मुक्त होकर प्रकृति सौन्दर्य का चित्रण करता है।

इसके पश्चात् 'मध्यबिन्दु ज्ञान' नामक सर्ग में अरविन्द दर्शन के मूल तत्वों को कवि ने प्रस्तुत किया है। इसे 'अरविन्द सर्ग' कहें तो ज्यादा उचित होगा। प्रस्तुत सर्ग में कवि ने स्वर्गीय चेतना के अवतरण का आव्हान किया है जिसके आने से मानव जगत एक दूसरी ही भूमि पर पहुँच जायेगा, वह भूमि तो पृथ्वी पर ईश्वर के प्रवेश और प्रसार की भूमि होगी। मानव को तप, त्याग और तपस्या से अपना जीवन धन्य बनाना है। ऐसा करें तो ब्रह्म साकार होकर मानव मन में बास करेगा। इस प्रकार संसार के सभी लोगों में ईश्वर की सत्ता व्याप्त रहेगी।

"तप-त्याग तपस्या अर्पित कर जन-भू हित
मानव जीवन करना तुमको नव निर्मित
देखोगी तुम साकार ब्रह्म दिङ् मुकुलित,
ईश्वर की सत्ता एकमेव सब में स्थित।"[44]

लोकायतन का दूसरा खण्ड बाह्य परिवेश या अन्तश्चैतन्य है। इसके आंरभ में कवि ने दार्शनिक तथ्य का उल्लेख किया है। कवि ने यहाँ पर इस बात पर बल दिया है कि मानव के बीच जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा सामाजिक जीवन में संस्कृति का द्वार खोलना है। कवि ने आधुनिक वर्ग संघर्ष तथा उसके भौतिक आधारों के प्रति अपना विरोध प्रकट किया है और संघर्ष के द्वारा नहीं बल्कि सहयोग के माध्यम से विश्व का विकास संभव बताया है।

'द्वन्द्व' नामक सर्ग में सत् और असत् के बीच के द्वन्द्व का वर्णन हुआ है। कवि ने सत् और असत् दोनों को ही एक ही तत्व का रूप माना है। इसके पश्चात् 'ज्योतिद्वार' नामक सर्ग में अन्तर्विकास, अन्तर्विरोध और उत्क्रांति नामक तीन सर्ग रखे गए हैं। प्रथम भाग के अंतर्गत कवि की मूलभूत धारणा यह निकाली है कि मानव सभ्यता का उत्थान उसके आंतरिक उन्नयन से ही संभव होगा।"[45] 'अन्तर्विरोध' नामक दूसरे सर्ग में नवीन मानव समाज की सुन्दर कल्पना की गई है। वंशी उस नवीन समाज का मुख्य संचालक है। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि मानवता को उदात्त धरातल पर पहुँचाना अत्यंत कठिन कार्य है, परन्तु यह अत्यंत आवश्यक भी है, क्योंकि राष्ट्रों को निःशस्त्र कराना या युद्धों का वर्जन करना मात्र हमारा ध्येय नहीं है- इससे भी बढ़कर मानव के मानसिक धरातल पर उन आदर्शों को स्थापित करना है जिससे कि इस धरित्री पर शांति की प्रतिष्ठा हो सके-

"निखिल शक्तियों में जगती की
प्रेम शक्ति ही निश्चय अविजित,
नम्र, लोक जीवन रचनारत,
मंगलमयी, सृजन रस संस्कृत।"

× × × × ×

नव आदर्श-समर्पित जीवन।''[46]

'उत्क्रांति' नामक सर्ग में प्राकृतिक वर्णन को अधिक महत्व दिया गया है जिसमें दार्शनिक आवरण का आभास मिलता है। इसके बाद 'उत्तर स्वप्न' नामक अंतिम सर्ग के आरंभ में कवि की अन्तरात्मा को 'अणु बम' का पूर्वाभास मिल जाता है। वह सहसा केन्द्र में अन्तर्ध्यान हो जाता है, केन्द्र का कार्यभार एक विदेशी महिला 'मेरी' सम्हालती है वह वंशी के गुणों पर मोहित होकर उसकी शिष्या बन जाती है। एक दिन सुन्दरपुर पर भी अणु विस्फोट होता है और वहाँ का संस्कृति केन्द्र नष्ट्र भ्रष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व हाहाकार कर उठता है और अधिकांश जनता अणु-युद्ध के महायज्ञ में स्वाहा हो जाती है। भाग्यवश 'मेरी' जीवित बच जाती है और जो व्यक्ति बचते हैं उन्हें लेकर हिमालय के प्रांगण में एक नवीन सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना करती है जिसे 'लोकायतन' की संज्ञा दी गई है। इससे कवि का स्वप्न साकार होता है और इस धरा पर ही स्वर्ग उतर आता है।

'उत्तर स्वप्न' के शेष भाग में कवि ने मानव समाज के सांस्कृतिक उन्नयन की सभी दिशायें प्रदर्शित की हैं। जीवन के सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक सभी क्षेत्रों में पुरानी विधियों का अन्त हो रहा है और नवीनता का संचार हो रहा है। कवि ने प्राचीन संस्कारों और साधना-विधियों पर कोई आस्था नहीं दिखाई है, इसके एकांगीपन के कारण उन्होंने इसका घोर विरोध ही किया है। पुराने संस्कारों को कवि ने इसलिए उपेक्षित किया है कि उसमें केवल व्यक्ति की मुक्ति की प्रधानता है लेकिन मानव आत्मा के विकास को कोई महत्व नहीं दिया गया है।

इस तरह 'लोकायतन' की कथावस्तु निश्चित रूप से व्यापक है पर कवि ने इसमें अनेक अवांतर और आप्रासंगिक घटनाओं को उभारा है। जिससे प्रधान घटना के रूप में 'कला केन्द्र की स्थापना' का उद्देश्य दबता सा चला गया है। इसमें जो अवांतर कथाऐं मुख्य रूप से आयी हैं वे हैं-रामायण युग का रूपक, चुनाव-वर्णन, यात्रा वर्णन और दार्शनिक वादों की व्याख्या। जबकि इनका मुख्य कथावस्तु से विशेष कोई सम्बन्ध नहीं है।

फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'लोकायतन' की कथावस्तु सरल और साध ारण होते हुए भी जटिल बन गयी है। अवांतर कथाओं का बाहुल्य, नायक का विस्तृत कार्यक्षेत्र और घटना-वैविध्य इत्यादि के कारण महाकाव्य का कथानक सुसंगठित नहीं हो पाया है, लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो इतना अवश्य है कि 'लोकायतन' नये महाकाव्यों में सबसे पहला दुःखांत महाकाव्य है। इसका कथानायक अपने चरम लक्ष्य की पूर्ति के पूर्व ही चल बसता है। सर्गो की दृष्टि से भी यह महाकाव्य की श्रेणी में नहीं आता क्योंकि प्राचीन शास्त्रीय नियमों के अनुसार महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग और अधिक से अधिक पन्द्रह सर्ग होना चाहिए। लेकिन 'लोकायतन' में केवल सात ही सर्ग

हैं। फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि यह चिंतन-प्रधान और विचार-प्रधान काव्य है जिसमें आरम्भ से लेकर अंत तक अभिव्यक्ति का सतत् उच्च स्तर बना रहता है।

चरित्र-चित्रण :

'लोकायतन' के पात्रों का चयन वर्तमान जीवन से किया गया है। सभी चरित्र ''मानव चेतना के पालकी वाहक हैं।''[47] वैसे इसमें दो प्रकार के पात्र हैं। एक तो वे हैं जो मध्ययुगीन धार्मिक मान्यताओं और अन्धविश्वासों के प्रति आस्थावान हैं। इनमें माधो गुरू और उनके शिष्य आते हैं। दूसरे प्रकार के वे पात्र हैं जो मध्ययुगीन मान्यताओं और अंध विश्वासों के विरोधी हैं। इनमें वंशी, हरि, सिरी, शंकर, प्रीति, अतुल और मेरी आते हैं।

कवि वंशी इस महाकाव्य का नायक है। वह एक साधरण पात्र है तथा अपने चारित्रिक उत्कर्ष के कारण लोकायतन का नायक है। वह भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में कारावास भुगतने के कारण एक राजनैतिक चरित्र बन गया है। स्वतंत्रता के बाद वंशी में सुधारवादी प्रवृत्ति जाग्रत होती है। वह 'सुन्दरपुर' में कला केन्द्र की स्थापना करता है और अशिक्षित युवक और युवतियों की शिक्षा की व्यवस्था करता है। लोकायतन का दूसरा मुख्य पात्र माधो गुरू है। उसके दो रूप हमारे सामने आते हैं। पहले वह मध्ययुगीन संस्कृति के समर्थक और पक्षपाती हैं। वे प्राचीन धार्मिक मान्यताओं के प्रचार-प्रसार के लिए एक आश्रम की स्थापना करते हैं। वे इस महाकाव्य में एक खलनायक के रूप में आते हैं। वे वंशी और कलाकेन्द्र की प्रसिद्धि सुनना पंसद नहीं करते। इसलिए कलाकेन्द्र को नष्ट करने के लिए वे अपने शिष्यों को आदेश देते हैं। इसी संघर्ष में हरि की मृत्यु हो जाती है। तीसरा प्रमुख पात्र हरि है वह वंशी की प्राणरक्षा में अपने प्राणों का बलिदान कर देता है।

'सिरी' और 'मेरी' दोनों ही नारी पात्र हैं। वे दोनों नायिका की भूमिका पर आती हैं। शंकर, अतुल आदि का चरित्र काव्य में निखर और उभर नहीं सका है। प्रत्येक पात्र चाहे वंशी हो या हरि, शंकर हो या सिरी, संयुक्ता हो या मेरी, सौम्य पराक्रम के सजीव उदाहरण हैं। सभी का जीवन गांधी जी की ही तरह समाज सेवा तथा लोकमंगल के हित में सौम्य रूप में समर्पित है।

डॉ. सावित्री सिन्हा ने 'लोकायतन' के पात्रों के सम्बन्ध में कहा है-''घटनाओं की तरह ही लोकायतन के पात्र भी एक विराट् आलम्बन के अंग मात्र हैं। लोकायतन के पात्र अधिकतर बौद्धिक गोष्ठियों में भाग लेने वाले व्यक्तियों की तरह मतलब की बातें संक्षेप में करते हैं। जहाँ ज्यादा बोलते हैं वहाँ एक ही बात को बार-बार दोहराते हैं। सहज मानवीय धरातल की बातें करने का उन्हें अवसर नहीं मिलता है और उनका अर्द्धव्यक्त व्यक्तित्व समष्टि की विराटता के घटाटोप में विलीन हो जाता है।''[48]

रस और भाव-व्यंजना- शास्त्रीय नियमों के अनुसार काव्य में श्रृंगार, वीर और शांत रसों में से एक

रस प्रधान रस होता है और शेष अन्य रस गौण रूप में काव्य में प्रयुक्त होते हैं। रस की दृष्टि से 'लोकायतन' दोषपूर्ण है, क्योंकि इसमें रस का सुन्दर परिपाक नहीं हो पाया है। अंगी या प्रधान रस कोई है ही नहीं। कहीं कहीं पंत जी ने अतिशय श्रृंगार का वर्णन अवश्य किया है। श्रृंगार के गोपनीय भावों का वर्णन करने में भी पंत जी को कोई हिचकिचाहट नहीं हुई है। जैसे- प्रेमियों द्वारा प्रेमिकाओं का गाढ़ालिंगन, नग्न जलक्रीड़ा आदि। वीर रस और रौद्र रस की सफल योजना माधोगुरू के शिष्यों और कला केन्द्र के युवकों के संघर्ष में कवि ने की है।

लोकायतन का शिल्पः लोकायतन की भाषा 'तत्सम्प्रधान' है। कहीं कहीं पर तो भाषा एकदम् संस्कृतनिष्ठ हो गई हैं। संस्कृत प्रधान भाषा होने के कारण लोकजीवन की अभिव्यक्ति अस्पष्ट हो गई हैं, छंद की दृष्टि से लोकायतन में अनेक नवीन रूपों का निर्माण किया गया है। परम्परागत मात्रिक छंदों के साथ-साथ मुक्त छंदों का भी प्रयोग हुआ है। 'प्रतीक' की दृष्टि से देखें तो मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों ही प्रकार के प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं। विशेषकर सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, ऐतिहासिक, प्रकृति और आध्यात्मिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए साहित्यिक प्रतीकों का प्रयोग किया गया हैं। 'लोकायतन' की 'बिम्ब-योजना' अपेक्षाकृत काफी प्रभावशाली जान पड़ती है। यह बिम्ब ही एक प्रकार से भावों के मूर्त्तिकरण के एक मात्र साधन हैं। लोकायतन में विशेषरूप से तीन तरह के बिम्ब देखे जा सकते हैं-ऐन्द्रिय बिम्ब, मानस बिम्ब, और इतर बिम्ब। अलंकारों की दृष्टि से लोकायतन में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, व्यतिरेक, दीपक, मालोपमा, अपन्हुति आदि अनेक अलंकारों के साथ-साथ मानवीकरण, घ्वन्यार्थ व्यंजना, विशेषण-विपर्यय इत्यादि अंग्रेजी अलंकारों का प्रयोग भी लोकायतन में पंत ने किया हैं।

उद्देश्य :

लोकायतन का उद्देश्य आध्यात्मिक दृष्टि द्वारा वर्तमान युग जीवन को परिवर्तित करना है। कवि ने इसमें अध्यात्मवाद और भौतिकता के समन्वय को प्रकट किया है। अरविंद दर्शन से प्रभावित होने के कारण कवि ने आत्मा को भौतिक जीवन के विकास और उत्थान में सहायक बताया है। अरविंद दर्शन आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय पर जोर देता है। कवि इस धरती पर दिव्य जीवन का अवतरण कर मानव को ही ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है-

''अग जग में निखिल चराचर में
जीवन विकास पथ में ईश्वर । ''[49]
x x x x x
जग में ही संभव प्रभु दर्शन।''[50]

लोकायतन का एक और उद्देश्य मध्ययुगीन जीर्ण-शीर्ण और जर्जरित धार्मिक व्यवस्थाओं, रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों पर आघात करने का भी रहा है। कवि नें लोकायतन में मध्य-युगीन जीवन-विमुख अध्यात्मवाद, धार्मिक मान्यताओं एवं अंधविश्वासों पर गहरी चोट की है और मुक्त भोगी

जीवन का उपदेश दिया है। अतः लोकायतन में राग-मुक्त भोगी जीवन की उपयोगिता को प्रतिपादित करना भी कवि का एक मुख्य उद्देश्य रहा है।

हम यह भी कह सकते हैं कि आज के पीड़ित दिग्भ्रमित और अनास्थावान मानव को निर्माण और शांति की ओर अग्रसर कराना ही 'लोकायतन' का उद्देश्य है। इस महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि दिखलाई है। पर अन्ततः मोक्ष को ही प्रधानता दी गई है। कवि का उद्देश्य मनुष्य को हर्ष-विषाद और सुख-दुःख से निकालकर परमशांति और मुक्तजीवन प्रदान करना है।

(द) मूकमाटी- इसी सदी के सर्वमान्य जैनाचार्य, आचार्य विद्यासागर की बहुचर्चित काव्य-कृति 'मूकमाटी' पर शताधिक समीक्षाऐं लिखीं जा चुकी हैं। यह एक ऐसी रचना है जिस पर सभी मूर्घन्य विद्वानों ने अपनी राय स्पष्ट करते हुए 'एक स्वर' में कहा है कि काव्य, कला, अध्यात्म, दर्शन, प्रकृति समाज और जीवन के बहुविध-प्रसंग जिस रूप में इस काव्य-कृति में समग्रता के साथ देखने को मिलते हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं।" अब हम इस महनीय कृति का महाकाव्य की कसौटी पर परीक्षण करने का प्रयास करेंगे।

'मूकमाटी' एक सर्गबद्ध काव्य है, जिसमें चार सर्ग हैं:

खण्ड-एक : संकर नहीं वर्ण-लाभ
खण्ड-दो : शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं।
खण्ड-तीन : पुण्य का पालन, पाप-प्रक्षालन।
खण्ड-चार : अग्नि की परीक्षा, चाँदी-सी राख।

'मूकमाटी' का नामकरण माटी के नाम पर किया गया है। इस तरह से यह नायक नहीं वरन् नायिकाप्रधान काव्य है, यह -रूपक के माघ्यम से अघ्यात्म पूरक काव्य हैं, अतः इसमें दूसरे महाकाव्यों की तरह नायक और नायिका की परिकल्पनाऐं नहीं की गई हैं। इसमें सरिता तीर पर पड़ी माटी मूकभाव से माँ धरती से अपने उद्धार की प्रार्थना करती है और माँ के निर्देश पर प्रतीक्षा करती है कि शिल्पी रूपींगुरू' उसका उद्धार करके उसे मंगलकलश का रूप देगा, जिससे भक्त सेठ प्रथम एक महामुनि को आहार दान देगा और अंत में उसे ज्ञानी मुनि के चरणों में समर्पित करेगा।

मूकमाटी का नायक शिल्पी कुम्भकार है परन्तु नायक-नायिका का सम्बन्ध लौकिक रति का न होकर भक्ति भावना पूर्ण हैं। माटी माँ धरती से अपने उद्धार की बात कहते हुए अपनी दीन दशा को इस रूप में प्रकट करती है-

> **"स्वयं पतिता हूँ, और पतिता हूँ औरों से,**
> **.........अधम पापियों से/ पद-दलिता हूँ माँ! "**[51]

x x x x x

'माटी ' कहती है-
इस पर्याय की / इति कब होगी?
इस काया की / च्युति कब होगी?/ बता दो, माँ .... इसे! ''52

धरती उसे सांत्वना देती हुई विश्वास दिलाती है कि कल प्रभात में कुम्भकार तुम्हारा उद्वार करने आयेगा। तुम्हें पतित से पावन बनने के लिए उसके चरणों में अपने आपको समर्पित करना है।

यहाँ पर कुम्भकार अध्यात्म का प्रतीक 'नायक' है जो एक तरह से धीरोदात्त नायक के सभी गुणों से युक्त है। इसके सम्बन्ध में कवि स्वयं कहता हैं-

''अविकल्पी है वह / दृढ़ संकल्पी मानव
अर्थहीन जल्पन / अत्यल्प भी जिसे / रूचता नहीं कभी /
युग के आदि में/ इसका नामकरण हुआ है
कुम्भकार! / 'कु' यानी धरती / और /''भ' यानी भाग्य
यहाँ पर जो / भाग्यवान भाग्य-विधाता हो/ कुम्भकार कहलाता है।''53

ये गुण इस बात को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करते हैं कि कुम्भकार शिल्पी द्वन्द्व से रहित एक द्वढ़संकल्पी व्यक्ति है तथा वह इतना धीर-गंभीर है कि उसे जरा भी व्यर्थ की जलन रूचिकर नहीं है। वह स्वयं भाग्यवान होने के साथ-साथ भाग्य विधाता भी है।

इसी तरह नायिका 'माटी' में भी सर्वथा अनुकूलता का भाव दिखाई देता है, माटी की विनम्रता और उसके स्वयं के उद्वार की भावना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, माटी के उद्वार की प्रक्रिया के दौरान उसने जो अत्यंत धैर्यपूर्वक उपसर्ग सहे हैं उनसे भी 'माटी' की गरिमा, महिमा, धैर्य और सहिष्णुता की अनुभूति होती है।

मूकमाटी का प्रधान रस, शांत है। अन्य रसों में श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक और अद्‌भुत रस गौण रूप में अंकित हुए हैं। इस काव्य-कृति में माटी के रूप में एक मुमुक्षु आत्मा है जो संसार के कष्टों से मुक्ति चाहती है। अतः उसे एक ऐसे पथ प्रदर्शक की आवश्यकता है, जो स्वयं कुशल हो, उदात्त हो तथा निष्ठावान हो और वह माँ धरती के कथनानुसार कुंभकार रूप गुरू के रूप में उसे प्राप्त करती है। पुनः माटी की सम्पूर्ण साधना मुक्तिपरक है जिसके कारण समस्त विवेचन शांतरस से ओतप्रोत दिखाई देता है।

''जिस प्रकार दुःख के बिना सुख का वास्तविक रसास्वाद संभव नहीं' और रात्रि के अभाव में दैनिक विकास, आल्हाद और कार्यपरता की संभाव्य फलता पूर्ण नहीं होती, उसी प्रकार अन्य रसों के अभाव में विरक्ति परक शांतरस भी नीरस है। निर्जन में तपोनिष्ठ मुनि की निश्चलता की सिद्वि हेतु उपसर्ग और परीषहों का आना अनिवार्य सा होता है। तथा संयम की द्वढ़ता के निमित्त सुरांगनाओं का आकार कामोत्तेजक भाव-भंगिमाओं से नृत्य करना कवि परम्परा में प्रायः आवश्यक हैं। शांतरस की पुष्टि के लिए भी अन्य रसों का स्थान-स्थान पर चित्रण अपरिहार्य ही है। यही कारण है कि इस काव्य में भी यथास्थान श्रृंगारादि रसों का गौण रूप में बड़ा ही मनोहारी चित्रण हुआ हैं।''[54]

मूकमाटी में नाटक की समस्त संधियाँ भी देखने को मिलती हैं। संधियों की संख्या पॉच मानी गई है- मुखसन्धि, प्रतिमुख, गर्भसन्धि, विमर्श और निर्वहण संन्धि। मुखसन्धि में उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य का समारम्भ होता है। प्रतिमुख सन्धि में उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निमित्त प्रयत्न होता हैं। गर्भसन्धि में उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आशा की अनुभूति होने लगती है तथा निर्वहण सन्धि में लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

मूकमाटी के प्रथम खण्ड-' संकर नहीं, वर्ण लाभ, में प्रारंभ से ही 'मुख-संधि' है, क्योंकि इसमें पतिता माटी रूप का मुमुक्षु आत्मा के सदृश मुक्ति रूप उद्देश्य की प्राप्ति का उपक्रम होता है। माटी की मूक प्रार्थना को सुनकर शिल्पी कुम्भकार उसके उद्वार की प्रक्रिया प्रारम्भ करता है। मिट्टी को खोदना, उसके कंकर पत्थरों को अलग करना और फिर छानना, ये सभी क्रियायें एक प्रकार से उद्देश्य प्राप्ति के प्रारंभिक रूप हैं।

मूकमाटी का द्वितीय खण्ड-'शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं' प्रतिमुख सन्धि के अन्तर्गत आता है। इसमें लक्ष्य प्राप्ति के प्रयत्न को दर्शाया गया है। कुम्भकार को मिट्टी के कलश बनाना है अतः वह कुऐं से पानी निकालता है। इसके लिए वह रस्सी की गांठ खोलता है, शीत में शीतल जल से उत्पन्न बाधाओं पर विजय प्राप्त करता है, कुऐं के अंदर की मछलियों की व्यथा-कथा सुनता है तथा जल से मिट्टी को गीलाकार उसे पुनः रौंदता है। ये सारी क्रियायें लक्ष्य प्रीप्ति की एक प्रकार से यत्न मात्र हैं। इसी मध्य माटी और कुंभकार के मध्य संवाद तथा आध्यात्मिक चिंतन से भी उद्देश्य को गति मिलती है। शिल्पी कुंभकार मिट्टी का लौंदा चाक पर रखकर घर का निर्माण करता है और फिर उस पर अनेक चित्रबनाकर उसे सूखने रख देता है। इस स्थिति के मध्य कवि ने प्रसंगवश अनेक रसों का भी चित्रण किया है जो अध्यात्म की आभा से युक्त है।

मूकमाटी की तीसरी संधि है- 'गर्भ सन्धि'। इसमें कथा के प्रवाह को देखकर श्रोता और पाठक को इस बात की प्रतीति होने लगती है कि कवि अपने उद्देश्य में निश्चित रूप से सफल होगा।

यह सन्धि काव्य के तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन, पाप-प्रक्षालन, में दृष्टिगोचर होती हैं यह खण्ड वर्षा से प्रारंभ होता है तथा इसमें सागर, जलधर, सूर्य, चन्द्र एवं सारगर्भित जलचरों का बड़ा ही मनोरम वर्णन देखने को मिलता है। इसमें माटी से निर्मित कलश को ध्वस्त करने के लिए समस्त जलीय तत्व इसका प्रतिरोध करते हैं और यह घात-प्रतिघात बड़ी कुशलता से कथा को लक्ष्यपूर्ति की ओर ले जाता है। अन्त में मेघों का उत्पात समाप्त होता है और सूर्य अपनी उज्ज्वल आभा के साथ प्रकट होता है और कुम्भकार अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

कुम्भकार को स्वाभाविक अवस्था में देखकर कुम्भ कहता है।- 'परिषह-उपसर्ग के बिना स्वर्ग-अपवर्ग की उपलब्धि कभी नहीं होती।' यह सुनकर कुम्भकार कहता है-

आशा नहीं थी मुझे कि
अत्यल्पकाल में भी/इतनी सफलता मिलेगी तुम्हें।
अब विश्वस्त हो चुका हूँ/पूर्णतः मैं/कि
पूरी सफलता आगे भी मिलेगी।''[55]

मूकमाटी में चौथी और पाँचवी सन्धियाँ विमर्श और निर्वहण हैं। विमर्श सन्धि कथा के उस भाग में होती है जो हमें फल-प्राप्ति के प्रति निकट ले जाता है और 'निर्वहण सन्धि' उस अन्तिम भाग में होती है जहाँ उद्देश्य की प्राप्ति होती है। कुम्भकार शिल्पी एक अवा बनाता है और उससें विविध प्रकार की लकड़ियों के मध्य माटी-कलश को रखता है तथा उसके साथ और भी अनेक कलशों को रखता है। यह कुम्भ की अग्नि परीक्षा है। जब कुम्भ पककर परिपक्व हो जाता है तो उसे देखकर कुंभकार को महान हर्ष होता है कि उसकी साधना फलवती हुई।

कुम्भ के पक जाने पर उसके मन में एक विचार आया कि क्यों न मैं किसी महात्म का दानपात्र बनूँ और अंत में किसी परमहंस के चरणों में समर्पित हो जाऊँ। वह समय भी आ गया जब नगर सेठ ने सेवक के द्वारा उस कुम्भ को अपने यहाँ मंगवा लिया। नगर में संत के आगमन के साथ ही नगरवासियों द्वारा उनके आहार का आयोजन किया गया। 'संत' भी सौभाग्य से पड़गाहन के दौरान सेठ के यहाँ रूके। सेठ ने अपना अहोभाग्य मानकर संत का पाद-प्रक्षालन कर आहार दान किया। 'संत' ने स्वर्ण और रत्नजड़ित पात्रों से आहार दान न लेकर माटी के कलश से ही आहार ग्रहण किया। कलश ने अपने आपको धन्य समझा। आहार ग्रहण करने के उपरांत संक्षिप्त उद्‌बोधन देकर मुनि श्री वन की ओर प्रस्थान कर गये। यह सम्पूर्ण वृत्तान्त 'विमर्श-संधि' के अंतर्गत समाहित है।

इसके उपरांत 'निर्वहण-संधि' के अंतर्गत सम्पूर्ण घटना कथा आती है। मुनि श्री के वनगमन के पश्चात् सेठ मन्दिर जी में दर्शन करने के उपरांत सपरिवार भोजन ग्रहण करता है। यहाँ अपमानित

स्वर्णकलश तथा अन्य पात्रों के साथ कुम्भ के मध्य बड़ा ही रोचक और प्रेरणास्प्रद संवाद होता है। कुम्भ के तर्क अत्यंत सहज और ज्ञान से मिश्रित रहते हैं। इसी दौरान सेठ को अनिद्रा रोग सताने लगता है। समस्त उपचार व्यर्थ हो जाने के बाद सेठ को अंत में माटी के उपचार से ही लाभ होता है। जिसके कारण पुनः स्वर्णादि पात्रों को कष्ट होता है। अंत मेंसेठ आतंकवाद से भागता बचता बचाता हुआ नदी के तट पर पहुँचता है वहाॅं पर भी मेघों का प्रवाह और नदी का उत्पात उसे परेशान करता है, लेकिन कुम्भ का घट सेठ के परिवार को नदी से पार उतार देता है।

सेठ ने कुम्भ को हाथ में लेकर उसका अभिवादन किया। सभी लोग एकचित्र हो जाते हैं। कुम्भकार भी वहीं आ जाता है क्योंकि उसने घट की माटी को उसी नदी के किनारे से लिया था। वहाँ पर कुम्भ ने कुम्भकार का यह सोचकर अभिवादन किया कि इन्हीं के कारण मेरा उद्धार हुआ है। कुछ क्षणों के उपरांत कुंभकार के संकेत पर उनका ध्यान एक बीतराग साधु की ओर गया। सबने वहाँ जाकर प्रदक्षिणा कर पादप्रक्षालन किया और गंदोदक मस्तक पर लगाया। मुनि ने उन सभी को आशय को जानते हुए 'मोक्ष' की सँक्षिप्त व्याख्या इस तरह से की-

बन्धन रूप तन/मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही/ मोक्ष है।''[56]

अन्त में वे श्रमण-साधना के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहकर महामौन में लीन हो गये और मूकमाटी उस शांत वातावरण में उन्हें मानो एकटक निहारती रही।

'निर्वहण-सन्धि' के अंतर्गत कोई इतिहास प्रसिद्ध कथा तो नहीं है पर अध्यात्मपरक होने के कारण प्रत्येक जीव इस संसार से मुक्त होना चाहता है। इस संसार में जितने भी ऋषि-मुनि, अवतारी-पुरूष, तीर्थंकर या पैगम्बर हैं वे सभी संसार को निस्सार मानते रहे हैं। अतः सभी दर्शन किसी न किसी रूप में इसे मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते हैं। धर्म, अर्थ, काम और 'मोक्ष' में से ही इस वृत्त का फल है। इसके वृहदाकार कथानक में धर्म, अर्थ और काम का भी चित्रण हुआ है परन्तु इसका प्रतिपादन कुछ इस रूप में हुआ है कि ये सब 'मोक्ष' साधनों में ही सहायक हैं। प्रारंभ में ही माटी 'स्व' को पतिता-पददलिता कहती हुई धरती से प्रार्थना करती है-

सुख-मुक्ता हूँ/दुःख युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ।''[57]

आगे वह इस पर्याय का अन्त और काया का त्याग चाहती है। धरती माँ उसे उसकी इच्छा के अनुसार मोक्ष मार्ग का पाठ पढ़ाती है। इसके लिए वह माटी को सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन को ग्रहण करने का उपदेश देती हुई उसके महत्व को समझती है-

इसलिए, जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर
रास्ता स्वयं शास्ता होकर/ सम्बोधित करता साधक को।''[58]

इस आस्था के अभाव में सम्यक् ज्ञान भी पलायन कर जाता है :

ऐसी स्थिति में/बोधि की चिड़िया वह
फुर्र क्यों न कर जायेगी?''[59]

इस ज्ञान की चिड़िया को यदि उड़ने नहीं देना है तो इसके लिए सम्यक्चारित्र को धारण करना अनिवार्य है। इसके लिए धरती उससे कहती है ।

इसलिए/प्रतिकार की पारणा/छोड़नी होगी बेटा !
अतिचार की धारणा/ तोड़नी होगी, बेटा ।'' [60]

बेटा तुम्हें इसके लिए प्रतिकार की भावना का त्याग करना होगा और चारित्र नियम पालन में अतिचारों को तिलांजलि देनी होगी। इसके लिए धरती उसे सम्यक् चारित्र के पालन की प्रक्रिया के लिए अनेक रूपों में प्रबोधित करती है। इस तरह प्रारम्भ से ही रत्नत्रय- सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान, साम्यकचारित्र द्वारा मोक्षमार्ग का निर्देशन इस काव्य में हुआ है।

मूकमाटी में इस मोक्षमार्ग के अतिरिक्त धर्म और काम का चित्रण भी यथास्थान हुआ है। धर्म का विभिन्न लक्षणों को सम्यक्चारित्र के पालन हेतु सहायक रूप में हुआ है- क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आँकिचन और ब्रह्मचर्य इसका प्रसंगानुसार इतना विस्तृत चित्रण हुआ है कि सम्पूर्ण मानचित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। अर्थ औरकाम का चित्रण ऐसे स्थलों पर हुआ है जहाँ उन्हें 'मोक्ष' की साधना में बाधक माना गया है।

इस प्रकार मोक्ष- मार्ग की प्राप्ति इस काव्य का लक्ष्य है तथा धर्म का पालन और अर्थ-काम का तिरस्कार मोक्ष - मार्ग के सहायक होकर मूकमाटी में निरूपित हुए हैं।

मूकमाटी एक अध्यात्मपरक काव्य है जिसके कारण इसका समस्त कथानक आशीष और मंगल वचनों से भरा पड़ा है, इसका आरंभ निशावसान एवं उषा-आगमन से हुआ है। भारतीय परम्परा में जागरण, स्नान, भजन, पूजन, शुभकार्य, यहाँ तक कि अध्ययन भी उषाबेला ब्रह्ममुर्हूत में ही कल्याणकारी माने गए हैं फिर ऐसी परम्परा भी रही है।

मूकमाटी में दुष्टों की निंदा और सज्जनों की प्रशंसा के अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। आचार्य श्री ने मूकमाटी में खल निंदा को इस रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ पर शिल्पी कंकरों की घृष्टता पर उनकी भर्त्सना करता हुआ कहता है -

अरे कंकरो / माटी से मिलन तो हुआ
पर / माटी में मिले नहीं हम।''[61]

× × × ×

अपने गुण- धर्म / भूलते नहीं तुम।
पाषाण- हृदय अवश्य है तुम्हारा।''[62]

इसी प्रकार चतुर्थ खण्ड में स्वर्णकलश की निंदा भी इसीलिए हुई है क्योंकि स्वर्ण, रजत आदि सभी परिग्रह के सूचक हैं। परिग्रह का त्याग विरक्त को प्राथमिक स्तर पर कर ही देना पड़ता है। कुम्भ में भरा पायस स्वर्णकलश से कहता है -

तुम में पायस ना है
तुम्हारा पाय सना है/ पाप-पंक से पूरा अपावन''[63]
तुम्हारी संगति करने वाला/ प्रायः दुर्गति का पथ पकड़ता है.....
परतंत्र जीवन की आधार -शिला हो तुम,
पूंजीवाद के अभेद्य/ दुर्गम किला हो तुम॥''[64]

सज्जनों की प्रशंसा भी मूकमाटी में देखने को मिलती है। कुम्भकार की गरिमा को कवि इन शब्दों में अभिव्यक्त करता है कि- वह (कुम्भकार) कभी भी विकार स्थान नहीं पाता। वह विकल्पहीन, दृढ़संकल्पी है, वह स्वल्प भी व्यर्थ जल्पन नहीं करता और वह इतना कुशल शिल्पी है कि माटी को नाना रूप प्रदान करता है।''[65]

अंत में जब सेठ सपरिवार सरिता को पार कर लेता है तो उसे एक साधु के दर्शन होते हैं। वह 'साधु' अत्यल्प शब्दों में ही साधु के समस्त गुणों को अभिव्यक्त कर देते हैं।

मूकमाटी काव्य को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से इसमें प्रातः मध्यान्ह्, सन्ध्या, प्रदोष, ध्वान्त, वासर, रजनी, सूर्य, चन्द्र, मृगया, शैल, ऋतु, वन, सागर, संयोग, विप्रलम्भ, मुनि, स्वर्ग, पुर, रज-प्रयाण, उपशम, मंत्र और पुत्रोदय का वर्णन हुआ है, कवि ने ऋतुओं का वर्णन भी प्रसंगानुसार किया है। 'सागर' का वर्णन तो अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है। संयोग और विप्रलम्भ के प्रसंग अध्यात्म का काव्य होने के कारण उन्मुक्त रूप से तो नहीं परन्तु भाव और भाषा के अलंकरण के रूप में अवश्य आये हैं। यघपि 'स्वर्ग' और 'पुर' के प्रसंग भी विस्तार से नहीं है पर कहीं कहीं पर इनका नामोल्लेख अवश्य हुआ है। तत्सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकतीं हैं-

परीषह - उपसर्ग के बिना कभी
स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी/ त्रैकालिक सत्य है यह।''[66]

यह काव्य वैराग्यपरक होने के उपशम भाव से सर्वथा युक्त है। जहाँ - जहाँ पर भी कषायों के शमन की चर्चा है या संसार से विरक्ति के प्रसंग हैं, वहाँ वहाँ पर हमें उपशम भाव दिखाई देता है। जब कुम्भकार माटी को खोदने का उपक्रम करता है तो पहले वह णमोकार -मंत्र पढता है। और मान का परित्याग करता है। खुद माटी को कूटकर छानता है और उसे टटोलने पर उसके मृदुल स्वभाव को पाकर कहता है कि ऋजुता की यह परमदशा है, मृदुता की यह चरमदशा है।

इस काव्य में 'मंत्र' के भी प्रसंग आये हैं। खासकर उस समय जब प्रथम खण्ड में माटी को मृदु बनाने के पूर्व वह ओंकार को नमन् करता है अर्थात 'णमोकार-मंत्र' का जाप करता है। दूसरे खण्ड में कटंकों के प्रति कथन कुछ इस प्रकार से दर्शाया गया है-

मंत्र न ही अच्छा होता है / ना ही बुरा
अच्छा, बुरा तो / अपना मन होता है
स्थिर मन ही वह / महामंत्र होता है।''[67]

मूकमाटी में पुत्रोदय की भावना तो प्रारंभ से ही है। मोक्ष की कामना करने वाली माटी ध रती माँ को समझाती हुई कहती है-

सत्ता शाश्वत् होती है, बेटा ।
प्रति-सत्ता में होती है/ अनगिन संभावनाऐं
उत्थान- पतन की /''[68]

इसी तरह खण्ड दो में माँ की महिमा को रेखांकित करते हुए कवि ने लिखा है-

सन्तान की उन्नति में
अनुग्रह का माथ उठता है माँ का।''[69]

जहाँ तक 'मूकमाटी' काव्य के नामकरण का प्रश्न है तो इसका नाम 'नायिका' माटी के नाम पर हुआ है। वह इसलिए कि यह काव्य प्रतीकात्मक है जिसके कारण सभी पदार्थ-पात्रों के वचन मूकभाषा में ही है। इसीलिए इसका नाम 'मूकमाटी' रखा गया है, वैसे इस नाम में एक आकर्षण है, एक तिलस्म है, एक अध्यात्म और दर्शन है। इसीलिए इस काव्य पर इतना अधिक लिखा गया है कि 'मूकमाटी' स्वयं मुखर हो उठी है, यही इस काव्य की विशेषता है।

मूकमाटी का जीवन और अध्यात्म :

आचार्य विद्यासागर इस सदी के संतों में सर्वाधिक चर्चित, बहुख्यात और सर्वमान्य वन्दनीय 'संत' हैं। इसका प्रमुख कारण है उनके तप, त्याग, संयम, साधना और चर्या के साथ-साथ ज्ञान का वह अपरिमित भण्डार जो रचना के साथ-साथ उनकी विविध भावधाराओं को लेकर प्ररुफुटित हुआ है। यह

सृजन केवल काव्य के रूप में ही नही वरन् प्रवचन,काव्यानुवाद, संस्कृतशतक और अनेक तरह की स्फुट रचनाओं के रूप में प्रकट हुआ है।

आचार्य श्री के चिंतन, मनन, अध्यात्म, दर्शन और समग्र मानवतावादी दृष्टिकोण को रेखांकित करने वाला 'मूकमाटी' महाकाव्य है। इसमें कवि ने माटी को आधार बनाकर 'मुक्त-छंद' के रूप में साहित्य जगत को एक अनूठी निधि प्रदान की है। इसमें कवि की दृष्टि पतित से पावन की ओर दिखाई देती है। मानव सभ्यता के सतत् संघर्ष तथा सांस्कृतिक विकास का प्रमाण है यह महाकाव्य/मानवता को असत्य से सत्य की ओर, हिंसा से अहिंसा की ओर, एकता से अनेकांत की ओर, अशांति से शांति की ओर ले जाने वाला यह महाकाव्य जैन दर्शन की एक नवीन भावभूमि को प्रस्तुत करता है।

मूकमाटी में जीवनदर्शन के बहुविध रूप देखने को मिलते हैं। इस काव्य में जहाँ एक ओर करूणा और संवेदना है, वहीं दूसरी ओर अध्यात्म और रहस्य है, यदि एक ओर भक्ति का उत्कर्ष है तो दूसरी ओर कर्म की महत्ता भी है। यह काव्य मानवीय जीवन -मूल्यों का एक ही ऐसा जीवंत दस्तावेज है जिसमें हम जीवन के बहुविध पक्षों को देख सकते हैं। कवि का चिंतन लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित है, यहाँ पर सर्वप्रथम हम मूकमाटी में आये जीवन दर्शन के बहुविध पक्षों का रेखांकन करेंगे।

करूणा और संवेदना :

एक सच्चे संत के पास 'करुण' और 'संवेदना' का अपरिमित भण्डार होता है। ये दोंनो ही तत्व मनुष्य को मानवोचित गुणों से लबालब भर देते हैं। 'करुणा' आत्मा का स्वभाव है। 'संवदना' मनुष्य को मनुष्य बनने का मूल्य समझाती है। इन दोनों का विस्तार धरित्री पर सुख-शांति का साम्राज्य स्थापित कर देता है, वैसे देखा जाय तो 'मूकमाटी' में मानवीय उत्थान की कथा वर्णित है। क्योंकि आचार्य श्री 'मानव कल्याण' को ही जीवन का सबसे बड़ा धर्म मानते हैं। आचार्य श्री लिखते हैं-''दीन दुःखी जीवों को देखकर आँखों में करूणा का जल छलक आये अन्यथा छिद्र तो नारियल में भी हुआ करते हैं। दयाहीन आँखें नारियल के छिद्र के समान हैं। जिस ज्ञान के माध्यम से प्राणीमात्र के प्रति संवेदना जाग्रत नहीं होती, उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है और वे आँखे किसी काम की नहीं जिनमें देखने -जानने के बाद भी संवेदना की दो तीन बूँदें नहीं छलकती हैं।''[69]

आचार्य श्री ऐसे व्यक्तियों को हृदयशून्य मानते हैं जिनमें दूसरों के दुःख दर्द देखकर संवेदना जाग्रत नहीं होती है। मनुष्यता का लक्षण पर दुःखकातरता ही है, जिसमें करूणा नहीं, उसमें मनुष्यता हो ही नहीं सकती। 'मूकमाटी' में शिल्पी कंकरों को हृदय शून्य कहता है जिनमें करूणा प्रवाहित नहीं होती। शिल्पी कहता है-

अरे कंकरो।
तुममें कहीं है वह
जल धारण करने की क्षमता ?
जलाशय में रहकर भी
युगों-युगों तक
नहीं बन सकते
जलाशय तुम ।
मैं तुम्हें हृदयशून्य तो नहीं कहूँगा
परन्तु पाषाण-हृदय अवश्य है तुम्हारा,
दूसरों का दुःख-दर्द
देखकर भी
नहीं आ सकता कभी
जिसे पसीना
है ऐसा तुम्हारा
.........सीना।''70

''साफल्य सुख पाने को उत्सुक व्यक्ति को यहाँ जीवन संघर्ष से विरत न रहने का सत्परामर्श है, ''पीड़ा की अति ही, पीड़ा की इति है, आधि व्याधियों से हमे आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए, उनका भी चरम बिन्दु आता है। चाहे जैसी भी पीड़ा हो उसका अवसान अवश्यम्भा है। '' यह भी ज्ञात रहे कि वासना का विलास मोह है, दया का विकास मोक्ष है, एक जीवन को बुरी तरह जलाती है, भयंकर अंगार है ? एक जीवन को पूरी तरह जिलाती है, शुभंकर श्रृंगार है। '' यहाँ पर दया और वासना के अंतर तथा उनके जीवनगत प्रभाव को व्याख्यायित किया गया है।

आचार्य श्री कहते हैं कि पुरूष प्रकृति से यदि दूर होगा, निश्चित ही वह विकृति का पूर होगा। पुरूष या प्रकृति में रमना ही मोक्ष है, सार है, और अन्यत्र रमना ही भ्रमना है, मोह है, संसार है, जीवन में जिसे सुख और शांति की कामना है उसे माटी के इस कथन पर अवश्य ध्यान देना चाहिए- ''बदले का भाव वह अनल है, जो जलाता है, तन को भी, चेतन को भी, भव-भय तक ? ''कवि, साहित्य को हित-संपादन का साधन मानता है, अन्यथा कैसा भी साहित्य हो वह निर्गन्धपुष्पवत् है- ''शिल्पी के शिल्पक सांचे में सहित्य शब्द ढलता सा ? हित से जो युक्त-समन्वित होता है वह सहित माना है । और, सहित का भाव ही साहित्य का बाना है। अर्थ यह हुआ कि जिसके अवलोकन से शुभ का समुद्भव संपादन हो, सही साहित्य वही है, अन्यथा सुरभि से विरहित पुष्प सम, सुख का साहित्य है, वह सार शून्य, शब्द झुण्ड......... ?'' साहित्य का लक्ष्य कोरा वा ग्विलास न होकर, जनहितकारी, लोकमंगलकारी होना अपेक्षित है।

आमद कर्म खर्च ज्यादा, लक्षण है मिट जाने का, कुब्बत कम गुस्सा ज्यादा लक्षण है पिट जाने का । यह कथन व्यावहारिक दृष्टि से जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी है। आचार्य श्री एक ऐसे श्रमण साधक हैं, जिनके हृदय में करूणा का सागर हिलोरें मारता रहता है। आपकी क्रियाऐं, आचरण, व्यवहार एवं विचार स्वावलम्बन के जीवंत प्रमाण हैं। आपकी दृष्टि दीन दुःखियों पर सदैव कल्याणकारी रही है। ''मूकमाटी''में भी आपने अपनी इसी भावना को 'कुम्भ' के मुख से प्रकट किया है। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य श्री सम्पूर्ण प्राणियों के चराचर जगत के सच्चे हितसाधाक हैं। उनकी भावना है कि-

यहाँ..... सब का सदा
जीवन बने मंगलमय
छा जावे सुख -छाँव
सबके सब टलें -
अमंगल भाव,
सबकी जीवन लता
हरित भरित विहँसित हो
गुण के फूल विकसित हों
नाशा की आशा मिटे
आमूल महक उठें
..................बस।'' 71

मानवतावादी दृष्टिकोण :

मूकमाटी में मानवतावादी दृष्टिकोण के विविध प्रसंग देखने को मिलते हैं। यह एक ऐसी काव्य-कृति है जो जीवन में पथप्रदर्शक मानवीय आचरण को संयमित, अनुशासित, नियंत्रित, स्वावलम्बी और सही दिशा और दृष्टि प्रदान करती है। यह कृति सुभाषितों और सूक्तियों का भण्डार है जिन्हें अपनाकर जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है। कतिपय जीवनोपयोगी प्रसंग इसमें इस प्रकार से हैं- ''मंद मंद सुगंधा पवन बह रहा है, बहना ही जीवन है।'' जीवन की सच्ची सार्थकता सतत् गतिशील रहने मे है। ''जैसी संगति मिलती है वैसी मति होती है।'' वैसे सत्संग का महात्म्य स्वयं सिद्ध है। ''किसी कार्य को सम्पन्न करते समय अनुकूलता की प्रतीक्षा करना सही पुरूषार्थ नहीं है।'' पुरूषार्थ का कीर्तिमान ध्यातव्य है।'' संघर्षमय जीवन का उपसंहार नियम रूप से '' सज्जन की पहचान पर दुःख कातरता है, दुर्जन का स्वभाव पर पीड़न है, दोनों में यही तो भेद है- ''एक दूसरे के सुख दुःख में परस्पर भाग लेना सज्जनता की पहचान है ओर औरों के सुख को देखकर जलना, औरों के दुःख को देख खिलना, दुर्जनता का सही लक्षण है।'' मूकमाटी में महीयसी माँ का भी अनेक स्थलों पर महिमागान किया गया है, इसमें पुरूष के जीवन, उसके गार्हस्थ, समग्र समाज के उत्कर्ष, अपकर्ष में नारी की भूमिका, पुरूष का उसके

प्रति दृष्टिकोण आदि का विशद् विवेचन देखने को मिलता है। आचार्य श्री का नारी के सम्बन्ध में कहना है- ''इसीलिए इस जीवन में माता का मान सम्मान हो, उसी का जयगान हो, सदा धन्य...........सदियों से सदुपदेश देती आ रही है, पुरूष समाज को यह अनंग के संग से अंगारित होने वालो, सुनो जरा सुनो तो, स्वीकार करते हो कि मैं अंगना हूँ, परन्तु मात्र अंग ना हूँ...... और भी कुछ हूँ मैं ? अंग के अंदर भी कुछ झांकने का प्रयास करो, अंग के सिवा भी कुछ मांगने का प्रयास करो, जो देना चाहती हूँ, लेना चाहते हो तुम ?''

समाज में बढ़ती हुई धन संग्रह की प्रवृत्ति, धन का असमान वितरण और उसके परिणाम स्वरूप समाज में अपराध, हिंसा, आतंकवाद समेत अनेकानेक कुरीतियों और विकारों की बेतहाशा वृद्धि, स्वाभाविक रूप में कवि की संवेदनशीलता को क्षुब्ध करती है। आचार्य श्री का कथन है कि-''अब ध न संग्रह नहीं, जन संग्रह करो ? और लोभ के वशीभूत हो अंधाधुन्ध संकलित का समुचित वितरण करो, अन्यथा धनहीनों में चोरी के भाव जागते है। चोरी मत कर, चोरी मत करो- यह कहना केवल धम का नाटक है, उपरिल सभ्यता........उपचार ? चोर इतने पापी नहीं होते, जितने की चोरों को पैदा करने वाले । ''आचार्य श्री के ये कथन क्या हम सबको समस्या की गंभीरता पर सोचने के लिए विवश नहीं करता ? कवि का दृष्टिकोण सर्वत्र मानवतावादी रहा है। उन्होंने 'कुंभ' के माध्यम से जगजीवन के निरापद रहने की जो मंगलकामना की है, वह विस्तृत और लुप्त मानव मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए प्रणीत ''भरत वाक्य'' है- ''यहाँ सबका सदा जीवन बने मंगलमय, छा जावे सुख छाँव, सबके सब ढलें अमंगल भाव/सबकी जीवनलता हरित, भरित विहँसित हो, गुण के फूल विलसित हों, नासा की आशा मिटे, आमूल महक उठे।''

''मूकमाटी'' निस्संदेह मानव जीवन, मानव संसार में सुख,शांति और सुव्यवस्था स्थापित करने वाला एक महामनीषी का एक विशाल रत्नाकर है- अकूल मजिमुक्ताओं से आपूर्ण। किसको ग्रहण करें, किसको तजें, यह लोभ संवरण करना अत्यंत कठिन है। इस उद्बोधक, उन्नमनकारी कृति का पाथेय प्रसार अधिकाधिक दिश्नहारा जन को मिलें, उनकी जीवनतरी को काम्य किनारा उपलब्ध हो, उसके शाश्वत, संदेश, श्रेयस्कर शिक्षाओं, सामाजिक सत्परामर्शो से अज्ञ, अनाचारी, असुरवृत्ति के भ्रमित तथा वन्द्वग्रस्त जन को आत्मशोधन, आत्मपरिष्कार की सत्प्रेरणा मिले और प्रणम्य संत मनीषी का अभीष्ट पूर्ण हो।''[72]

मूकमाटी का प्रधान स्वर

'मूकमाटी' में माटी को 'सृजन और कर्म' से समन्वित कर उसे समाज के लिए उपयोगी बनाने की प्रेरणा दृष्टिगत होती है। यह बात केवल माटी पर ही नही वरन् सभी पर लागू होती है। सृजन-शक्ति से रहित अनुपयोगी वस्तु अमूल्य होकर भी निर्मूल्य और निरर्थक है। कुंभकार की सृजनकला

का संसर्ग पाकर घट के रूप में माटी सभी के लिए उपयोगी है महत्वपूर्ण बन जाती है। उसका जीवन सार्थक बन जाता है। कुंभकार उसे अपने सृजन संसर्ग से सौभाग्य प्रदान करता है। ऐसा कुंभकार जिसके मन में उत्तम सृजन कला-भावना के साथ ही साथ व्यक्तिगत स्वार्थ का न कलुष है और न किसी के प्रति कोई कषाय है, ऐसी सार्वजनिक सेवा-भावना से सृजित कुंभ भी उसी भावना से आपूरित है, कलाकार की भावना ही तो सृजन की भावना को महिमण्डित करती है, स्वार्थ और अहंकार की सीमाओं से ऊपर उठे हुए सृजन ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, भयंकर से भयंकर विपरीत शक्तियाँ भी अन्ततः पराजित होती हैं अथवा उनका हृदय परिवर्तित हो जाता है, सत्य और सर्वकल्याण की भावनाऐं ही सर्वाधिक शक्तिशाली तथा अजेय होती हैं, राग-द्वेष, लाभ-अलाभ, विषय-वासनाओं, व्यक्तिगत मान-अपमान की भावनाओं से परे होकर विनम्रता पूर्वक सत्य और परहित के मार्ग पर चलने वाले कभी विचलित नहीं होते। शक्ति और सम्पन्नता से व्यक्ति बड़ा और महत्वपूर्ण नहीं बन सकता। व्यक्ति का आचरण और मानव ही उसे महान बनाते हैं। यही 'मूकमाटी' का प्रधान स्वर है। इस कृति में प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए आचार्य श्री स्वयं लिखते हैं-

''जिसके प्रति प्रसंग पंक्ति से पुरूष को प्रेरणा मिलती है- सुषुप्त चेतना धारा को जाग्रत करने की, जिसने वर्ण, जाति, कुल आदि व्यवस्था विधान को नकारा नहीं है, परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उनमें उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है। इसीलिए शंकर-दोष से बचने के साथ-साथ वर्णलाभ को जीवन का औदार्य व साफल्य माना है, जिसने शुद्ध सात्विक भावों से सम्बन्धि त जीवन को धर्म कहा है, जिसका प्रयोजन सामयिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रें में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण संस्कृति को जीवित रखना है और जिसका नामकरण है मूकमाटी।''[73]

प्रथम खण्ड में कुंभकार द्वारा माटी के परिशोधन का चित्रण है। कुंभकार माटी को कूट-छानकर कंकड़ आदि विकारों से अलगकर सृजन के योग्य बनाता है, सृजन के विपरीत आचरण वाले तत्वों को यदि अलग न किया गया तो सृजन की क्रिया निर्बाध रूप से पूरी नहीं हो सकती। कंकड़ आदि सब मंगलघट के सृजन में बाधक हैं। अतः माटी को सबसे पहले दोष रहित कर निर्मल, तरल और लोचदार रूप दिया गया। यहाँ वर्ण का आशय रंग मात्र से न लेकर आचरण से जोड़ा गया है-

''वर्ण का आशय न रंग से है, न ही अंग से, वरन् चाल, चरण, ढंग से है।'' शुद्ध और लोचदार माटी से ही घटका सृजन संभव है। कुंभकार की आंतरिक भक्ति ही माटी को मंगलघट का आकार देती है।

दूसरे खण्ड में कुंभकार द्वारा कुदाली से माटी खोदते समय कांटे को लगी चोट के आक्रोश और प्रतिकार-भावना का वर्णन है। कुंभकार द्वारा ग्लानि और खेद व्यक्त करने पर कांटे का आक्रोश शांत हो जाता है, इसी खण्ड में कवि ने सभी रसों के रूपों और स्वभावों का विस्तृत किन्तु सूक्ष्म विवेचन

किया है। इसके साथ ही संगीत, प्रकृति, ऋतुओं आदि का भी चित्रण है जिसमें दार्शनिक विवेचन का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। यहाँ आकर मूलकथा ठहर जाती है। प्रवाह अवरूद्ध हो जाता है तथा कथा के अतिरिक्त अन्य बातें, प्रमुख हो जाती हैं। बीच-बीच में उसे मूल से जोड़ने का स्मरण सा कराया जाता है किन्तु कथा को कोई गति नहीं मिलती । आध्यात्मिक और दार्शनिक विवेचन के सागर में कथा विलुप्तप्राय सी लगती है।

तीसरे खण्ड में कथा को नया जीवन मिलता है। कुंभकार के माध्यम से माटी के उद्धार और विकास का चित्रण करते हुए पुण्यकर्मों की महत्ता और पापकर्मो से मुक्त रहने का प्रतिपादन किया गया है। धरती के प्रति नाना प्रकार के अत्याचार किये जाने पर भी वह सब सहती है-

''अपने साथ दुर्व्यवहार होने पर भी
प्रतिकार नहीं करने का संकल्प लिया है धरती ने
इसीलिए धरती सर्वसहा कहलाती है''[74]

एक ही तत्व अपने स्वभाव के कारण अच्छा बुरा बनता है। सागर रत्नाकार भी है और हलाहल का भण्डार भी । धरती का सारा वैभव उसके पास है। बांस, नाग, सूकर, मयूर, गज, मेघ, शुक्ति आदि सभी में मोती होता है। वे सभी धरती से पोषित है। फिर भी ईर्ष्या करने वाले धरती का अपकार करते हैं। चन्द्रमा, सागर, जल इसी प्रकृति के हैं। सागर के कुंभकार द्वारा निर्मित माटी के घट को वर्षो से गलाकर नष्ट करने का पूरा प्रयास किया, क्योंकि सागर में परोपकारी बुद्धि का अभाव जन्मजात है। अर्थ की आँखें जब परमार्थ को देखने में 'असमर्थ' होती हैं तो इसी प्रकार के कुविचार उत्पन्न होते हैं। धरती तो माँ है। उदार, सहनशील, संयमी/सभी, महिला, नारी, अबला, सुता, दुहिता, कुमारी, माता, अंगना, सभी धरती के ही रूप हैं तो मृदुता मुदिता, शीला, सरला, तरला गुणों से युक्त हैं। उसके एवं सूर्य के प्रभाव से बदलियों से पानी के स्थान पर कुंभकार के आंगन में मोतियों की वर्षा होने लगती है-

मुक्ता की वर्षा होती अपक्व कुंभों पर,
कुंभकार के प्रांगण में
पूजक का आचरण पूज्यपदों में प्राणिपात''[75]

मुक्तावृष्टि की चर्चा राजा तक पहुँची, लोभी राजा ने मोतियों को बोरों में भरवाने की चेष्टा की/तभी आकाशवाणी हुई कि यह अनर्थ है- ''बिना श्रम के दूसरों का धान पाप है।'' स्पर्श करते ही मोती बिच्छू के डंक बन गये। लोग मूर्त्ति हो गये/राजा घबड़ाया/अंततः कुंभकार ने स्वतः राजा को मोती समर्पित कर दिये। राजा ने मोतियों को प्रजाहित में राजकोष में दे दिया। कुंभ ने व्यंग्य किया कि आज सर्वत्र अर्थ-संचय और अर्थमोह ही व्याप्त है, यही अनर्थ का कारण है-

''कलिकाल की वैषयिक छांव में
प्रायः यही सीखा है इस विश्व ने
वैश्यवृत्ति के परिवेश में
वैश्यावृत्ति की वैयावृत्य।''76

सागर की ईर्ष्या और अहं कम होने की बजाय निरन्तर बढ़ता गया। धरती की रक्षा के लिए सूर्य और सागर में संघर्ष होता है। सागर नाना प्रकार से कुंभ को नष्ट करने के लिए धरती पर प्रहार करता है। राहु, इन्द्र का आव्हान। ओलों की वर्षा । भूकम्पों का प्रयोग । वायु द्वारा धरती की रक्षा। कुंभ और कुंभकार अनन्य विश्वास से स्थिर। अंततः जलप्लावन से उसकी रक्षा होती है।

चतुर्थ खण्ड में कुंभकार कुंभ को पूर्ण सुसज्जित आकृति प्रदान कर अग्नि में पकाने के लिए अवां की व्यवस्था करता है। अग्नि मे तपने के उपरांत ही कोई साधक निर्मल और निर्दोष बन सकता है । जो अग्नि के ताप को सहकर भी स्थिर है वही सिद्व और सफल साधक है। जो किसी भी परिस्थिति में अविचल रह सकता है । साधक को तो तपन में भी आनन्द की अनुभूति होती हैं। यहाँ कवि ने बबूल की लकड़ी, कुंभकार और अग्नि के परस्पर संवादों द्वारा कई तथ्यों का उद्घाटन किया है। कुंभ का अग्नि के प्रति यह कथन बड़ा ही महत्वपूर्ण जान पड़ता है-

'' मेरे दोषों को जलाना ही, मुझे जिलाना है''

ऐसे संकल्पनशील लोगों को ही अग्नि में भी रसानुभूति होती हैं-

'' रस का स्वाद उसी रसना को आता है
जो जीने की इच्छा में ही नहीं
मृत्यु की नीति से भी ऊपर उठी है।''77

अपने अस्तित्व को पूर्णतः तिरोहित कर कुंभ कर्त्तव्यसत्ता में डूबा परिणाम परिधि के ऊपर है, यह तो साधक पर निर्भर है वह 'शिव' बनना चाहता है या 'शव'।

आचार्य श्री ने इस चतुर्थ-खण्ड इतना विविधवर्णी बनाया है कि उसे समेट पाना सामान्य व्यक्ति के सामर्थ्य की बात नहीं हो सकती।

अवां तैयार करने से लेकर पके हुए कुंभ को बाहर निकालकर फिर जो उसकी यात्रा अंकित की गई है उसमें जीवन-जगत के प्रायः सभी पक्षों को जोड़ा गया है। लकड़ी की वेदना, अग्नि की भावना, कुंभकार की कला, अध्यात्म दर्शन की विवेचना, कुंभ का परीक्षण, इसी के साथ संगीत के सात स्वरों की नवीन व्यवस्था जिज्ञासाओं का समाधान, श्रम और कला की महत्ता का प्रतिपादन सेठ द्वारा कुंभ का

मंगलकलश के रूप में पूजन, सेठ जी के यहाँ मुनि श्री का आगमन, माटी के कुंभ मे जल से स्वामी जी की अर्चना, सोना-चाँदी, एवं रत्न जड़ित पात्रें की उपेक्षा से पीड़ा, गोचरवृत्ति, भ्रमरवृत्ति की विवेचना, सत्पात्र की मीमांसा, संतों की परिभाषा, स्वर्णकलश और माटी के कलश का वार्तालाप, कुंभ और माटी का वाद-विवाद तथा अन्य सभी पात्रें का चित्रण, मच्छर- मत्कुण प्रसंग, सेठ की मूर्च्छा, अनेक प्रकार के उपचारों की चर्चा पुरुष और प्रकृति के सम्बन्धों का विश्लेषण, कलियुग में अर्थ की प्रधानता, माटी के सर्वोत्तम उपचार की विधि, विवेचना, आतंकवाद का उद्भव आदि के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विवेचन हुआ है।

मूकमाटी में प्रस्तुत शब्दावली, उनके नवीन और मौलिक अर्थ तथा व्याख्याऐं जहाँ आचार्य श्री की विद्वता, बहुज्ञता और चिंतनशीलता का परिचय देते हैं, वहीं उनकी नवीन दृष्टि की भी साक्षी हैं। वे शब्दों और एक-एक वर्ण की ऐसी तार्किक व्याख्या करते हैं, कि कईबार चकित रह जाना पड़ता है। शब्द के वर्णो को उलटकर, वर्णो को इधर- उधर कर ऐसा अर्थ उद्घाटित करते हैं जो सामान्यजन के वश की बात नहीं है।

अतः निश्चित रूप में 'मूकमाटी' एक महत्वपूर्ण काव्यकृति है जिसमें जीवन-जगत् के विविध क्षेत्रें का शब्दों में निहित विशिष्ट अर्थो और मानवीय आचरण की विशद्-गंभीर एवं सहज विवेचना को सात्विक, त्यागी, मंगलकारी साधना को सर्वश्रेष्ठ और अजेय बताया गया है। माटी को रचना का आधार बनाकर इतने बड़े ग्रंथ का प्रणयन अपने आपमें एक ऐतिहासिक उपलब्धि है। जिस लेखनी से इस महनीय ग्रंथ का सृजन हुआ है उसकी दृष्टि सात्विक, उदार और परहितकारी है। जो लेखनी सृजन के इस उद्देश्य की पूर्ति करती है वही सार्थक है। तुलसीदास जी ने 'कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कँह हित होई' कहा है। आचार्य श्री की मान्यता है कि सार्थक लेखनी सदैव पापचारों, दुराचारों, दुर्विचारों को ललकारने और धिक्कारने वाली होती है। परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए ऐसा सृजन आवश्यक है जो मूल्य-उत्कर्ष और संस्कारों की दृष्टि से सर्वोत्तम हो। मूल्यहीनता और संस्कारहीनता के इस दौर में 'मूकमाटी' एक ऐसा प्रकाश पुंज है जो भटके हुओं का मार्ग प्रशस्त करता है, उनके जीवन में प्रकाश को विकीर्ण करता है जिससे कि जीवन में सुख, शांति और आशा का संचार हो सके, जीवन निरापद बन सके।

मूकमाटी में अध्यात्म और दर्शन :

अध्यात्मवादी काव्य की प्रमुख विशेषता भाव के द्वारा किसी परोक्ष सत्ता का आभास, उसके प्रति राग, विस्मय, जिज्ञासा, असीम वेदना एवं तादात्म्य की अनुभूति है। यह अनुभूति ही दिव्यानुभूति कहलाती है, शुद्ध परमात्मतत्व के साथ अपनी एकता का स्पष्ट संवेदन अध्यात्मवाद या रहस्यवाद है, वस्तुतः रहस्यवाद ही अध्यात्म का पर्याय है। अध्यात्मवाद ही काव्य में रस का सम्पर्क प्राप्तकर रहस्यवाद बन गया है।

जैन दर्शन में प्रत्येक आत्मा शक्ति की अपेक्षा परमात्मा के समान है। परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है। कर्मबद्ध आत्मा कहलाता है और कर्ममुक्त परमात्मा/अध्यात्मवाद की प्रक्रिया में आत्मा स्वानुभूति के द्वारा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नौकर्मो का विनाशकर परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है"[78] जैन दर्शन के अनुसार आत्मा एक नहीं अनेक हैं और सभी परमात्मा बनने की क्षमता रखते हैं।"[79] परमात्मा बनने की प्रक्रिया साधनामार्ग है। आत्मानुभूति अलौकिक होती है, इसकी तुलना संसार की किसी वस्तु से नहीं की जा सकती। जैन दर्शन से रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यक् चारित्र) को साधाना मार्ग कहा गया है।"[80] आत्मा की पर पदार्थो में भिन्नता की प्रतीति को सम्यक्दर्शन, आत्मा के विशुद्ध रूप का ज्ञान समयक् ज्ञान और आत्म स्वरूप में रमण करना सम्यक् चारित्र है।"[81] साध ना मार्ग पर आरूढ़ साधक निर्विकल्प समाधि में निमग्न होकर सभी कर्मबंधन को काटकर परमात्मा बन जाता है, जहाँ वह अतीन्द्रिय अलौकिक सुख का अनन्तकाल तक भोग करता है। वह पुनः संसार में लौटकर नहीं आता, न ही सृष्टि की रचना, उसका पालन, संहार आदि ही करता है।"[82]

आचार्य श्री विद्यासागर अध्यात्म रस के रसिक हैं। 'मूकमाटी' में सर्वत्र अध्यात्म का स्वरूप जहाँ तहाँ देखने को मिलता है। आचार्य श्री कहते हैं कि -"बंधान सदैव दुःख का कारण होता है। अतः सभी जीव बंधन मुक्त होकर स्वतंत्रंता प्राप्त करना चाहते हैं। जीवात्मा का प्रतीक कुंभ कहता है ......

" यहाँ बंधन रूचता किसे, मुझे भी प्रिय है स्वतंत्रता"[83]

जीवात्मा का प्रतीक माटी कहती है......

" इस पर्याय की इति कब होगी। इस काया की च्युति कब होगी। बता दो माँ।"[84]

कुंभ से निकले सप्तस्वरों के माध्यम से आचार्य श्री ने बताया है ...."दुःख आत्मा का स्वभाव धर्म नहीं हो सकता/ मोहकर्म से प्रभावित आत्मा का विभाव धर्म है वह।"[85]

साधना मार्ग अत्यंत दुरूह है, प्रमाद को त्यागकर कठिन से कठिन स्थिति में अविचल भाव से चलने वाला ही सफ़ल हो सकता है। "[86]

अहिंसा, संयम, अपरिग्रह, अनेकांत, क्रोधा, मान आदि कषायों पर विजय तप,ध्यान, उपसर्ग और परीषहसहन, साम्यभाव आदि के द्वारा नवीनकर्मो के आगमन को रोककर तथा संचित कर्मो को क्षयकर आत्मा परमात्मा बन जाता है।

मिथ्यात्व के कारण यह जीव शरीर पर पदार्थो को अपना समझता है। आचार्य श्री कहते हैं ...."अपने को छोड़कर/पर पदार्थ से प्रभावित होना ही। मोह का परिणाम है। और सबको छोड़कर/ अपने आपमें भावित होना ही मोक्ष का धाम है।"[87]

परतंत्रता का मूलकारण पर पदार्थो में रागभाव है। जैसे चिकनी वस्तु पर धूल चिपट जाती है, उसी प्रकार रागादि की चिकनाहट से आत्मा के कर्म पुद्गल से चिपट जाते हैं और आत्मा को परतंत्र बना देते हैं। आचार्य श्री कहते हैं :-

यह सत्य है कि
रागादि की चिकनाहट
और पर का संपर्क
परतंत्रा का प्रारूप है।''[88]

जैन साधना मार्ग में अंहिसा को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। हिंसा का मूलकारण रागादि भाव हैं। इनके दूर होने पर स्वतः ही अहिंसा के भाव जाग्रत हो जाते हैं। पाँचों इन्द्रियों और मन को वश में करने वाला संयमी व्यक्ति ही अहिंसक हो सकता है।'मूकमाटी' में कंकरों की प्रार्थना सुनकर माटी कहती है-

''संयम की राह चलो
राही बनना ही तो
हीरा बनना है''[89]

अहिंसा तथा संयम का प्रतिपालन करने के लिए परिग्रह त्याग अनिवार्य है। जैन दर्शन में मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा गया है, रागद्वेष आदि ही परिग्रह के कारण हैं। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय, तथा हास्य, रति, अरति, आदि नौकषाय अंतरंग परिग्रह हैं और धनधान्यादि परिग्रह हैं। परिग्रही वृत्ति, व्यक्ति को हिंसक बना देती है। आचार्य श्री कहते हैं-

हमारी उपास्य देवता
अहिंसा है
और
जहाँ गांठ ग्रन्थि है
वहाँ निश्चित ही
हिंसा छलती है
अर्थ यह हुआ कि
ग्रंथि ही हिंसा की संपादिका है
और
निर्ग्रन्थ दर्शन में ही अहिंसा पलती है।
पलपल पनपती
बल पाती है।''[90]

निर्विकल्प समाधि दशा का वर्णन करते हुए आचार्य श्री कहते हैं-

''मुक्ति की ही नहीं
मुक्ति की भी चाह नहीं है इस घट में
दाह के प्रवाह में अवगाह करूँ
परन्तु,आह की तरंग भी
कभी नहीं उठे इस घट में, संकट में
इसके अंग-अंग में
रंग-रंग में
विश्व का तामस आ भर जाय
कोई चिंता नहीं,
किन्तु विलोम भाव से,
यानी तामस........समता ।''[99]

जिस प्रकार खान से निकला अशुद्ध सोना अग्नि में तपाये बिना शुद्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार ध्यानाग्नि के द्वारा कर्मो को जलाये बिना आत्मा परमात्मा नहीं हो सकता। ध्यानाग्नि के द्वारा कर्मरूपी दोषों को जलाकर ही आत्मा परमात्मा बन सकता है। 'मूकमाटी' में आत्मा का प्रतीक कुंभ ध्यानाग्नि के प्रतीक कुंभ से कहता है-

'' मैं निर्दोष नहीं हूँ
दोषों का कोष बना हुआ हूँ
मुझ में दोष भरे हुए हैं
जब तक उनका जलना नहीं होगा
मैं निर्दोष नहीं हो सकता
तुम्हें जलाने की शक्ति मिली है
मैं कहाँ कह रहा हूँ कि मुझे जलाओ
मेरे दोषों को जलाना ही मुझे जिलाना है।''[92]

ध्यान के द्वारा ही कर्मो के दोषों को समाप्त कर आत्मा को पावन बनाया जा सकता है। दोषों का जल जाना ही सच्चा जीवन है, इस तरह अध्यात्म और रहस्य की छटा 'मूकमाटी' में सर्वत्र देखने को मिलती है।

'मूकमाटी' में अध्यात्म और रहस्य के साथ-साथ दर्शन की भी छटा सर्वत्र देखने को मिलती है, जिसके कारण सम्पूर्ण काव्य अध्यात्म और दर्शन की आभा से प्रकाशवान हो उठा है। दर्शन

के सम्बन्ध में आचार्य श्री कहते हैं-

दर्शन का स्त्रेत मस्तक है
स्वस्तिक से अंकित हृदय से।।
अध्यात्म का झरना झरता है।
दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन
चल सकता है, चलता ही है
पर, हाँ।
बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं।
लहरों के बिना सरवर वह
रह सकता है, रहता ही है
पर हाँ।
बिना सरवर लहर नहीं।
अध्यात्म स्वाधीन नयह है
दर्शन पराधीन उपनयन
दर्शन में दर्श नहीं शुद्धतत्व का
दर्शन के आस-पास ही घूमती है
तथता और वितथता
यानी,
कभी सत्य रूप, कभी असत्य रूप
होता है दर्शन, जबकि
अध्यात्म सदा सत्य चिद्रूप ही
भास्वत होता है।''[93]

'मूकमाटी' में अध्यात्म और दर्शन के मधय गहरा सम्बन्ध माना गया है। एक के बिना दूसरा अधूरा है। अध्यात्म और दर्शन का सम्बन्ध ज्ञान से है। प्रतिभा के द्वारा ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। यह ज्ञान अन्तर्मुखी होता है जिसके द्वारा निरंजन की स्तुति की जाती है। आचार्य श्री लिखते हैं-

''स्वथ्य ज्ञान ही अध्यात्म है
अनेक संकल्प-विकल्पों में
व्यस्त जीवन दर्शन का होता है
बहिर्मुखी या बहुमुखी प्रतिभा ही
दर्शन का पान करती है,

अन्तर्मुखी, बन्दमुखी चिदाभा
निरंजन का गान करती है।
दर्शन का आयुध शब्द है- विचार,
अध्यात्म निरायुध होता है
सर्वथा स्तब्ध- निर्विचार !
एक ज्ञान है, ज्ञेय भी
एक ध्यान है, ध्येय भी !
× × × × ×
कितनी गहरी डूब है यह
दर्शन और अध्यात्म की मीमांसा।''[94]

'' मूकमाटी'' के रचनाकार ने अनेकांतवादी दृष्टि को जीवन में अपनाने की बात कही है। संसार की बाह्य तपन से मुक्ति पाकर आत्मा के पराग पान हेतु उनका मानस व्याकुल है-

कितनी तपन है यह ।
बाहर और भीतर
ज्वालामुखी हवाऐं ये ।
जल-सी गई मेरी
× × × × ×
मनोज का ओज वह
कम तो हुआ है।
तत्व का मनन- मथन
बहुत हुआ, चल भी रहा है।
अब
मन थकता -सा लगता है
तन रूकता -सा लगता है
अब झाग नहीं
........फाग मिले।
मानता हूँ इस कलिका में
संभावनाऐं अगणित हैं
किन्तु यह कलिका
कली के रूप में कब तक रहेगी ?

इसकी भीतरी संधि से
सुगन्धि कब फूटेगी वह ?
उस घट के दर्शन में
बाधक है यह घूँघट
अब राग नहीं
.... पराग मिले।''[95]

उपर्युक्त पंक्तियों के द्वारा रचनाकार ने आध्यात्मिक साधना की ऊँचाईयों से स्पर्श किया है। साथ ही अंतरंग व बहिरंग तपन व ज्वालामुखी हवाओं के माध्यम से व्यक्ति, समाज व देश में व्याप्त कलह की ओर संकेत किया है। कवि वैषम्यता मिटाकर समाज को अनेकांतवादी दृष्टिकोण अपनाने की ओर संकेत करता है-

यह सब वैषम्य मिट से गये हैं
जब से ....मिला..........यह
मेरा संगी संगीत है।
स्वथ्य जंगी जीत है।''[96]

कुम्भकार द्वारा कुम्भ के ऊपर अंकित 'ही से भी की ओर' पंक्ति भी अनेकांतवादी विचारधारा का पोषण करती है। 'ही' एकांत का प्रतीक है, हीन दृष्टिकोण है तो भी अनेकांत का समर्थक है। जहाँ 'ही' का आग्रह होता है वहाँ संघर्ष जन्म लेता है तथा जहाँ 'भी' की अनुगूँज होती है वहाँ समन्वय की सुरभि फैलती है। 'ही' पश्चिमी सभ्यता का संयोजक है तो 'भी' भारतीय संस्कृति का उद्घोषक अनेकांत दर्शन सिखाता है कि एकांत के गंदले पोखर से निकलकर अनेकांत के शीतल सरोवर में अवगाहित होना श्रेयस्कर है।

'मूकमाटी' में कवि ने 'ही' और 'भी' के माधयम से एकांतवाद ओर अनेकांतवाद की अत्यंत सरल शब्दों में व्यख्या की है। कवि का मानना है कि शाश्वत् सत्य को पाना है तो 'भी' को ध्यान में रखो। यदि तुम केवल 'ही' की वकालत करते रहे तो तुम्हारी हठधर्मिता तुम्हें नष्ट कर देगी। आचार्य श्री की 'भी' और 'ही' की सटीक अभिव्यक्ति कुछ इस प्रकार से की है-

'ही' एकांतवाद का समर्थक है
'भी' अनेकांत, स्याद्वाद का प्रतीक।
× × × × × ×
'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को
'भी' देखता है सभीचीन दृष्टि से सब को,

'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
'भी' वस्तु के भीतरी भाग को भी छूता है,
'ही' पश्चिमी सभ्यता है
'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
रावण था 'ही' का उपासक
राम के भीतर 'भी' बैठा था
यही कारण कि
राम उपास्य हुए हैं, रहेंगे आगे भी ।
× × × × ×
प्रभु से प्रार्थना है कि
'ही' से हीन हो जगत यह
अभी हो या कभी भी हो
'भी' से भेंट सभी की हो।''97

'स्याद्वाद' का सिद्वान्त जैन तत्व ज्ञान की आधारशिला है। 'स्याद्वाद' के अनुसार वस्तु अनेक धर्मानुरूप है। संसार के सभी धर्म और दर्शन सत्य हैं, किंतु कभी-कभी -गृहीत सत्य संकुचित व असत्य नजर आता है। स्याद्वाद के अनुसार- प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण को सही समझे किंतु दूसरे के विरोध ी लगने वाले दृष्टिकोण को भी समझे।''98

'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' में वर्णित है कि एक क्षुद्र दीपक से लेकर महत् व्योम तक की सारी वस्तुओं पर स्याद्वाद की मुहर अंकित है।''99

'मूकमाटी' का कवि जैन दर्शन का महान् ज्ञाता होने के साथ-साथ अनेकांत और स्याद्वाद पथ के समर्थक भी हैं। इसलिए मूकमाटी में उन्होंने 'ही' के साथ 'भी' का वर्णन करते हुए स्याद्वाद के सिद्वान्त को बहुत ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है, जिसके कारण यह दर्शन नीरस न होकर मनोरंजक हो गया है। वैसे 'स्याद्वाद' और अनेकांत एक सिक्के के दो पहलू हैं। पर इनमें भी सूक्ष्म अंतर है। 'ही' और 'भी' को दोनों ने ही समान महत्व दिया है। आचार्य श्री का मानना है कि दोंनो को साथ लेकर चलने से जीवन में सरसता का संचार होता है। भले ही 'भी' जीवन के लिए कल्याणकारी हो। वे लोकतंत्र की मर्यादा और महत्व को 'भी' में ही सुरक्षित देखते हैं-

लोक में लोकतंत्र का नीड़
तब तक सुरक्षित रहेगा
जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।

'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है।
स्वतंत्रता के स्वप्न साकार होते हैं
सद्विचार सदाचार के बीच
'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।''[100]

'मूकमाटी' में ''उत्पाद-व्यय-धौव्य' का सिद्वान्त भी देखने को मिलता है। जैन दर्शन के अनुसार सत् वह है जिसमें उत्पाद, व्यय एवं धौव्य हो। यहाँ उत्पाद एवं व्यय परिवर्तन के सूचक है जबकि धौव्य नित्यता की सूचना देता है। इससे यह ध्वनित होता है कि वस्तु के विनाश एवं उत्पाद में व्यय एवं उत्पत्ति के रहते हुए भी वस्तु न तो सर्वथा नष्ट्र होती है और न ही सर्वथा नवीन उत्पन्न होती है। विनाश और उत्पाद के मध्य एक प्रकार की स्थिरता रहती है, जो न तो नष्ट्र होती है और न ही उत्पन्न, उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य तीनों साथ-साथ होते हैं। ये अभेद हैं। जिस समय उत्पाद होता है, उसी समय-व्यय होता है तथा इन दोनो के साथ धौव्य भी रहता है । उत्पाद-व्यय-धौव्य के सिद्वान्त को मूकमाटी में आचार्य श्री ने काफी महत्व प्रदान किया है। यह सूत्र संतों का दिया हुआ है, इस सूत्र की स्थिति दर्पणवत् है जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य को देखा जा सकता है। आचार्य श्री लिखते हैं-

''उत्पाद -व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्
संतों से यह सूत्र मिला है
इसमें अनन्त की अस्मिता
सिमट -सी गई है।
यह वह दर्पण है,
जिसमें
भूत, भावित और संभावित
सब कुछ झिलमिला रहा है
× × × × ×
आना, जाना लगा हुआ है
आना, यानी जनन- उत्पाद है
जाना, यानी मरण- व्यय है
लगा हुआ यानी स्थिर- ध्रौव्य है,
और
है यानी चिर-सत्
यही सत्य है यही तथ्य ......।''[102]

'निमित्त' व -'उपादान' सम्बन्धी विचारधारा भी मूकमाटी में देखने को मिलती है। 'निमित्त' का अर्थ कारण माना गया है, मिट्टी के उपादान रूप में होते हुए भी बिना निमित्त के घटादि में परिवर्तित नहीं हो सकती। 'मूकमाटी' में आचार्य श्री ने 'निमित्त' के दो भेद 'स्व' व 'पर' का वर्णन किया है-

सत्ता शाश्वत् होती है, बेटा !
प्रति सत्ता में होती है
अनगिन संभावनाऐं
उत्थान- पतन की,
खसखस के दाने-सा
बहुत छोटा होता है
बड़ का बीज वह।''[103]

इसी प्रकार 'निमित्त उपादान' 'कार्य-कारण' आदि सम्बन्धों का वर्णन कवि ने बड़ी ही कुशलता के साथ किया है-

प्रति पदार्थ
अपने प्रति
कारक ही होता है
परन्तु
पर के प्रति
उपकारक भी हो सकता है
और
अपने प्रति
कारण ही होता है
परन्तु
पर के प्रति
उपकरण भी हो सकता है ।''[104]

जैन दर्शन के दो पक्ष 'व्यवहार नय' व 'निश्चय नय' की दृष्टि से उपादान व कारण दोनों के विषय में दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। व्यवहार नय से निमित्त वस्तुभूत है, निश्चयनय से वह कल्पनामात्र है। अतः इस नय से निमित्त- नैमित्तिक भाव कार्य करता है-

केवल, उपादान कारण ही
कार्य का जनक है
यह मान्यता दोषपूर्ण लगी,
निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है।

हाँ ! हाँ !
उपादान -कारण ही
कार्य में ढलता है
यह अकाट्य नियम है,
किन्तु
उसके ढलने में
निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है,
इसे यूँ कहें तो और उत्तम होगा कि
उपादान का कोई यहाँ पर
पर भिन्न है ....तो वह
निश्चय से निमित्त है
जो अपने मित्र का
निरन्तर नियमित रूप से
गन्तव्य तक साथ देता है।''[105]

अत: मैं यह कह सकती हूँ कि आचार्य श्री द्वारा विरचित मूकमाटी काव्य में जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तों की झलक दिखाई देती है। 'मूकमाटी' काव्य कुम्भकार रूपी गुरू की सहायता से माटी रूपी आत्मा के रूप में यात्र प्रारंभ कर साधना के सोपानों को पार करता हुआ संसार रूपी सागर को पार करता है। 'मूकमाटी' में वर्णित प्रसंग जीवनदर्शन, अध्यात्म, रहस्य और किसी न किसी तत्व की गंगा को इस तरह से प्रवाहित करते हैं कि आम आदमी उसमें अवगाहन कर इस संसार सागर से पार हो सकता है, अपने जीवन का कल्याणकर सकता है और शिखर ऊँचाइयों को प्राप्त करने के लिए प्रयास कर सकता है।

संदर्भ-सूची

1. काव्यालंकार, आचार्य भामह, 1:19:21,
2. काव्यादर्श, आचार्य दण्डी, 1 : 4 : 19
3. काव्यानुवाद, अ.-6
4. हिन्दी साहित्य कोश (प्रधान संपादक) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ.- 577
5. काव्यालंकार, आचार्य रूद्रट, अ.-16 : 2-19
6. हिन्दी साहित्य कोश (प्रधाान संपादक) डॉ.धाीरेन्द्र वर्मा, पृ.- 577
7. एपिक एण्ड रोमांस डब्ल्यू पी. करके पृ.-17
8. दि एपिक, एवर क्रोम्बी पृ.- 41, 42
9. 'फाम वर्जिल टु मिल्टन' - सी.एम. बावश, पृ.- 01
10. 'इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री',- मैकनील डिक्सन, पृ.-9
11. हिन्दी साहित्य कोश (प्रधानसंपादक) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ.- 579
12. कामायनी, कन्हैयालाल सहल तथा विजयेन्द्र स्नातक, पृ.-122
13. कामायनी, चिन्तासर्ग, जयशंकर प्रसाद, पृ. - 13, 15
14. कामायनी, आशासर्ग, जयशंकर प्रसाद, पृ.- 23,24
15. कामायनी, जयशंकर प्रसाद,पृ. - 26
16. वही, पृ.- 63
17. इन्दू - कला - 1 संवत् 1966, पृ. - 8-11
18. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ.- 186, 202
19. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ.- 241
20. वही, पृ.- 262, 264
21. वही, पृ.- 266, 268
22. वही, पृ.- 270
23. '' द ओसन ऑफ स्टोरी'' - एन.एम.पेंजर, पृ.- 245
24. उर्वशी (भूमिका) पृ.- ख
25. धर्म, नैतिकता और विज्ञान, उदयाचल, पृ.-11
26. 'उर्वशी' - दिनकर, भूमिका, पृ.- 5
27. वही, पृ. - 67
28. उर्वशी : कला और विचारबोधा- नगेन्द्र (उर्वशी विचार और विश्लेषण' - सं. डॉ. वचनदेव कुमार, पृ. - 10)

29. उर्वशी - दिनकर, पृ. - ज
30. उर्वशी - दिनकर, अंक - एक , पृ. - 16
31. वही, अंक - तीन, पृ. - 35
32. वही, पृ.- 66
33. वही, पृ. - 67
34. वही, भूमिका, पृ. - च
35. उर्वशी - दिनकर, भूमिका, पृ.- ख
36. वही, पृ.- ड़
37. दिनकर की उर्वशी का प्रेम- दर्शन, डॉ. ललिता अरोड़ा, पृ.- 84
38. सुमित्रनन्दन पंत : जीवन और साहित्य (द्वितीय खण्ड), शांति जोशी, पृ.- 515
39. The Illustrated Weekly of India, A Conyersation with Sumitranandan Pant, May 24, 1964, P.14.
40. सुमित्रनंदन पंत : जीवन और साहित्य, शांति जोशी, पृ.- 541
41. पंत की काव्यगत मान्यताऐं और उनका काव्य, डॉ. अवधा बिहारी राय, पृ.- 541
42. आधुनिक हिन्दी काव्य, कुमार विमल, पृ.- 137
43. लोकायतन, पंत, पृ.- 6
44. वही, पृ.- 226
45. वही, पृ.- 427
46. वही, पृ.- 535
47. लोकायतन, पंत, ज्ञातव्य
48. माध्यम- लोकायतन, डॉ. सावित्री सिन्हा, जून - 1965,ृ.- 80
49. लोकायतन, पंत, पृ.- 630
50. वही, पृ.- 634
51. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 4
52. वही, पृ.- 5
53. वही, पृ.- 28
54. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागर : जीवन एवं साहित्यिक अवदान, डॉ. विमलकुमार जैन, पृ.- 476
55. मूकमाटी, पृ.- 266
56. मूकमाटी, पृ.- 486
57. वही, पृ.- 486

58. वही, पृ.- 9
59. वही, पृ.- 12
60. वही, पृ.- 12
61. वही, पृ.- 49
62. वही, पृ.- 50
63. वही, पृ.- 364
64. वही, पृ.- 366
65. वही, पृ.- 266
66. वही, पृ.- 108, 109
67. वही, पृ.- 07
68. वही, पृ.- 148
69. आचार्य श्री विद्यासागर ग्रन्थावली, प्रवचनामृत, पृ.- 4/64
70. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 49, 50
71. वही, पृ.- 471
72. महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली परिशीलन द्धप्र. संपादकत्रः डॉ. रमेशचन्द्र जैन, पृ. - 368
73. वही (लेख- मंगलकारी चेतना का मुखर स्वर- डॉ. गंगाप्रसाद बरसैंया) पृ.-379
74. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 90
75. वही, पृ.- 218
76. वही, पृ.- 217
77. वही, पृ.- 281
78. परमात्मप्रकाश, पृ.- 22,दोहा- 15
79. वही, पृ.- 89, दोहा- 23
80. तत्वार्थ सूत्र उमास्वामी 1,1
81. छहढाला, दौलतराम, ढाल- 3,2
82. रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र, 133
83. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 442
84. वही, पृ.- 4, 5
85. वही, पृ.- 305
86. वही, पृ.- 11
87. वही, पृ.- 109, 110

88. वही, पृ.- 210
89. वही, पृ.- 57
90. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 64
91. वही, पृ.- 284
92. वही, पृ.- 277
93. वही, पृ.- 288
94. वही, पृ.- 288, 289
95. वही, पृ.- 140, 141
96. वही, पृ.- 146, 147
97. वही, पृ.- 172, 173
98. भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, पृ.- 118
99. वही, पृ.- 119
100. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 173
101. वही, पृ.- 146
102. वही, पृ.- 185
103. वही, पृ.- 07
104. वही, पृ.- 39, 40
105. वही, पृ.- 480, 481
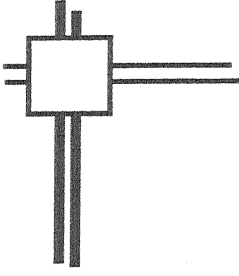
अध्याय-तीन

आचार्य श्री का महाकाव्येत्तर काव्य-सृजन : परिचय

पृष्ठभूमि :

(अ) काव्य-संकलन :

- नर्मदा का नरम कंकर
- डूबो मत, लगाओ डुबकी
- तोता क्यों रोता?
- दोहा-दोहन
- चेतना के गहराव में
- विद्याकाव्य भारती

(ब)स्फुट काव्य-रचनाऐं :

- निजानुभव शतक
- मुक्तक शतक
- पूर्णोदय शतक
- सर्वोदय शतक
- श्रद्धांजलि काव्य
- जिनेन्द्र स्तुति
- योगसार
- अष्टपाहुड़ काव्य-संग्रह
- एकीभाव स्त्रोत
- नंदीश्वर भक्ति
- सूर्योदय शतक
- कुन्द-कुन्द का कुन्दन
- जैन गीता
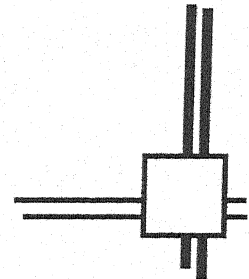
आचार्य श्री का महाकाव्येत्तर काव्य-सृजनः परिचय

पृष्ठभूमि :

आचार्य विद्यासागर जी महाराज समकालीन समय के संतों में बहुचर्चित, बहुख्यात और सर्वमान्य 'संत' के रूप में जाने जाते हैं। आपने अपने तप, त्याग और संयम के द्वारा जिन ऊँचाईयों को स्पर्श किया है उससे सामाजिक जगत में एक अभूतपूर्व परिवर्तन की संभावनाऐं दिखाई देने लगीं हैं। आपने अपने चिंतन, आचरण, चर्या और ज्ञान के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि नियम और संयम को आचरण में उतारकर ही हम सांसारिक जीवन के संतापों से छुटकारा पा सकते हैं। यद्यपि यह सही है कि साधक की साधना, उसका त्याग और तप लोगों के अत:करण में श्रद्धा को जाग्रत करता है परन्तु साधक की सृजनात्मकता उसके चिंतन से उत्पन्न विभिन्न भावधाराओं से अवगत कराती है। आचार्य विद्यासागर जी ने ''उत्कृष्ट साधना के साथ-साथ रचनाशीलता के विविध आयामों को स्पर्श कर चिंतन, मनन और दर्शन की जो त्रिवेणी प्रवाहित की है वह नि:संदेह अद्वितीय है।''[1] फिर आपने केवल काव्य-सृजन ही नहीं वरन् गद्य की अनेक विधाओं, विशेष रूप से अनूदित कृतियों के द्वारा पाठकों को जिन श्रेष्ठ ग्रंथों से ज्ञानार्जन के साथ-साथ जो आत्मबोध का अपरिमित लाभ पहुँचाया है वह स्तुत्य है। फिर इतना ही नहीं वरन् ''आपने काव्य के रूप में मुक्तछंद के माध्यम से भावों की अतल गहराईयों में उतरकर शब्दों को जो अस्मिता प्रदान की है उससे ऐसा लगता है कि शब्द की शक्ति कितनी प्रबल और प्रभावी होती है।''[2]

यहाँ पर मैं आचार्य श्री द्वारा रचित उनकी काव्य-कृतियों की परिचयात्मक पृष्ठभूमि के रूप में उनके कृतित्व के अवदान को रेखांकित करेंगे जिससे कि उनके सृजन के बहुआयामी स्वरूप से परिचित हुआ जा सके। आचार्य श्री की काव्य-कृतियों के परिचयात्मक स्वरूप को क्रमबद्ध रूप में हम इस प्रकार प्रस्तुत करेंगे-

(अ) काव्य-संकलन :

आचार्य श्री के काव्य-संकलनों की संख्या सात है। ये संकलन इस प्रकार है- ''नर्मदा का नरमकंकर,'' 'डूबो मत, लगाओ डुबकी,' 'तोता क्यों रोता,' 'दोहा-दोहन', 'चेतना के गहराव में,'

'विद्या-काव्य भारती' और 'पंचशती'। आचार्य श्री ने कतिपय स्फुट काव्य रचनायें भी लिखी हैं जो इस प्रकार है- 'स्तुति शतक', स्तुति-सरोज,' 'मुक्तक-शतक,' 'पूर्णोदय-शतक,' 'सर्वोदय-शतक,' और सूर्योदय-शतक'।

उपर्युक्त काव्य-संकलनों और स्फुट-काव्य रचनाओं का परिचयात्मक स्वरूप इस प्रकार से है :-

(क) नर्मदा का नरम कंकर : आचार्य श्री की एक ऐसी काव्य-कृति है जिसमें उन्होंने अपनी अनुभूतियों को कुछ इस तरह से रेखांकित किया है जिससे कि आध्यात्मिक पिपासुओं को शांति की अनुभूति हो सके। यह एक ऐसी काव्य-कृति है जो मानव के भीतरी ज्ञान के भाव को अभिव्यक्त करती है। इस काव्य-कृति में आचार्य श्री द्वारा सर्वत्र कोमल और करूण भावोंको अभिव्यक्ति प्रदान की गई है इसीलिए इस कृति का शीर्षक भी उन्होंने 'नर्मदा का नरम कंकर' रखा है। यों तो नर्मदा के विशाल पाषाण कठोर ही है पर उन कठोर पाषाणों के मध्य कल कल करता हुआ शीतल जल अपनी करूण गाथा को कहता है। वह यही कहना चाहता है कि पहाड़ी चट्टानें मेरे प्रवाह से कंकर तो बन जाती हैं पर वे नरम नहीं हो पातीं। इस सम्बन्ध में प्रो. शेखर जैन अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं-''जीवन नदी के प्रवाह सा ही है। कभी तट के बीच प्रवाहित होता है तो कभी तट के बन्ध को भी तोड़ता है कभी उसमें वातावरणी संयम आता है तो कभी भावों की नदी सा विकारों का सैलाब तट भी तुड़वा देता है। नदी में पड़ चट्टान भी जल प्रवाह के घर्षण से कंकर तो बन जाती है, पर नरम नहीं हो पाती।''

यों तो इस काव्य-कृति में कई प्रकार की दृष्टियाँ हैं जैसे- आत्मदर्शन, आत्मबोध, कषाय-विजय, निराकारता, लाघवता, जागरण आदि। परन्तु कवि ने जो कुछ कहा है यदि उसे हम प्रकृति के अंचल में ले जाकर देखें तो एक नवीन ही तरह की अनुभूति होगी। जब वे महाज्ञान की बात करते हैं तो महाप्राण, महाप्रमाण, प्रकृति की अनुकूलता आ जाती है। जब वे आत्मा की बात करते हैं तो विषय-राग को वीतराग को बीतराग की शरण में ले जाकर बैठा देते हैं। हंस बने रहने की बात में मृदुता एवं आनंद की अपरिमेय लहरों को लहरा देते हैं वे प्रत्येक लता में नये-नये फूलों की कल्पना करते हैं तथा एक धीर की तरह अनिमेष निरखते हैं। इन्हीं भावों से परिपूर्ण रचनायें शब्दों के घर्षण और विचारों के मंथन से दर्शन को जन्म देती है। उनकी कविताओं की दृष्टि विचारने की नहीं वरन् चिंतन की है जिसे उनकी प्रत्येक रचना में किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। इस काव्य-संग्रह की कविताओं में से 'वचन-सुमन' 'मानस-हंस', एकाकी यात्री,' 'मनमाना मन,' 'मानस दर्पण में,' 'नर्मदा का नरम कंकर,' 'समर्पण द्वारा पर,' 'जीवित समयसार,' 'दर्पण में एक और दर्पण,' 'लाघव भाव तथा 'डूबा मन रसना में' कविताऐं साहित्य की शुचिता और गरिमा से मंड़ित है। इनमें विशाल चेतना, प्रकृति के विहंगम दृश्य, सुषुप्त जागरण आदि का समावेश किया गया है। सर्वत्र कवि की रचनाओं में भावों की अतल

गहराईयाँ देखने को मिलती हैं। कहीं-कहीं पर वे अध्यात्म में इतने बह गये हैं कि प्रकृति से जुड़े हुए तत्व भटके हुए से जान पड़ते हैं। कहीं-कहीं पर उनकी आराधना का स्वर अत्यंत तीव्रतर हो उठा है फिर भी उनका चिंतन नाना प्रकार के विषयों को स्पर्श करता हुआ भौतिक जीवन के लिए दिशा-निर्देश देने का काम करता है जो कि सामयिक दृष्टि से अत्यंत हितकारी है।

आचार्य श्री का ऐसा मानना है कि आत्मदर्शन के लिए आत्मदोष दर्शन जीवन की सबसे बड़ी कसौटी है, यद्यपि यह आत्म परीक्षण बड़ा ही कठिन है, परन्तु मुक्तिपथ का पथिक इस परीक्षण की अनुभूति से बीतरागी आत्मा को अनुभव कर लेता है। कवि इसी आत्मा को परमात्मा बनने केलिए कृति के माध्यम से सम्बोधन देता है। विवेक दृष्टि को खोलने की पृष्ठभूमि प्रदान करता है।

आचार्य श्री की दृष्टि में धर्म का क्षितिज अत्यंत विस्तृत है। धर्म के क्षेत्र में वैचारिक मलिनता को लेशमात्र भी स्थान नहीं है। यदि मलिनता है भी तो उसे भक्ति के जल से धोया जा सकता है। भक्ति के क्षेत्र में सच्चा समर्पण श्रावक को क्षितिज ऊँचाईयों तक पहुँचा देता है, परन्तु इस ऊँचाई को प्राप्त करने के लिए गुरू की कृपा का संबल अत्यंत आवश्यक है। गुरू के चरणों में झुका हुआ मस्तक कृपा का आशीष प्राप्त करते ही पाप मुक्त हो निर्भार हो जाता है। ज्ञान का तीसरा नेत्र अंतर्मन के अंधकार को भगा देता है। 'एकाकी कविता' कवि की इसी आस्था को रेखांकित करती है। जिसमें आत्मा के पार पहुँचने के लिए दुर्बल और शिथिल भी अदम्य उत्साह के साथ तैरने का प्रयास करता है-

''साहस, उत्साह
और.........अपने
दुर्बल बाहुओं से
निरंतर तैर रहा हूँ।''[3]

आत्मा के कल्याण के लिए गुरू की अनुकम्पा, उनकी दुःखहरण वाणी, चेतना को जाग्रत करने वाले प्रबोधन, नितांत आवश्यक हैं। गुरू की महती कृपा से ही शिष्य के कल्याणपथ का रास्ता प्रशस्त होता है। स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा का आरंभ विवेकपूर्वक 'मन' को मनाकर काबू में रखने से ही होता है, पर 'मन' को केवल एक सीमा तक ही दबाया जा सकता है। इसलिए कि 'मन' को ज्यादा दबोन से वह प्रतिवाद करने लगता है। उसे ज्यादा कसना भी पीड़ादायक होता है-

''इतना मत कसो
कि टूट जाये।
संगीत संवेदना की धार
टूट जाये।''[4]

अतः मन को मारने की नहीं वरन् उसे सही दिशा में मोड़ने की आवश्यकता है, उसे उस ऊँचाई तक ले जाने की आवश्यकता है जहाँ मान और अपमान सम हो जायें, तभी आत्मा में रमण करने पर सत्त आंनद की अनुभूति होगी। कविता का सम्बन्ध जीवन की सार्थकता से है। जीवन की सार्थकता सच्चा ज्ञान प्राप्त करने पर ही होती है। जब सच्चे ज्ञान के द्वारा अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति होने लगती है तब वाणी 'मौन' धारण कर लेती है। फिर मौन ही तो 'आत्मस्थित' 'होने का बोध कराता है। आचार्य श्री की काव्य-कृति, 'नर्मदा का नरम कंकर' हमारी जड़ता, कटुता और कठोरता का प्रतीक है। निर्मल जलरूपी गुरू उपदेशों से भींगने पर भी इसकी कठोरता कभी-कभी कम नहीं होती है। इसलिए कि हमारे 'अंह' के कंकड़ बहुत ही सख्त होते हैं। जो कि बड़ी ही मुश्किल से टूटते हैं। कठोरता को कभी शिवत्व का अधिकार नहीं मिलता, वह सदैव पूजा के अधिकार से वंचित रहता है। इसलिए उस प्रभु की शरण में जाने केलिए 'अंह' का विसर्जन अपरिहार्य है। तभी हम सच्चे अर्थो में कल्याणपथ के अनुगामी बन सकते हैं।

आचार्य श्री कन्नड़ भाषी हैं फिर भी वे अपने शिष्यों को समयसार का ज्ञानामृत 'हिन्दी' में पिलाते हैं। ऐसा माना गया है कि ज्ञान की भूख और ज्ञानदान की इच्छा 'भाषा-भेद' को मिटा देती है। ज्ञान और प्रेम की भाषा में शब्दों से अधिक भावों के प्रस्तुतीकरण का महत्व होता है। यद्यपि कवि ने ज्ञान से ज्यादा महत्व चरित्र को दिया है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरू के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव होना चाहिए। चरित्र का पालन संयम की दृढ़ता से होता है। सच्ची आत्म-साधना उपासना से हुआ करती है। उपासना से ही सम्पूर्ण निधियाँ प्राप्त हो जाती है। उपासना में संलग्न होने से हृदय पुलकित हो उठता है। यहाँ पर कवि की अनुभूति कितनी सुखद और आनंदकारी प्रतीत होती है-

''और मैं.......................
आसीन हूँ
स्वाधीन हो
विभाव के अभाव में
तनाव के अभाव में
सहज भाव में
चेतना की छाँव में।''[5]

'आकार में निराकार' की खोज में कवि/साधक सतत् प्रयत्नशील रहता है। अतल गहराईयों में छिपे इस मोती की खोज ही तो साधक का परम् लक्ष्य है। साधक साधना की उस परम भूमि पर पहुँचने के लिए आतुर है जहाँ मौन का साम्राज्य है, जहाँ उसकी स्वतंत्र सत्ता है, जहाँ टकराव की रंचमात्र भी गुंजाईश नहीं है। यह तो साधक की पवित्र साधना का ही प्रभाव है जहाँ विपरीत मन भी अनुकूल और शांत हो जाता है। सुख-दुःख की समता ही इस साधना का परिणमन है। आचार्य श्री इस सत्य को इस

रूप में अनुभव करते हैं।

''ध्यान ध्येय सम्बन्ध से भी
ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध
महत्वपूर्ण हैं-
जब ध्यान में ध्येय उतरता है
जब ज्ञान ससीम होता है।''[6]

साधना की महत्ता मौन में है-प्रदर्शन में नहीं। साधक अपने आपको आराध्य के चरणों में पूर्ण समर्पित कर अनुपम शांति और शीतलता का अनुभव करता है। इस अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति को शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। भक्त सोचता है कि आज आराध्य की शरण में कृतार्थ होने का मौका मिला है। हे प्रभु ! इस खाली सीप में आपकी करूणा और स्वाती का जल भर जाये तो जीवन मोती की तरह चमकने लगे। फिर यह रसना केवल प्रभु के गुणों का ही गान करेगी।

इस तरह हम यह कह सकते हैं कि 'नर्मदा का नरम कंकर' आचार्य श्री की एक भावनात्मक कृति है जो काव्यानंद के द्वारा परमानंद की प्रतीति कराती है। यहाँ पर कृतिकार का यह भी मानना है कि यदि मानव अपने जीवन में परमसुख को प्राप्त करना चाहता है तो उसके भोगों से ऊपर उठकर साधना पथ का पथिक बनना होगा। इसके लिए श्रद्धा का सम्बल और मौन की साधना में दोनों चीजें प्राप्त हो जाने पर साधक को साध्य की प्राप्ति में सरलता प्रतीत होने लगती है। कवि ने, इस कृति में इसी साधना की ओर इंगित किया है।

(ख) डूबो मत, लगाओ डुबकी :- इस काव्य-संग्रह में आचार्य श्री की 42 कविताऐं संग्रहीत हैं। इस कृति का प्रथम प्रकाशन सन् 1942 में हुआ था। इसकी 'प्रस्तावना' स्वयं आचार्य श्री ने लिखी है जिसमें उन्होंने इस काव्यकृति के उद्देश्य और कारणों पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि-''अनुभूति की अनन्त धरती पर जो घटना घटित हुई, उसे आकार-प्रकार मिला, रूप मिला मूर्त्त शब्दों का। नामकरण हुआ 'डूबो मत, लगाओ डुबकी'। यह रचना आमूल-चूल परम शांत रस से सिंचित है, संपोषित है। स्वयं ऊर्ध्वमुखी बन पड़ी है और पाठकों को ऊर्ध्वमुखी बनाने में साधकतम् ही नहीं, आध ारशिला भी है।''[7]

आचार्य श्री इसके सृजन को सहज मानते हैं। इस रचना का उद्देश्य मूलरूप में उन्होंने चैतन्य की उपासना माना है। इसमें निस्सार को त्यागकर सार की छवि को बिखेरा गया है। इसमें न प्रदर्शन की कामना है और दिग्दर्शन की भावना, किन्तु तल-स्पर्शी आत्मदर्शन की चाहना है। संग्रह की कविताओं

में संवेदनशील कवि की स्वानुभूतियों की भावतरंगों का सजीव चित्रण सर्वत्र देखने को मिलता है।

कविता में स्वानुभूति का होना नितांत आवश्यक है। स्वानुभूति ही कविता में आनंद की सृष्टि करती है। कवि जब तक स्वयं आनंद को अनुभव नहीं करेगा तब तक वह दूसरों को कैसे बांट सकता है? स्वानुभव ही कविता में प्राण फूंकता है, यही तो कविता का उपादान है, अतः पाठक को भाव-गाम्भीर्य में ही डुबकी लगानी पड़ेगी। इस काव्य-कृति का नाम ही यह संदेश देता है कि कविता का रसास्वादन करने के लिए उसमें डूबने की आवश्यकता नहीं है, डुबकी लगाने की आवश्यकता है। डूबकर तो स्वयं को खो देना है, वह मोती कहाँ से पा सकेगा? हाँ, डुबकी लगाकर अवश्य रत्नों को खोजा जा सकता है उन्हें पाने का अधिकारी होया जा सकता है।

इस संग्रह की सभी कविताऐं अध्यात्मपरक है। यह संसार एक सागर के समान है जो अज्ञान के अंधकार से भरा हुआ है। इसमें जीव अनादिकाल से तैरता-तैरता थक गया है। यद्यपि उसके पास आस्था का संबल है पर उसका धैर्य टूटता जा रहा है। उसके अन्दर से एक ध्वनि उठती है- प्रभो ! प्रभात के दर्शन हों।''[8] इस संसार में पर का आलम्बन, पर का संबल केवल दुःखकर है, इसीलिए यह जीवन सिर पर कर्म घट का भार लादे भव-भव में भटक रहा है किन्तु उसे सुख का लेश भी प्राप्त नहीं। अज्ञान संध्या में विगत काम घनश्याम खड़े हैं परन्तु अंधकारवश दृष्टिगोचर नहीं होते। अरे! हौले हौले उनसे बात कर ले और अपना मल धोले।''[9]

यहाँ ज्ञान ही दुःख का मूल है और ज्ञान ही भव का कूल है, वह राग सहित प्रतिकूल है और रागरहित अनुकूल है। इन दोनों में से समुचित को चुनना है क्योंकि समस्त शास्त्रों का सार यही है कि समता बिन सब आँखों में छूता है।''[10] जिस प्रकार बादल-दल से 'दल-दल' बन जाता है और जिसे लखकर धरती का दिल हिल जाता है, उसी प्रकार जीव का हृदय भी संसार के दलदल से सभय रहता है।''[11] यह कहना भी कि वह शुभाशुभ कर्मानुसार फल देता है, यथार्थ नहीं है, क्योंकि यदि कर्मानुसार वह फल देता है तो कर्म ही प्रधान रहा, ईश्वर की क्या आवश्यकता है?

''चेतन से अचेतन का उद्भव/कैसा हो सम्भव!
क्या संभव है कभी..............? बोकर बीज बबूल/पाना रसाल?
कर्ममात्र से काम हो रहा/ईश्वर फिर किस काम आ रहा?''[12]

वास्तव में प्राणी जन्म-मरण, सुख-दुख आदि स्वकर्मानुसार ही प्राप्त करता है।

''निज कृत विधि-फल/पाता प्राणी/अज्ञानी/''[13]

महाकवि तुलसीदास ने भी लिखा है-

''निज कृत करम योग सबु भ्राता/''[14]

यह जीव संसार-सागर तट पर बैठा उसमें उठती लहरों में मन रचा-पचाकर उन्हें निहारा

करता है, पर उसे पता नहीं कि ये लहर जहर है :

''उसी जहर से/अपना गागर/भरता जाता,
भरता जाता यह संसार/प्रहर-प्रहर पर/मरता जाता/मरता जाता......यह संसार/''[15]

यह जीव एक गुलाब का पौधा है, जिस पर स्वजन पुष्प खिले हैं, जिनमें सुंदर मकरन्द है परन्तु आज यह पौधा खेद खिन्न है क्योंकि उसकी जड़ में मोह का कीड़ा लगा हुआ है, जो उसे तिल-तिल कर काट रहा है। जिससे पुष्प मुरझा गया है और मकरन्द शुष्क होने से आलिगण लौट रहा है।''[16]
वह जीव ईश्वर से कहता है कि हे प्रभो! तुम राकेन्दु हो, सुधा सिन्धु हो, अतएव तुम्हें देख-देखकर समग्र सत्ता-सिन्धु उमड़ रहा है, नयन-कुमुदनी मुदित हो रही है और चेतन-चातक शीतल चाँदनी का पान कर रहा है।''[17] जीव का स्वरूप पारदर्शक है, उसी में झाँकने से चिदानन्द प्राप्त होता है, दुग्ध में झाँकने से क्या? घृत तो उसमें अन्तर्निहित हित है। दुग्ध रूप बाल जगत की चकाचौंध जीव को अंदर दृष्टि नहीं डालने देता इसी लिए घृत- घृत रूप आत्मानंद की उपलब्धि नहीं होती, जो कि शाश्वत् सार है।''[18]
मन की भूख मान है जो कभी नहीं मिटती और उसके न मिटने से परम सत्ता का भास नहीं होता, उसका आभास तो मार्दव-भाव से ही मिलेगा।''[19]

यों यदि विचार करके देखा जाए तो इस सृष्टि में कोई किसी का आधार नहीं बन सकता, क्योंकि वह स्वयं ही निराधार है। इसी प्र?कार ईद्यश्वर भी किसी का निर्माणकर्ता नहीं, बल्कि वह अपने कृत्य कर्म का स्वतः जिम्मेदार है। इस संसार में भटक रहे, प्राणी का कारण है उसका अपने आप में अस्थिर होना। वह असंयम केकारण पल-पल, पग-पग पर दुःखी हो रहा है। उसे चाहिए कि वह भगवान के चरणों में सेवक बनकर निष्काम भाव से समर्पित हो जाए, तभी उसकेलिए परमात्मा के सान्निध्य, की प्राप्ति संभव है। लेकिन अब व्यक्ति समर्पण को भूलकर सत्ता के मद में पागल हो गया है। कवि, राजनीतिज्ञों की ओर संकेत करता हुआ कहता है-

''आरूढ़ हो सिंहासन पर
शासन बन
शासन चलाना
परतंत्रता का पोषण है
स्वतंत्रता का शोषण है।''[20]

मनुष्य कर्मों के कीचड़ में लिप्त होकर अपने आपको भव-भव में भटकने के लिए बाध्य करता है। इसीलिए संसार भ्रमण का कारण संसार को निरंतर याद करना बताया गया है। जिस दिन इस नश्वर संसार के प्रति मोह क्षीण होने लगे, सब कुछ भूलने का मन बनने लगे, तभी से अपने आपको पहचानने की यात्रा आरंभ होती है। संसार के प्रति आसक्ति कम करने के लिए ही तो समस्त प्रकार की

साधनाऐं की जाती हैं। मुनिश्री की आकांक्षा है कि वह शुभ समय कब आयेगा, जब सब कुछ भूल सकूँ-

''स्वर्गीय मुक्ति नहीं
पार्थिव शक्ति नहीं
ऐसी एक युक्ति चाहिए
निसदिन रमण करूँ अपने में
द्वैत की नहीं अद्वैत की भक्ति चाहिए।''[21]

प्रस्तुत काव्य-कृति के माध्यम से कवि ने अत्यंत सहज भाव से अपनी आत्मानुभूति को अभिव्यक्त किया है। इस संग्रह की एक-एक कविता भोगे हुए अनुभूत सत्य का पाठक के समक्ष दृश्य उपस्थित करती है। कृति का मुख्य उद्देश्य भौतिक जीवन से अनासक्त होने और आत्मा में स्थिर होने की प्रेरणा देना है। मैं (अहम्) को मिटाकर मैं (आत्मा) में रमण करने का भाव पाठक के अन्तःकरण में प्रकट होता है। तैरना सीखकर 'डुबकी लगाने' अर्थात् आत्मा में डूब जाने का अभ्यास करना है। सांसारिक सुखों में डूब जाना नहीं।

आचार्य श्री ने भावों की अभिव्यक्ति के लिए सुन्दर भाषा और श्रेष्ठ शब्दावली का चयन किया है। कवि ने अभिव्यक्ति के लिए छंदों के बंधन को स्वीकारना इसलिए उचित नहीं माना कि मुक्ति की चाह रखने वाला निर्बन्ध संत किसी बंधन को कैसे स्वीकार कर सकता है? इसीलिए उन्होंने मुक्तछंद को ही अभिव्यक्ति का आधार बनाया है, पर उसमें भी जो एक गति और लय का भाव है वह पाठक को आन्दोलित करने के साथ-साथ रसरिक्त भी कर देता है।

तोता क्यों रोता ? आचार्य श्री का यह काव्य-संग्रह सन् 1988में अजमेर (राजस्थान) से प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह में कवि की 55 कविताऐं हैं जिनमें प्रमुख रूप से सामाजिक भावना का उत्कर्ष दिखाई देता है।

आचार्य श्री इस संग्रह के सम्बन्ध में 'आमुख' के अन्तर्गत स्वयं लिखते हैं-

''कृपा हुई गुरू की। वरद् हस्त रहा इस मस्तक पर। अणु-अणु का अतिशय ज्ञात हुआ। कण-कण का परिचय प्राप्त हुआ। पर प्राप्तव्य तो पर से परे है, इस संधि की गंध को भी इसकी नासा ने पी डाली। उसी का परिणाम है यह।''[22]

आचार्य श्री आगे कहते हैं कि एक दिन मेरे चंचल मन ने मुझे प्रेरणा दी-''मैं अत्याचार रहित विचारों का अधिकरण हूँ, प्रकृति का पुत्र, लाड़ला। किन्तु तुम हो विशुद्धतम करण। निश्चित ढलोगे तुम शाश्वत् सुख-सत्ता के अनन्त अधिकरण में इसलिए पथ पूर्ण होने से पूर्व इस युग को कुछ तो दो।

और मन मौन में डूबता है।[23]

''मन की प्रेरणा से साधक पुरूष प्रेरित हुआ। सुदूर पीछे रहे, अमूर्त्त पथ के पथिकों पर करूणा आई और सूचना फलकों के रूप में इन शब्दों को छोड़ता हुआ आगे बढ़ता है यह साधक सहज गति से और पथिकों से विशेष निवेदन करता है कि वे इन सूचना फलकों को साथ लेकर न चलें, वरन् इनसे सूचित भाव का अनुसरण करें और शीघ्र सुख का वरण करें।''[24]

उपर्युक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि गुरूवर आचार्य श्री ज्ञानसागर द्वारा प्रदत्त ज्ञान के परिणाम स्वरूप इस कृति या आविर्भाव हुआ।

समकालीन समय का मानव कुछ ज्यादा ही अहंकारी हो गया है। आजकल 'लक्ष्मी' का ही सर्वत्र बोलबाला है पर 'सरस्वती' संकुचित सी दिखाई दे रही है। धन की चकाचौंध ने धर्म को दबा दिया है। यही नहीं बल्कि 'साधु' और 'स्वादु' में कई क्रियाओं की साम्यता होते हुए भी काफी फर्क दिखाई देने लगा है-''एक का लक्ष्य तत्व चिंतन है तो दूसरा विषयों मं चिंतित है। आचार्य श्री उन स्वांग वेशध ारियों पर चोट करते हैं जो 'साधु' कम 'स्वादु' लोलुप अधिक हैं।

आज का मानव 'अहं' के पोषण में लगा हुआ है। इसीलिए लोकेषणा की प्यास कम होने की अपेक्षा बलवती ही होती जा रही है। लेकिन जब उसे प्रभु की कृपा प्राप्त हो जाती है तो अंह का भाव स्वमेव गल जाता है। प्रभु की कृपावारि से अंतर ह्दय सिंचित हो जाने पर जीवन की सारी मलिनता समाप्त हो जाती है। कवि इस संग्रह की ''प्रार्थना'' कविता के माध्यम से मनुष्य को संयम और विषयों के परित्याग की ओर इंगित करता है।

आज का मानव धनार्जन की होड़ में लगा हुआ है। उसका ऐसा मानना है कि दान से पाप का कीचड़ धुल जाता है। इसलिए खूब लूटो खसोटो फिर 'दान' करके पाप से मुक्त हो जाओ। 'यश' और 'सम्मान' को प्राप्त करो। पर ऐसा सोचना इस अज्ञानी मानव का भ्रम है। मुनि श्री ऐसे कार्य करने की अनुमति प्रदान नहीं करते-

''कीचड़ में पद रखकर
लथपथ हो
निर्मल जल से
स्नान करने की अपेक्षा
कीचड़ की उपेक्षा कर
दूर रहना ही बुद्धिमानी है।''[25]

मनुष्य की प्रकृति स्वार्थी होने के कारण अवसरवादी हो गई है। वह अपनी कार्यसिद्धि के लिए किसी भी तरह के अनुचित साधनों का उपयोग करने के लिए तैयार रहता है। उसका स्वभाव 'गिरगिट' की तरह रंग बदलने जैसा हो गया है। पर कवि का तो धर्म है कि वह लोगों की वास्तविकता से उन्हें रू-ब-रू कराये। इसीलिए 'सत्य' की महिमा को कोई आज तक नहीं भुला सका है। पर अब स्थितियाँ काफी कुछ बदल गई हैं। अब 'सत्य' बहुमत पर आधारित हो गया है। ऐसा लगता है जैसे कि 'सत्य' किसी भीड़ में गुम हो गया हो। कवि की पुरजोर कोशिश है कि हमें उस सत्य को खोजना होगा जो भीड़ में गुम हो गया है, तभी हम जीवन के संतापों से मुक्त हो सकेंगे।

'सन्यास' को पलायन की उपमा देना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि सच्चा सन्यास तो चराचर के साथ साम्य का नाता जोड़कर 'मैं' का तिरोहण कर विश्व की ओर मोड़ने में है। संत कवि की इच्छा है मन कलुषित भावों से मुक्त होकर जीवमात्र के प्रति करूणामय बन जाये। कवि को भौतिक सुखों की कामना नहीं, वरन् केवल अनमोल सुख के रूप में मुक्ति की चाह है। कवि ने श्रम की महत्ता को सर्वोपरि माना है। श्रम के बिना जीवन में कोई सिद्धि या उपलब्धि प्राप्त नहीं हो सकती। जिन लोगों ने इस मर्म को जान लिया है वे कभी निराश नहीं होते, सदैव पुरूषार्थ में लगे रहते हैं। आचार्य श्री का यह कथन यहाँ पर काफी प्रेरणादायक जान पड़ता है-

''तुम पुरूष हो, पुरूषार्थ करो।
कभी न होना, किसी से प्रभावित।''[26]

इस काव्य, संग्रह की कविताओं में कवि ने प्रकृति को आलंबन के रूप में उपयोग किया है, कवि ने अपनी बात को सरिता, कूल, फूल, शूल, गहरा जल, कंकड़, गुलाब, भ्रमर, धरती, बादल, प्रचण्ड, सूर्य, ढलती संध्या के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

आचार्य श्री की शैली काफी सुन्दर और आकर्षक है। उन्होंने कहीं अपनी शैली के द्वारा याचना का चोला पहना है तो कहीं यातना के गहने पहने हैं, कहीं डाल के गाल पर गुलाब खिले हैं तो कहीं काया की नाव और माया की छाँव है। कहीं वह मौन मालती से बात करता है तो कहीं पर धरती के प्यासे होने पर द्रवित होता है। कवि ने संग्रह की कविताओं में सर्वत्र भाषा का लक्षणा और व्यंजना शक्ति का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है।

दोहा-दोहन :

इस संग्रह का प्रकाशन सन् 1984 में हुआ था। इसमें संग्रहीत दोहे आचार्य श्री द्वारा विभिन्न अवसरों पर लिखे गये हैं। इन दोहों की संख्या 137 है। इनमें अधिकांश दोहे ऐसे भी हैं जिन्हें पुनरावृत्त

किया गया है। आचार्य श्री ने इस संग्रह के दोहों को सात शीर्षकों में विभक्त किया है ये हैं-तीर्थंकर वन्दना, स्वर्ण बनूँ छविमान, ध्यान के गवाक्ष से है अभिलाषानाथ ! हो जग का कल्याण, आतम को पहचान और अन्य विविध हिन्दी साहित्य में दोहा साहित्य पर्याप्त मात्रा में रचा गया है-कबीर, जायसी, तुलसी, रहीम, बिहारी और वृन्द कवि के दोहे अत्यंत प्रसिद्ध है। तुलसी, बिहारी की सतसईयाँ तो साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। आधुनिक काल में भी वियोगी हरि की 'वीर सतसई' तथा द्वारका प्रसाद मिश्र कृत 'कृष्णायन' के दोहे हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं, आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित दोहों पर यदि हम दृष्टिपात करें तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोहे पूर्णतजः अध्यात्मपरक है लेकिन ये दोहे काव्यकला की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ धार्मिक साहित्य की दृष्टि से अमूल्य निधि ही माने जायेंगे।

आचार्य श्री की शैली अपने आपमें अनूठी है। सरस पदविन्यास और आलंकारिकता उनकी शैली का अपने आपमें विशिष्ट गुण है। 'दोहा, दोहन' में आचार्य श्री ने चौबीस तीर्थकरों की वंदना दो-दो दोहों के क्रम से की है, किन्तु प्रत्येक दोहा साहित्यकी दृष्टि से अपने आपमें अनूठा है। भगवान अजितनाथ की वंदना कवि ने कुछ इस प्रकार से की है-

जितइन्द्रिय जित-मद बने, जित-भव विजित-कषाय।
अजितनाथ को नित नमूँ, अर्जित दुरित पलाय।।''[27]

कवि सर्वत्र शब्दों से क्रीड़ा करता हुआ दिखाई देता है। अनुप्रास और यमक की छटा तो देखते ही बनती है। जैसे-कोपल, पल-पल कों पले, वन में मृतुपति आय' तथा 'भव-भव भव-वन भ्रमित हो, भ्रमता भ्रमता आज, आदि चरणों में यह सौन्दर्य देखा जा सकता है। निम्न पंक्तियों रूपक की छटा देखते ही बनती है-

''शुभ्र सरल तुम बाल तव, कुटिल कृष्ण-तम नाग।
तव चिति चित्रित ज्ञेय से, किन्तु न उसमें दाग।।''[28]

अर्थात् हे पद्मप्रभु! आप गौरांग एवं सरल प्रकृति के हैं, किन्तु आपके कुटिल बाल कृष्णतम नाग ही हैं। आपकी चिति में ज्ञेय पदार्थ प्रतिबिम्बित है किन्तु उसमें कोई दाग नहीं। निम्न दो दोहों में भी कवि का शब्द सौष्ठव देखते ही बनता है। रूपक की अद्वितीय छटा अत्यन्त मनोहारी है-

''अनेकांत की कांति से, हटा तिमिर एकांत।
नितांत हर्षित कर दिया, क्लान्त विश्व को शांत।।''[29]
''ना तो सुर-सुख चाहता, शिव-सुख की ना चाह।
तव धुति-सरवर में सदा, होवे मम अवगाह।''[30]

यहाँ पर कवि ने प्रथम दोहे के अन्तर्गत जैन दर्शन के महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'अनेकांत' की प्रशंसा की है। द्वितीय दोहे के अन्तर्गत कवि न तो सुर-सुख चाहता है और न शिव-सुख, वह तो केवल भगवान पार्श्वनाथ के स्तुति सरोवर में अवगाहन करना चाहता है। यहाँ पर भी कवि का काव्य रस और अलंकार वैभव देखते ही बनता है।

कतिपय दोहों में काव्य-सौन्दर्य का उत्कर्ष देखने को मिलता है, कवि की अभिलाषा है कि वह समुद्र के समान गंभीर, चंद्रमा के समान शीतल, गगन के समान स्वाश्रित तथा दीपक की भाँति अज्ञानतम का नाशक बने। संत कवि का कथन है-

सागर सम गंभीर मैं, बनूँ चन्द्र-सम शांत।
गगनतुल्य स्वाश्रित रहूँ, हरूँ दीप-सम ध्वान्त॥''[31]

कवि के अन्तर्मन में न तो सुर-सुख की चाह है और न ही जगत के प्रति किसी तरह की लोकैषणा का भाव है। कवि केवल यही चाहता है कि वह 'विद्या का सागर' बना रहे। कवि ने आमजनों को सम्बोधित करते हुए उन्हें रत्नत्रय की आराधना में रत रहने की सलाह दी है तथा राग से दूर रहकर 'विद्या के सागर बनो' का मंत्र दिया है जिससे कि भरपूर सुख की प्राप्ति हो सके-

''रत्नत्रय में रत रहो, रहो राग से दूर।
विद्यासागर तुम बनो, सुख पावो भरपूर॥''[32]

आचार्य श्री मनुष्यों को जागरूक बनने के लिए कहते हैं कि रजोगुण को त्यागकर समभाव को धारण करो तथा स्वधाम को भजो, इससे शांति मिलेगी, संसार की विपत्ति मिट जायेगी तथा कष्टकारी कर्मों का शीघ्र विनाश हो जायेगा-

तजो रजोगुण, साम्य को-सजो, भजो निजधर्म।
शांति मिले भवदुःख मिटे, आशु मिटे वसु कर्म॥''[33]

'दोहा-दोहन' संग्रह में जनकल्याण के भी अनेक दोहे हैं किन्तु वे सांसारिक सुख प्राप्ति के निमित्त नहीं वरन् सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए हैं। निम्न दोहों के द्वारा संत कवि ने बड़े ही सुंदर ढंग से व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति करते हुए कहा है कि- ''हे मानव! किसी के यदि तू बृण देखता है तो मरहम पट्टी बाँधकर उसका उपचार कर, यदि ऐसा न कर सके तो कम से कम डण्डा तो न मार। तू मन, वचन, काय से पर उपकार कर जिससे उपकारी बन सके। इसी उपकार से तूं शिव सुख का अधिकारी हो सकेगा-

मरहम पट्टी बाँध के, वृण का कर उपचार।
ऐसा यदि ना बन सके, डंडा तो मत मार॥

तन मन से और वचन से, पर का कर उपकार।
रवि सम जीवन बस बने, मिलता शिव उपकार।"[34]

संत कवि आत्मा की प्रतीति के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहते हैं कि जैसे तिल में तेल और काष्ठ में अग्नि बास करती है, उसी प्रकार इस तन में शंकर सम जीव रहता है। ऐसे में कुछ तो अपने कल्याण की बात सोच/आचार्य श्री चाहते है कि वह (मानव) सदा आत्म-रमण करे, भूल कर भी पर में न रमैं तथा चिदानंद का लाभ ले क्योंकि पर पदार्थ तो एक धोखा है-

तिल में जिा विध तेल है, अग्नि काष्ठ में जान।
शंकर तन में है रहा, जरा सोच कल्याण।।
रहूँ रमूँ निज में सदा, भ्रमूँ न पर में भूल।
चिदानंद का लाभ लूँ, पर को सब कुछ भूल।।"[35]

अत: यह कहा जा सकता है कि काव्य-सौन्दर्य और अध्यात्म की दृष्टि से संत कवि के ये दोहे साहित्य जगत के लिए अनुपम निध और जनकल्याण की दृष्टि से प्रबोधन के प्रबल आधार है।

चेतना के गहराव में :

काव्य संग्रह जबलपुर से सन् 1988 में प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह की कविताएँ मुक्तछंद में लिखीं गई हैं। ये कवितायें मानव को जागरण का संदेश देती हैं। कवि ने मुख्य रूप से इस संग्रह की कविताओं में जीवन की अनुभूतियों को सशक्त रूप में अभिव्यक्त किया है। इस संग्रह के पांच खण्ड हैं- (1) प्रकृति की गोद से (2) लहराती लहरें (3) चेतना के गहराव में (4) चेहरे के आलेख (5) जीने की विद्या। इस संकलन की 57 कविताओं में अध्यात्म का उत्कर्ष व्यापक रूप में दिखाई देता है। संत कवि ने इस संग्रह की कविताओं में नव्य-शैलियों के अनेक प्रयोग किये हैं। सभी कविताऐं अतुकांत हैं फिर भी कुछ कविताऐं तो इतनी मर्मस्पर्शी हैं कि वे वरबश ही पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं।

इस संग्रह में 'चेतना का गहराव' से तात्पर्य कवि का 'तप्त' नही तृप्त, 'क्लांत' नहीं 'शांत', 'कष्ट्र' 'तुष्ट-संपुष्ट' हो, निरंतर अभय की अनुभूति के साथ निरपराध नहीं यत्र-सर्वत्र स्वंतत्र एकाकी यात्रा/ 'चेतना के गहराव में' 'स्व' को अवगाहित करने पर अनुभूत होता है, शाश्वत् सत्य का बोध/सर्वत्र मौन का साम्राज्य, विस्तृत वितान सबकुछ स्वतंत्र, अपनी-अपनी सत्ता संजोये सहज सलील समुपस्थित, परस्पर में कोई टकराव नहीं, लगाव नहीं, केवल अपने अपने में एक ठहराव, अपना संवेदन, अपना भाव जो पर से भिन्न है और अपने से सतत् अभिन्न है।

इस संग्रह की कविताओं के माध्यम से संत कवि ने यह बोध दिया है कि इस संसार में

जितने भी प्राणी हैं वे सभी संसार के गहराव में भटक रहे हैं। कोई आकांक्षाओं के अंधकार में भटक रहा है तो कोई पागल बना हुआ रेत से तेल निकाल रहा है। उसे अपनी स्वर्णिम तरूणाई का बोध ही नहीं है वह तो वासनाओं के पीछे बेहताशा दौड़ रहा है। उसे पथ की पूर्णता का बोध नहीं, प्रकृति में नित-नूतन हो रहे परिवर्तन का बोध नहीं। वह तो केवल 'रसना' के बोध को लिए हुए ही अनवरत् आगे बढ़ रहा है। इस संग्रह की कविताओं में - 'कब भूलूँ सब,' 'स्वयं वरण,' 'तुम कैसे पागल हो,' 'आँखों में धूल,' 'पता तूँ बता,' 'चितकबरा,' 'चख जरा,' 'खो जाने दो,' 'नरम में न रस,' 'खरा सो मेरा,' 'स्वयं का सृष्टा में,' 'कम्पन,' 'पानी कौन भरे?,' 'मिलन नहीं,' 'मिला दो,' 'कामना' और 'भींगे पंख' आदि महत्वपूर्ण कविताऐं हैं जिनकी एक-एक पंक्ति में सृष्टि के सार का स्वरूप विद्यमान है। संत कवि की दृष्टि अत्यंत पैनी है। जीवन के प्रत्येक वातायन से कवि ने झांककर जीवन के सत्य को छुआ है। और यही इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता है।

कवि का ऐसा मानना है कि मनुष्य की दृष्टि सदैव गुणग्राही होनी चाहिए। परन्तु मनुष्य ने राग-द्वेष के कारण अपनी दृष्टि को कलुषित बना लिया है। अब वह केवल दूसरों के अवगुण ही देखता है लेकिन जो संतपुरूष होते हैं वे अवगुणों में भी गुणों को ढूँढ़ लेते हैं। कोयले में हीरे की पहचान पैनी दृष्टि का ही तो कमाल है-

ऐसा कोई जीवन नहीं है कि
जिसमें
एक भी गुण नहीं मिलता हो।
इसी गुण ग्राहकता का प्रतीक कितना सुन्दर है?'' [36]

संत कवि ने इसी को गुण-दर्शन दृष्टि कहा है।

मनुष्य का स्वभाव अग्नि से भी अधिक ज्वलनशील है। इसका मूल कारण है क्रोध/क्रोध पर काबू पा लेने पर स्वभाव की ज्वलनशीलता/अशांति अपने आप समाप्त हो जाती है। इसीलिए तो कहा गया है कि 'क्रोध' से मुक्त होना ही 'संत' होने का लक्षण है-

''हे संत! तुम्हारा मन शांत है।
अब उसमें संसार नहीं है
संसार का श्रृंगार नहीं है
उसका अंत हो गया है।''[37]

प्रभु के चरणों में अपने आपका समर्पण ही मुक्ति के आनंद का प्रदाता है। जब यह जीव स्वभाव रूप आत्मा के विशालतम रूप से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तब वह स्वयं सिद्धत्व के सामीप्य का

वैसा ही अनुभव करता है जैसे कि समुद्र की लहरें उछल-उछल कर चन्द्रमा को छूने का उपक्रम करती हैं। यह परमात्मा से मिलन की उत्कंठा ही साधक को संसार से मुक्ति की ओर ले जाती है। अब उसे अथाह सागर में थकान इसलिए नहीं होती क्योंकि मुक्ति की चाह उसके मन में समायी होती है। इसके लिए यदि उसके पास कुछ है तो वह केवल उसकी आस्था का ही सम्बल रहता हैं उसे एक नये सुबह की तलाश की लालसा रहती है-

''धृति कहती है
अब छोर नहीं
........................भोर मिले।''38

जब दृष्टि में पावनता का भाव उत्पन्न हो जाता है तो सर्वत्र उत्तम ही उत्तम नजर आता है। सब कुछ ज्ञात सा लगने लगता है। आँखों में उस समय वासना का जहर नहीं वरन् भक्ति का अमृत छलकने लगता है। आकाश में दूधिया चांदनी नजर आने लगती है। कवि का भी यही मानना है कि दृष्टि के बदलते ही सारी सृष्टि ही बदल जाती है।

बाह्य सुखों का परित्याग किये बगैर शाश्वत् सुख की प्राप्ति कदापि संभव नहीं है, और यह चिरंतन सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब हम बाहर की अपेक्षा अन्दर की ओर प्रस्थान करें। पर ऐसा होने पर मन शंकारहित और दुविधा से परे होना चाहिए-

''द्वैत की नहीं
अद्वैत की मुक्ति चाहिए।''39

मानव जीवन आशा और आकांक्षाओं का पुंज है। 'संत' की आस्था मोक्ष प्राप्ति की रहती है जबकि आम मानव की आशा सुखों की प्राप्ति की होती है। इस सुख प्राप्ति के भाव को लेकर उसे अनेक तरह की मानसिक गुलामी को स्वीकारना पड़ता है। जबकि 'संत' इस गुलामी के बंधन से मुक्त होना चाहता है। व्यक्ति चाहते हुए भी मोह के बंधन और राग के आकर्षण से मुक्त नहीं हो पाता। तभी तो कवि कहता है-

''रागादिक की चिकनाहट
और पर का सम्पर्क
परतंत्रता का प्रारूप है।''40

संसार चक्र में भ्रमण करते-करते प्रत्येक जीव अनंत जन्मों से जन्म-मरण की शवयात्रा करता आ रहा है। उसका ध्यान अभी तक शिव स्वरूप की ओर नहीं गया है, जबकि देह के आकर्षण से परे

देहातीत होकर ही शिव की प्राप्ति की जा सकती है, जिसे संत कवि ने शव नहीं शिव बनो के रूप में संकेत दिया है। यह तभी संभव है जब हम आपस में तोड़ने के स्थान पर जोड़ने का कार्य करें। इसीलिए वे 'सुई' बनाना सीखो, कैंची बनाना नहीं की ओर संकेत करते हैं। क्योंकि जीवन की महानता शिव बनने में है शव बनने में नहीं।

इस काव्य-संग्रह के शीर्षक में श्लेष की प्रतीति होती है। जैसे-चेतना यदि चेत...........ना हो जाये तो फिर जो चेता नहीं उसकी चेतना गहराई में भला कैसे उतर पायेगी?

कवि ने अपने विचारों को समझाने के लिए प्रतीक और बिम्बों का सहारा लिया है। प्रकृति के माध्यम से अनेक स्थानों पर कवि ने अपने भावों को व्यक्त किया है। कवि की दृष्टि में प्रकृति पावनता की द्योतक है। यही पावनता व्यक्ति के भावों को निर्मलता प्रदान करती है। इस संग्रह की कविताओं में वास्तव में हमें आंतरिक गहराई की अनुभूति होती है।

विद्याकाव्य भारती :

यह संग्रह सन् 1991 में विद्यासागर शिक्षा समिति के द्वारा प्रकाशित कराया गया था, इसमें कवि के छ:ह शतक संग्रहीत हैं-

1. श्रमण शतक
2. निरंजन शतक
3. भावना शतक
4. परिषहजय शतक
5. सुनीति शतक
6. निजानुभव शतक

इसके अलावा संस्कृत और हिन्दी में शारदानुति काव्य-रचना भी सम्मिलित हैं। संत कवि के सारस्वत वैभव के प्रतीक ये शतक-संग्रह गहनतम् रहस्यों को खोलते हैं। मधुर और आकर्षक शैली में इस संग्रह की कविताऐं सांसारिक विषय-वासनाओं से दूर ले जाकर शाश्वत् सुखों के सागर में ले जाती हैं। काव्य रसों के आस्वादन के साथ शांत-रस का रसास्वादन भी इस कृति का प्रमुख उद्देश्य है-

> **''हो पूर्ण शांत रस से कविता सुहाती।''[41]**
>
> × × × × × ×
>
> **''लो आपकी सुखकारी कविता विभा से,**
> **मोहान्धकार मिटता अविलम्बता से।''[42]**
>
> × × × × × ×
>
> **''जैसा सुशांत रस वो मम आत्म से है,**
> **धारा प्रवाह झरता इस काव्य से है।''[43]**

संत कवि की इच्छा यश और वैभव की नहीं है, इसलिए कि जो सच्चा संत होता है उसके लिए सांसारिक वैभव बोझ की तरह प्रतीत होने लगते हैं-

''चाहूँ न राजसुख में सुरसम्पदा भी,
चाहूँ न मान, यश देह नहीं कदापि।
है ईश गर्दभ समा तन भार ढोना,
कैसे मिटे, कब मिटे, मुझको कहो ना।''[44]

इसी जीवन भार के मिटने की चाह ही संत कवि के गीतों की सरसता है जिसमें माधुर्य के साथ-साथ मुक्ति के साधनों के प्रति जिज्ञासा का भाव भी स्पष्ट होता है-

''मै कौन हूँ, किधर से आ रहा हूँ,
जाना कहाँ इधर से जब जा रहा हूँ।
ऐसा विचार यदि तूँ करता न प्राणी,
कैसे तुझे फिर मिले वह मुक्ति रानी।''[45]

और मुक्तिरानी की खोज में कवि अनवरत् प्रयत्नशील रहा है और फिर संत कवि को उन सुखद क्षणों की अनुभूति भी हुई है, जब उसे मिलन का सौभाग्य मिला है। इस भाव के स्वरूप को कवि इन शब्दों में अभिव्यक्त करता है-

''मैं वीतराग बनके मन रोकता हूँ,
तो सत्य-तथ्य निज-रूप विलोकता हूँ
आलोक हो अरूण तो जब जन्म लेता
अज्ञात को नयन भी झट देख लेता।''[46]

× × × × × ×

''सल्लीन हो स्व-पद मेंजब संत-साधू
शुद्धात्म के सुरस के बन आये स्वादु
वे अन्त में सुख अनन्त नितान्त पावें
सानन्द जीवन शिवालय में बितावें।''[47]

प्रकृति की गोद में बैठकर कवि की प्रकृति के माध्यम से राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत कविताऐं भी इस संग्रह में यत्र-तत्र देखने को मिलती हैं-

''जैसा सरोज अलि से सबको सुहाता।
उद्योग से जगत में यश देश पाता।''[48]

× × × × × ×

राजा प्रजाहित करें पर स्वार्थ त्यागें,
देता प्रकाा रवि है कुछ भ न मांगें।''[49]

अध्यात्म के रस में रमे हुए कवि के द्वारा श्रृंगार को भी अध्यात्मरस में डुबोकर भक्तिमय कविताओं का दिग्दर्शन इसी संग्रह की कविताओं में देखने को मिलता है। संत कवि का कथन है-

''देखा विभामय विभोमुख आपका है,
ऐसा मुझे सुख मिला नहीं माप का है
जैसा यहाँ गरजता लख मेघ को है,
पाता मयूर सुख भूले खेद को है।''[50]

× × × × × ×

''उत्फुल्ल नीरज खिले तुम नेत्र प्यार,
हैं शोभते करूण केशर पूर्ण धारे
मेरा वहीं पर अतः मन स्थान पाता,
जैसा सरोज पर जा अलि बैठ जाता।''[51]

संसार के प्राणियों को कुछ चीजें अत्यंत रूचिकर लगती हैं। इन रूचिकर भावनाओं को कवि ने कुछ इस तरह से अभिव्यक्त किया है-

''ले क्षीर स्वाद रसना अति मोद पाती,
पा फूल-फूल सम नासिक फूल जाती,
संतुष्ट और तृषित शीतल-नीर से हो
मेरा सुतृप्त मन तो अध त्याग से हो।''[52]

× × × × × ×

''हो तृष्ट आम्रकलिका लख कोकिला वे
मेरा कषाय तज के मन मोद पावे।''[53]

प्रस्तुत संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सभ्यता और संस्कृति में जो श्रेष्ठतर है उसकी अभिव्यक्ति इस संग्रह की कविताओं में देखने को मिलती है। सामयिक दृष्टि से इन कविताओं की प्रासंगिकता अपने आप में अन्यतम् है-

''अच्छा लगे तिलक से ललना ललाट,
है साम्य से श्रमणता लगती विराट्।
होता सुशोभित कंज होते,
सद्भावना वश मनुष्य प्रशस्य होते।''[54]

अतः यह काव्य-संग्रह अपने अध्यात्म के माधुर्य और जीवन के नानाविध रूपों का रसास्वादन कराने के कारण अपने आपमें काफी महत्वपूर्ण बन पड़ा है। इस संग्रह की कविताऐं अंतस के अज्ञान तम को दूरकर ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशवान बनाती हैं। यह प्रकाश हमारे जीवन को निर्जर और निरापद कर देता है।

2. स्फुट काव्य-रचनाऐं :

निजानुभव-शतक :

आचार्य श्री का यह प्रथम काव्य-संग्रह है जिसमें एक सौ चार पद्य हैं। इसमें प्रथम 102 पद्य वसन्ततिलका छंद में हैं, शेष दो दोहा है। प्रथम पद्य में भगवान ऋषभदेव से रक्षा और सुख की प्रार्थना है, द्वितीय में साधु श्रेष्ठ गुरू ज्ञानसागर जी की वन्दना है, तृतीय में माँ जिनवाणी की स्तुति तथा चतुर्थ में इस शतक कीरचना का प्रयोजन बतलाया गया है। एक सौ दोवें पद्य में इसके पढ़ने से प्राप्त फल को दर्शाया गया है कि यह 'निजानुभव शतक' महामंगलकारी है-

''स्वामी ! 'निजानुभव' नामक काव्य-प्यारा,
कल्याणरवान, भव-नाशक, श्राव्य-न्यारा।
जो भी इसे विनय से पढ़, आत्म-ध्यावे,
'विद्यादिसार' बने, शिव-सौख्य पावे।''[55]

इसमें 'विद्यादिसार बने' वाक्य में लाक्षणिक अर्थ दिखाई देता है अर्थात् इस काव्य का अध्ययन, मनन और वाचन करने से व्यक्ति आचार्य विद्यासागर के समान 'ज्ञान सागर-अथाह ज्ञानी हो जायेगा तथा ''शिव-सौख्य पावै'' वाक्य से यह भाव व्यंजित होता है कि कवि विद्यासागर शिवसौख्य को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है। इसको पढ़ने वाला यदि चाहे तो परिपूर्ण लाभ को ले सकता है।

इस काव्य-ग्रंथ में गुरूचरणों में बैठकर कवि ने जो अनुभूति प्राप्त की है उसी का प्रकटीकरण हुआ है। कवि ने शुद्धोपयोग की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य माना है। कवि के अनुसार उपयोग जीवन का लक्षण है। यह उपयोग शरीर जीव में तीन रूपों में उपलब्ध होता है अर्थात् शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। शुद्धोपयोग से भव-नाश होता है, शुभोपयोग से स्वर्ग और अशुभोपयोग से भव-नाश होता है, शुभोपयोग से स्वर्ग और अशुभोपयोग अत्यंत दुःखदायी होता है। अशुभोपयोग मिथ्यात्व रूप है, शुभोपयोग सम्यक्त्व रूप है तथा शुद्धोपयोग की ओर ले जाने वाला है। अशुभोपयोग संसार-जाल में फंसाता है, जबकि शुभोपयोग पावन बनाता है।

आचार्य श्री ने इस काव्य-ग्रंथ में अपने अनेक अनुभवों को अभिव्यक्त किया है। उनका कहना है कि धर्म द्वारा जीवन का परिचय उस परम सत्ता से होता है तथा विस्मृत जिनात्म का ज्ञान होता

है। मानव परिग्रही होने के कारण संसार में दुःखपूर्वक भ्रमण करता रहता है और पर-पदार्थों के संग्रह में संलग्न होने के कारण सदैव दुःखी रहता है। आचार्य श्री का ऐसा मानना है कि इसके लिए स्वयं में उपयोग को जगाना ही श्रेयस्कर है।

संत कवि का ऐसा मानना है कि सुख प्राप्त करने के लिए प्रभु का साक्षात्कार आवश्यक है। क्योंकि दुःखों के बीज बोकर भला किसने सुख पाया है? स्वाभाव की पहचान ही प्रभु का दर्शन है तथा विभाव का ग्रहण करना ही दुःख के बीज बोना है। स्वाधीनता, सरलता और समता स्वभाव है एवं दीनता, कुटिलता और ममता विभाव है। संसार-भ्रमण का प्रधान हेतु 'मोह' है अतः निर्मोही होकर 'ज्ञान' की साधना की जाये तो सुख प्राप्त होता है। केवल बाह्यवेश धारण करने मात्र से कोई मुनि मुक्ति का अधिकारी नहीं बन जाता-

''जो राग-द्वेष करते धर नग्न भेष
पाते जिनेश! वृषभेश! न सौख्यलेश।
न मोक्षमात्र कच-लुंचन-कर्म से हो,
साधु नहीं वसन-मुंचन मात्र से हो।''[56]

आत्मानंद में लीन रहने वाला मुनि ही सदैव सुखी रहता है। शुद्धात्मा की शरण ही सत्यशरण है। जड़ देह से स्वयं को भिन्न समझना ही शुद्धात्मतत्व को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत होना है। शुद्धात्मा की उपेक्षा कर इस नश्वर शरीर के प्रति आसक्त होना ही हीरा को त्यागकर कांच में मन लगाना है। आत्मा की सहज प्रतीति से समस्त ईति-भीति विनष्ट हो जाती है। आत्मज्ञान के प्राप्त होने पर एक परमप्रकाश की प्रतीति होती है जिसके कारण अज्ञानांधकार विनष्ट हो जाता है। आत्मज्ञान के बगैर सुख की खोज व्यर्थ है। ज्ञानी कभी पर की उपेक्षा नहीं करता वह सदा शुद्धात्मलीन रहता है :

''ज्ञानी कभी न रखता पर की अपेक्षा,
शुद्धात्मलीन रहता सबकी उपेक्षा।''[57]

संसारी प्राणी सदैव शरीर की सुख सुविधाओं में ही संलग्न रहता है, इसे नाना व्यंजनों के द्वारा संतुष्ट करता है पर कभी संतुष्ट नहीं हो पाता। आत्मा इस शरीर से भिन्न है, वह अमर है जबकि शरीर नाशवान है। यह दृश्यमान जगत पुदगल है जबकि आत्मा पुद्गल से भिन्न चक्षुगम्य नहीं है। हमारा मन अत्यंत चंचल है जो कि सदैव भटकता रहता है। इसको वश में किये बिना स्व-पर का बोध नहीं हो सकता।

मानव के लिए इस चेतन की पहचान परमावश्यक है। क्योंकि यह दृश्यमान जगत क्षणिक

है, जबकि आत्मा अनश्वर है। अनश्वर आत्मा न नारकी है, न तिर्यंच, न नर है, न नारी, वह तो निर्विकार, निर्मल और बोध को धारण करने वाली है। यह शरीर तो उसके लिए मात्र कुछ समय का डेरा है। गीता में इसी बात को इस तरह से कहा गया है-

नायं स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीश्याधन्ते तेन-तेन स युज्यते॥''[58]

संसार में इस जीव का कोई नहीं है, माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री कोई भी तो नहीं है, वह एक है, सबसे पृथक है, शुद्ध चैतन्य रूप है :

दारा नहीं शरण हे, मनमोहिनी है,
देती अतीव दुःख है, भववर्धिनी है।
संसार-कानन जहाँ वह सर्पिणी है,
मायाविनी अशुचि है, कलिकारिणी है।''[59]

संत कवि ने स्त्री को उपयुर्क्त विशेषण संभवतः संत-परम्परा के आधार पर ही दिये हैं। कबीर ने अपने दोहों में अनेक स्थानों पर स्त्री को मायाविनी और नागिन कहा है। तुलसी ने भी जहाँ तहाँ भिन्न रूप में यही भाव व्यक्त किये हैं।

इस काव्य-संग्रह में उपर्युक्त विषय के अतिरिक्त कवि ने और भी अनेक विषयों पर टिप्पणी की है यथा- साधु-चिंतन, प्रत्येक स्थिति में साधु का समभाव, शीत-उष्ण परिषहों में स्थिरता, आत्मलीनता, साधु-असाधु का अंतर, उनकी ध्यान समाधि, विरागता, सीमा-अनुलंघन, मरण-निर्भयता और मिथ्याभिमान आदि। संत-कवि ने 'कर्म-सिद्धांत' का सार एक ही पद्य में इस प्रकार दिया है-

'तूने किया विगत में कुछ पुण्य-पा,
जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।'
होगा न बंध तब लौं, जब लौं न राग,
चिंता नहीं उदय से, बन वीतराग।''[60]

हे मानव! पूर्व जन्मों में जो कुछ शुभाशुभ कर्म किये हैं, वे स्वयं उदय में आकर फल दे रहे हैं। जब तक राग-मोह-कर्म का उदय न हो तब तक कर्म-बंध नहीं होता। अतः उदय की चिंता न कर राग को त्याग दे।

यह शतक संत कवि का मुक्तक-संग्रह है और अध्यात्म का ग्रंथ होने के कारण शांतरस

से ओतप्रोत है। यह कवि की प्रारंभिक रचनाओं में से एक है, इसलिए इसे उच्च कोटिही काव्य रचना तो नहीं कह सकते फिर भी यह कृति माधुर्य एवं प्रसाद-गुण से परिपूर्ण हैं तथा काव्य-दोषों से रहित है। इसमें कहीं भी भाषा, छंद, व्याकरण एवं अंलकार सम्बन्धी दोष दृष्टिगोचर नहीं होते। इसमें सहज प्रयुक्त होने वाले अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा एवं उदाहरण आदि अलंकारों का प्रयोग सर्वत्र देखा जा सकता है।

(ग) मुक्तक शतक :

यह 'शतक' आचार्य श्री के मुक्तकों का संग्रह है, यद्यपि आचार्य श्री द्वारा संस्कृत में पॉच शतकों का सृजन पूर्व में ही किया जा चुका है पर 'हिन्दी' में एक प्रकार से उनका यह पहला मुक्तक शतक है। यह शतक एक प्रकार से अध्यात्मपरक है तथा इसके ज्यादातर मुक्तक शांतरस से ओतप्रोत हैं। इस मुक्तक शतक के सार स्वरूप को मैं इस प्रकार से रेखांकित कर सकती हूँ-

संत कवि का ऐसा मानना है कि यह जीव अनादिकाल से निगोद पर्याय में पड़ा रहा, संयोग से इसे मानव जीवन प्राप्त हुआ है। गुरू के सद्उपदेशों के द्वारा इसे मानव जीवन प्राप्त हुआ है। गुरू के सद्उपदेशों के द्वारा इसे स्व पर भेद का ज्ञान हुआ और फिर उसे ऐसा आभास हुआ कि वह तो ज्ञान-गुण का निकेतन है। इस जीव को जब सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है तो उसे अपनी अज्ञानता का स्वतः बोध होने लगता है। धीरे-धीरे मोह का अंधकार छँटने लगता है और ज्ञान का सूर्य अपने प्रकाश को विकीर्ण करने लगता है। संत कवि का ऐसा मानना है कि इस संसार में आशा ही व्यक्ति के दुःखों का मुख्य हेतु है तथा आशा की समाप्ति ही सुख का कारण है। कबीरदास जी ने भी कहा है-''चाह गई चिंता गई मनुआ वेपरवाह।''

इस संसारी जीव को यदि सुख की लालसा है तो उसे विकारों को त्यागना ही होगा, कषायों पर विजय प्राप्त करनी होगी। मानापमान का परित्याग किये बगैर वह उस परमसुख को नही पा सकता। इसीलिए सुधी और ज्ञानी जन कभी परिग्रह नहीं करते वे तो सदैव गुणों के संग्रह में ही संलग्न रहते हैं। मुनिश्री का मानना है कि-''ज्ञानी को न पुष्पहार से तोष है और न विषधर से रोष, वह तो सदा समरस पायी होता है।'' ज्ञानी जन केलिए यह काया एक तरह से जड़ की माया के समान है। इसीलिए वह पर पदार्थ समझकर निज स्वभाव में ही लीन रहता है। उसे ज्ञात रहता है कि राग-द्वेष जीव का स्वभाव नहीं है। अतः इनका त्यागकर वीतरागी बनना होगा और इसी से मुक्ति का पथ प्रशस्त होगा।

इस संसार में रहने वाले मूर्ख प्राणियों को यह पता ही नहीं कि वह अजर-अमर है। वह तो यही मानता है कि इस शरीर जर्जर होते ही सबकुछ नष्ट हो जाता है। जबकि ऐसा नहीं है। सच तो यह है कि शरीर भले ही नष्ट हो जाए पर जीव सदैव शाश्वत रहता है। फिर भी यह मानव इस देहरूपी

महल को जर्जर होता हुआ देखकर भी सचेत नहीं होता, बल्कि उसकी तृष्णा अनवरत् बढ़ती ही रहती है-

''देह जरावश जर्जरित
हुआ मुखकमल मुकुलित
तथा समस्त मस्तक पलित
जड़ की तृष्णा द्विगुणित।''[61]

इन पंक्तियों की निम्न पंक्तियों से साम्यता देखी जा सकती है-

गलितं दन्तं पलितं मुण्डम्।
तदपि न आशा मुञ्चत तुण्डम्।।

सम्यक् दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता और सम्यक् ज्ञान के बिना चरित्र एक तरह से व्यर्थ है। यदि चारित्र सम्यक् हो जाए तो शुद्ध समयसार की प्राप्ति आसान हो जाती है। यह जीव पुण्य-पाप के कारण स्वर्ग और नरक आदि में भ्रमण करता है। अतः इन दोनों का परित्याग ही श्रेयस्कर है। कर्मों के विनष्ट होने से ज्ञान का प्रकाश विकीर्ण होता है। इस ज्ञान के प्रकाश से वैराग्य की प्रेरणा और वैराग्य से ही मुक्ति का द्वार खुलता है। मनुष्य की इस आत्मा में अपरिमित धन भरा है। इसीलिए उसका हित बाह्य पदार्थों से विरत होने में ही है। इस जीव की पर्याय बदलती रही है पर सत-द्रव्य ध्रुव रहता है। जैसे-''दर्पण में दर्पण है, प्रतिबिम्ब कुछ नहीं, छाया मात्र है, इसी प्रकार मुझ में मैं ही हूँ और सब पर है।''

संत कवि का मानना है कि ज्ञान का प्रादुर्भाव होते ही अनंत गुणों से युक्त अंतरात्मा का बोध होने लगता है। विकारों से रहित यह आत्मा स्फटिक के समान पावन प्रतीत होने लगती है फिर साधक बाह्य दुनिया से सरोकार न रखता हुआ केवल अंतर्बिहार करता है। कवि को इस बात की भी अनुभूति है कि यदि निज को लखा जाए तो अपनी अन्तरात्मा की लाली ही सर्वत्र नजर आयेगी। अतः कवि कहता है कि मैं सरस विरस से ऊपर उठ गया हूँ। अमूर्त्त की मृदुता में ही सिमिट कर रह रहा हूँ। अब मुझे पुष्पों के पराग से भला क्या आसक्ति? मैं अपना ही स्वाद चखता हूँ और अपनी ही गंध पीता हूँ। मैं समाधि में लीन हुआ मनोवीणा के तारों पर ओंकार की ध्वनि सुन रहा हूँ, इस प्रकार में उस परमतत्व के विलास में लीन हूँ। मैं परमहंस अवस्था में हूँ। अब न तो मुझे विषयों से भय है, न अमृत से प्रेम, निरन्तर सद्-चित-विलास में रत हूँ, उस परम् आनन्द का भोग कर रहा हूँ। मेरे चारों ओर सूर्य का प्रकाश विखरा हुआ है, क्योंकि अज्ञान-तिमिर का अंधकार मिट चुका है। मैं अपनी संचेतना में पूर्णतः निमग्न हूँ।

ऐसा लगता है कि जैसे इस शतक के माध्यम से कवि नेजीव की प्रारंभिक मिथ्यात्वपूर्ण सांसारिक अवस्था से शुद्ध बुद्ध बनने तक की यात्रा का अत्यंत सारग्राही चित्रण किया हो। इस शतक की चतुष्पदियों में धरती से आकाश तक को छूने का अदम्य उत्साह सर्वत्र देखने को मिलता है। इसमें जहाँ एक ओर निगोद पर्याय में अज्ञान का अंधकार है तो वहीं दूसरी ओर चिदानन्द का असीम प्रकाश है। जिस प्रकार से छोटे-छोटे रत्न अपने प्रकाश की आभा से अपने मूल्यवान होने का स्वत: बोध करा देते हैं उसी प्रकार ये लघु कविताऐं भी अपने काव्य सौन्दर्य के द्वारा अद्‌भुत चमत्कार की सृष्टि कर देती हैं। मुनि श्री का यह शतक अत्यंत सुन्दर, सारग्रही और श्रावकों को प्रेरित करने वाला है। यह श्रावक के अन्तर्मन में उद्वेलन की पृष्ठभूमि निर्मित करता है। जिससे कि जीवन संवरने के लिए विकल हो उठता है और यह प्रारंभिक साध ही उसके जीवन की अहम् भूमिका का परिचायक बनती है।

पूर्णोदय शतक : यह शतक 'रामटेक' में द्वितीय वर्षावास के दौरान भगवान शांतिनाथ के पावन आश्रय में वीर निर्वाण संवत् 2520 के भाद्रपद मास की पूर्णिमा, विक्रम संवत् 2051 सोमवार, 19 सितम्बर 1994 को यह 'पूर्णोदय शतक' पूर्ण हुआ था। इस शतक में सर्वप्रथम साधुओं, गुरूचरणों, गजधर गौतम तथा बाग्देवी के प्रति। अभिवादन के उपरांत गुरूवर ज्ञानसागर जी महाराज के आशीष की प्रार्थना की गई है। इसके अनन्तर स्वार्थ और परमार्थ परिणाम एवं पारसमणि और पार्श्वनाथ में अंतर बतलाया गया है।

इसके पश्चात् इस शतक में उत्तरोत्तर दोहों के माध्यम से सुन्दर सूक्तियाँ, व्यंग्य, उपमाओं, कल्पनाओं, दृष्टांत उदाहरणों श्लेष एवं अन्य अनेक अलंकारों के माध्यम से बड़े ही चमत्कारी वाक्य देखने को मिलते हैं। जिन्हें अनुप्रास और यमक की आभा से विभूषित किया गया है। इस शतक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह मुक्तक होते हुए भी रोचकता में प्रबंध की भांति प्रतीत होता है। इसमें आध्यात्मिकता और नैतिकता का भाव सर्वत्र दिखने के बावजूद शांत रस की धारा सर्वत्र रस सिक्त करती रहती है। यहाँ पर कवि के कौशल को देखकर बरबस ही यह कहना पड़ता है कि वह कवि और उसकी लेखनी धन्य है, उसकी साहित्यिक प्रतिभा और दार्शनिक ज्ञानगरिमा धन्य है, जिसे ऐसे काव्यों को साकार बनाने का मंगल अवसर प्राप्त हुआ है।

जहाँ तक इस शतक के वर्ण्यविषय का प्रश्न है तो आचार्य श्री ने इसमें राग-द्वेष को ही संसार का मूल कारण माना है। यहाँ पर व्यक्ति आपस में सद्‌भाव और प्रेमपूर्वक नहीं रह सकता। इसीलिए कवि श्री ने व्यंग्यात्मक लहजे में कहा है कि दो बैल मिलकर घास खा सकते हैं परन्तु लोकतंत्र में मनुष्य आपस में ऐसा व्यवहार क्यों नहीं कर सकता?

एक साथ लो! बैल दो, मिलकर खाते घास।
लोकतंत्र पा क्यों लड़ो? क्यों आपस में त्रास?"[62]

संत कवि को इस बात पर आश्चर्य है कि नदी उच्च कुलों-पर्वतशिखरों पर उत्पन्न होकर भी नीचे की ओर जाने को उद्यत हो जाती है क्योंकि पतित भी बड़ों का भाव पाकर शांति को प्राप्त करते हैं-

उच्च कुलों में जन्म ले, नदी निम्नगा होय।
शांति, पतित को भी मिले, भाव बड़ों का होय।।''63

संत कवि ने श्लेष के माध्यम से यहाँ पर यह कहने का प्रयास किया है कि अनेक लोग उच्च कुल के होते हुए भी नीच प्रवृत्ति के हो जाते हैं किन्तु कुछ लोग महान् व्यक्तियों के सत्संग में आकर पतित होते हुए भी परमानन्द को प्राप्त कर लेते हैं।

संत कवि इस शतक में मानव मन के अशांत होने पर अपनी चिंता व्यक्त करता है। कवि का मानना है कि मानव का चैन छिन गया है। इसीलिए अब उसे कोलाहल नहीं रूचता। लेकिन उसके इस भाव के पीछे उसका उन्माद ही है। यदि वह उन्माद का परित्याग कर देता है तो उसे सरिता की कल-कल और पंछी के कलरव में एक अपूर्व तरह के आंनद की अनुभूति होने लगेगी-

मानव का कल कल नहीं, कल-कल नदी निनाद।
पंछी का कलरव रूचे, मानव! तज उन्माद।।''64

कवि ने कहीं कहीं पर अनुप्रास, यमक और श्लेष के द्वारा एक अनूठा ही प्रयोग किया है। उनका मानना है कि मनुष्य यदि किसी कार्य को उदण्डतावश करे तो उसके प्राणों को हानि होती है। अत: कवि संबोधित करता हुआ कहता है कि हे मानव! तुम आदमी-आ-समन्तात्+दम-उद्यमी हो इसलिए पुरूषार्थ करो अथवा तुम्हारा नाम ही आदमी अर्थात् पूर्णत: दमी है, अत: दमी संयमी बनो। इससे प्रत्येक कदम पर तुम्हारी स्थिति दृढ़ से दृढ़तर होती चली जायेगी

ऊधम से तो दम मिटे, उद्यम से दम आय।
बनो दमी हो आदमी, कदम-कदम जम जाए।।''65

संत कवि ने रूपक के माध्यम से प्रश्न कर उसका बड़ा ही सटीक उत्तर दिया है। कवि का मानना है कि संसाररूपी प्राणी आत्मानंद रूपी अमृत का परित्याग कर विषय वासनाओं के जाल में उलझ जाता है। वे अपने प्रश्न में ही उत्तर को देते हुए कहते हैं कि गोधन में दूध होता है फिर भी उसमें चिपकी हुई जोंक दूध को भुलाकर खून ही क्यों चूसती है? क्योंकि यही उसकी प्रकृति है-

आत्मामृत तज विषय में, रमता क्यों यह लोक?
खून चूसता दुग्ध तज, गोधन में क्यों जोंक?।।''66

इस शतक में आचार्य श्री द्वारा अनुप्रास, यमक की छटा सर्वत्र अपनी आभा को बिखेरती रहती है। कवि ने शब्दों के साथ जिस शालीनता के साथ क्रीड़ा की है वह देखते ही बनती है। शब्द क्रीड़ा के द्वारा सौन्दर्य की छटा निम्न पंक्तियों में देखी जा सकती है-

अलख जगाकर देख ले, विलख, विलख मत हार।
निरख, निरख निज को जरा, हरख, हरख इस बार।।''[67]

कवि की मान्यता रही है कि परिमाण की अपेक्षा गुणवत्ता ज्यादा महत्वपूर्ण होती है। कवि ने इस भाव को निम्न दृष्टांत के द्वारा प्रस्तुत किया है-

मात्रा मौलिक कब रही, गुणवत्ता अनमोल।
जितना बढ़ता ढोल है, उतना बढ़ता पोल।।''[68]

आज का मानव पैसों के चक्कर में पड़ा है। उसे अपनी मान मर्यादा की जरा सी भी परवाह नहीं है। वह सब कुछ छोड़ने को तैयार है, पैसों की खातिर। आचार्य श्री व्यंग्य करते हुए कहते हैं-

वर्णलाभ से मुख्य हैं, स्वर्णलाभ ही आज।
प्राण बचाने जा रहे, मनुज बेच कर लाज।''[69]

कवि के दोहों में सौन्दर्य की छटा सर्वत्र देखने को मिलती है। प्रत्येक छन्द अपने आपमें नवीन भावों को समेटे हुए हैं। उदाहरणों के द्वारा कवि ने अपनी सूक्तियों के भावों को स्पष्ट कर दिया है। कवि के शब्द-कौशल की तो जितनी सराहना की जाए कम ही है। इस तरह इस मुक्तक शतक में काव्य के समस्त साहित्यिक गुण विद्यमान हैं। अनवरत् साधना के कारण कवि की साहित्यिक प्रतिभा इतनी अधिक निखर गई है कि वे हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवियों की पंक्ति में स्वमेव ही आ जाते हैं।

सर्वोदय शतक : दोहा छन्द में निबद्ध है तथा इसमें 'सर्वोदय-अष्टक' सहित 111 पद हैं जिनमें दो दोहे स्थान और समय का संकेत देने वाले हैं, जैसे-

उदय नर्मदा का जहाँ, आम्रकूट की मोर।
सर्वोदय के शतक का, उदय हुआ है भोर।।
व्योम-पक्ष-रस-गन्धकी, अक्षय तृतीया पर्व।
पूर्ण हुआ शुभ सुखद है, पढ़े सुनें हम सर्व।।''[70]

अर्थात् इस सर्वोदय शतक का मांगलिक सुखद उदय नर्मदा नदी के उद्गम स्थल आम्रकूट पर्वत तले, 'सर्वोदय तीर्थ,' अमरकंटक (शहडोल म.प्र.) में वीर निर्वाण सवत् 2520, वि.सं. 2051 के पावन पर्व अक्षय तृतीया-वैशाख शुक्ल तीज, शुक्रवार, 13 मई 1994 को हुआ। इसका प्रयोजन इसे

पढ़कर 'सर्वोदय' करना है अर्थात् सबका उदय/इसमें सर्वत्र आत्मोदय के भाव ही व्यक्त हुए हैं। आचार्य श्री की प्रेरणा से ही अमरकण्टक क्षेत्र की संज्ञा सर्वोदय तीर्थ हुई।

'प्रकृति' सभी के लिए प्रिय होती है। विशेष रूप से 'कवि और साधु' के लिए। संयोग से आचार्य श्री कवि और साधु दोनों ही हैं। अतः प्रकृति का अगाध सम्बन्ध उनके इस शतक के दोहों में छलका हुआ पड़ता है। संत कवि को जैसे नर्मदा का कल-कल, जल की प्रत्येक बूँद हृदय को अंदर तक आलोकित करती रही है तभी तो उस आलोड़न का नवनीत ''सर्वोदय शतक'' के नाम से नर्मदा के उद्गम अमरकण्टक में प्रस्फुटित हुआ। नर्मदा का शीतल नीर जैसे कवि संत की शीतलता को पाकर धन्य हो गया।

प्रारंभ में कवि कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिंतामणि की बांछा न कर केवल सन्मति की भावना करता है। फिर पुनः महावीर प्रभु से पार उतारने की प्रार्थना, गुरूचरणों में प्रणमन, सरस्वती से सद्बुद्धि देने की कामना करता है। तत्पश्चात् इसके उद्देश्य के विषय में आचार्य श्री देशोन्नति की बात करते हुए कहते हैं-

सर्वोदय इस शतक का, मात्र रहा उद्देश्य।
देश तथा परदेश भी, बने समुन्नत देश।।[71]

कवि ने शतक के आरंभ में ही प्रभु से सन्मति की याचना करते हुए मंगलाचरण के रूप में भक्ति की याचना की है-

''कल्पवृक्ष से अर्थ क्या? कामधेनु भी व्यर्थ।
चिंतामणि को भूल अब सन्मति मिले समर्थ।।''[72]

कवि की ऐसी आकांक्षा रही है कि उसका मन उत्तरोत्तर वैराग्य की ओर दृढ़तर होता चला जाये। इसीलिए वह माँ सरस्वती से अपनी तोतली भाषा में मांग करता हुआ कहता है-

भार रहित मुझ भारती, कर दो सहित सुभाल
कौन संभाले माँ बिना, ओ माँ यह है बाल।।''[73]

कवि की ऐसी भावना है कि वह प्रभु के चरणों में दीपक की भाँति जलता हुआ प्रकाश को विकीर्ण करता रहे जिससे कि उसे अपार शांति की अनुभूति हो सके। कवि की ऐसी दृढ़ आस्था है कि प्रभु की दृष्टि से ही अपार शांति की अनुभूति हो सकती है। अन्य कोई भौतिक पदार्थ उसके जीवन में शांति को नहीं प्रदान कर सकते। 'ज्ञान' के द्वारा आत्मचक्षुओं का खुल जाना अपरिहार्य है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो फिर उस ज्ञान का क्या महत्व?

कवि का ऐसा मानना है कि इस संसार का प्राणी दुःखों में डुबा हुआ है, एक प्रभु ही हैं जो पूरे सुख के स्त्रोत हैं -दुःखी अधूरे हम सभी, प्रभु पूरे सुख स्रोत'' यह शरीर और आत्मा अनादिकाल से परस्पर ओतप्रोत हैं जैसे तिल में तेल होता है। परन्तु मनुष्य का स्वभाव ही कुछ इस प्रकार का है कि वह विषय भोगों में खोया रहता है और दुखों को आमंत्रित करता है-

> **''विषयों से क्यों खेलता देता मन का साथ**
> **बॉमी में क्या डालता? भूल कभी निज हाथ।''**[74]

संत कवि स्वयं करूणा के सागर हैं। इस 'सर्वोदय शतक' में उनका यह करूणा भाव अठखेलियाँ करता नजर आता है। कवि का मानना है कि जो दूसरों का दुःख नहीं मिटा सकता, उसका जीवन अपने आपमें भार के समान है। आज का मानव अत्यधिक मायाचारी और कपटी हो गया है। कवि इस तरह के लोगों पर व्यंग्य करता हुआ कहता है-

> **''सूखे परिसर देखते भोजन करते आप**
> **फिर भी खुद को समझते दयामूर्ति निष्पाप।।''**[75]

कवि की ऐसी मान्यता है कि जहाँ पर दया का भाव होता है वहाँ पर वैरभाव का पूर्ण तिरोहण हो जाता है। दया की छॉव में मृग और शेर एक साथ बैठ सकते हैं। ऐसे वातावरण को देखकर देवता भी चकित और वैभव भी दास बन जाता है। संत कवि कहते हैं-

> **''दया धर्म के कथन से पूज्य बने ये छंद**
> **पापी तजते पाप हैं, दृग पा जाते अंध।।''**[76]

आचार्य श्री कवि होने के साथ-साथ साधक और तपस्वी भी हैं। साधक साधना के उच्चतर सोपानों पर अवस्थित होने के उपरांत सरलता को अंगीकार करता है। इस सरलता के सौन्दर्य की बात वे कविता में भी करते हैं। इसीलिए इस 'सर्वोदय शतक' में उन्होंने साधु के गुणों का जहाँ-तहाँ सुन्दर वर्णन किया है।

कवि का कथन है कि इस धरित्री का प्रत्येक ज्ञानी जीव 'मोक्ष' की कामना करता है। पर वह सभी को प्राप्त हो पाना संभव नहीं है। वह तो कर्मो की निर्जरा पर ही आश्रित है। आचार्य श्री का ऐसा मानना है कि साधक को मोक्ष भले ही बिलम्ब से मिले, पर उसे साधना में सतत् संलग्न रहना चाहिए, क्योंकि साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। साधु का जीवन 'परिग्रह' से परे होता है जिसके कारण शनि भी उनका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकते। फिर श्रमणसाधना में संलग्न आचार्य तो वात्सल्य की प्रतिमूर्ति होता है। जिसकी छाया में सभी को प्रश्रय और शांति प्राप्त होती है। वह तो अपने अन्तर्मन में

निर्मलता को धारण किये हुए सदैव गतिशील ही रहता है-

''थकता रूकता कब कहाँ, ध्रुव में नदी प्रवाह।
आह-वाह-परवाह बिन चले सूरि शिव राह।''77

मुनि तो साक्षात् समता के प्रमाण हैं इसीलिए वह सदैव तटस्थभाव को अपने अन्तस में ध ारण किये रहते हैं। संत कवि का कथन है-

''अर्क तूल का पतन जो, जल कण का पा संग।
कण या मन के संग से, रहे न मुनि पासंग।।''78

सच्चा मुनि कभी भी फ़ल की आशा नहीं करता, वह तो अपने आपको चंदन की तरह घिसघिसकर जग के लिए सुगन्धि क़ो बिखेरता रहता है।

इस शतक में कवि ने अनेक स्थानों पर एक नीतिकार के रूप में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को पावन बनाकर मनुष्यमात्र के विकास का मार्ग प्रशस्त किया है। कवि इस सृष्टि के लोगों को यह संदेश देता है कि मानव को कूपमंडूक बनकर नहीं रहना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव तो काष्ठ की तरह सरल होना चाहिए। अहंकारी स्वभाव डूबने वाला और वजनदार ही होता है। मुनि श्री कहते हैं-

''लघु कंकर भी डूबता-तिरे काष्ठ स्थूल।''79

मनुष्य को सतत् अच्छे कर्मो में ही संलग्न रहना चाहिए। क्योंकि अच्छे कर्मों का परिणाम सुखद और बुरे कर्मों का परिणाम नियम से दुःखद ही हुआ करता है।

आचार्य श्री का मानना है कि यह संसार विषय वासनाओं में संलिप्त है। यह विषय वासना एक तरह से अंधेरी रात के समान है। विषयों की बरसात सतत् होती रहती है और इसी में सब डूबते उतराते रहते हैं, मनुष्य इन विषय वासनाओं से तभी मुक्त हो सकता है, जब वह अपने आपसे प्रश्न करे कि मैं क्या था? क्या हूँ? यहीं से उसे अपने गंतव्य का पता ज्ञात हो सकेगा-

'क्या था क्या हूँ क्या बनूँ? रे मन! अब तो सोच।
वरना मरना वरण कर, बार-बार अफसोस।।''80

परमात्मा का दर्शन पाने के लिए गुरू-कृपा और पुरूषार्थ की आवश्यकता होती है। इसके लिए जीवन में संयम भी परम आवश्यक है। संयम के अभाव में मन कभी नम्र या संयमी नहीं हो सकता। भटकते हुए मन को शांत करने के लिए कवि उद्बोधन देता हुआ कहता है-

"भटकी अटकी कब नदी? लौटी कब अध बीच?
रे मन! तू क्यों भटकता? अटका क्यों अध बीच?"[81]

'धर्म' जीवन के लिए उस कस्तूरी के समान है जिससे सारा वातावरण महक उठता है। 'धर्म' के अभाव में व्यक्ति का जीवन गंधहीन होकर ठूँठ की तरह हो जाता है। उसके जीवन का हश्र वैसे ही होता है जैसे कि पशु का/संत कवि एक उद्वरण के माध्यम से अपनी बात को इस तरह से स्पष्ट करते हैं-

"खुला खिला हो कमल वह, जबलों जल संपर्क
छूटा-सूखा धर्म बिन, नर पशु में ना फर्क।"[82]

मनुष्य अनादिकाल से सो रहा है। अर्थात् चेतना के स्तर पर । देह के स्तर पर जनारण, जागरण नहीं कहलाता है। वह तो सोने की ही तरह है। जब मनुष्य इस संसार की विषय वासनाओं में लिप्त रहता है तो उसे सोया हुआ ही मानना चाहिए। जबकि मनुष्य का जीवन तो उषा की तरह है। पर इसकी अनुभूति उसे तभी होती है जब वह चेतना के स्तर पर जीवन की शुरूबात करता है। मुनि श्री लिखते हैं-

"सुचिरकाल से सो रहा तन का करता राग।
उषा सम नर जन्म है, जाग सके तो जाग।।"[83]

आचार्य श्री का कहना है कि सज्जन व्यक्ति की पहचान तो दुर्जनों के समक्ष ही होती है। जिस प्रकार सूर्य की पहचान राहु की दुष्टता के बाद ही होती है-

"दुर्जन से जब भेंट हो सज्जन की पहचान।
ग्रहण लगे जब भानु को तभी राहु का मान।"[84]

मनुष्य के जीवन में सब दृष्टि का ही खेल है। यदि उसकी दृष्टि अच्छी हो तो उसे सभी कुछ प्रेममय दिखाई देता है। हर अच्छाई को वह अपनी ही अच्छाई मानने लगता है और प्रत्येक व्यक्ति सूर्य को अपनी ही ओर देखता हुआ महसूस करता है। मनुष्य को कभी भी हीनभावना से ग्रसित नहीं होना चाहिए। उसे तो अन्तर्मुखी होकर अपने स्वरूप की विशालता को निरखना चाहिए। क्योंकि आस्था से ही शिवपथ का मार्ग प्रशस्त होता है। आचार्य श्री शास्त्र भक्ति का प्रयोजन और सिद्धि का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

"सबको मिलता कब कहाँ, अपार श्रुत का पार।
पर! श्रुत पूजन से मिल अपार भवदधि पार।।"[85]

'मोक्ष' की कामना करना सरल है पर इसके लिए ध्यान की अतल गहराईयों में उतरना पड़ेगा। तभी 'मोक्ष' की कामना फलीभूत हो सकती है। कवि का मानना है कि हम यदि उन्नत बनना चाहते हैं तो सर्वप्रथम हमें नम्र बनना होगा। हमारी दृष्टि में जब अनेकांत की ज्योति जल उठेगी तब संसार के समस्त कलह और पातक स्वमेव ही नष्ट्र हो जायेंगें-

''मध्यस्था हो नासिका, प्रमाणिका नय आँख।
पूरक आपस में रहें, कलह मिटे अघ-पाक॥''[86]

जब परिपूर्ण पुण्य का बंध होता है तो पाप पंक स्वमेव ही धुल जाता है जैसे कि वारिश में दल-दल का कीचड़/कवि यहाँ पर श्रावक के लिए पुण्य की उपादेयता की ओर इंगित करना चाहता है। उनका मानना है कि सबके हृदयों की जड़ता दूर हो और सभी के अन्तर में प्रभु का वास हो। उनकी दृष्टि में वास्तव में यही सच्ची साधना है-

''जिसके उर में प्रभु बसे, क्यों न तजे जड़ राग
चन्द मिले फिर ना करें, चकवा-चकवी त्याग?''[87]

इस प्रकार यह 100 दोहों का 'सर्वोदय-शतक', साधु, श्रावक आदि सभी के उत्तम गुणों की ओर इंगित करता है। यदि इस शतक के सार को संक्षेप में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि-''प्राणी मात्र के उदय की भावना से ओत-प्रोत यह शतक कल्याणकारी है। यह मानव को मानवता के शिखर तक पहुँचाने में सहायक है।''

श्रद्धांजलि काव्य : आचार्य विद्यासागर जी द्वारा इस 'काव्य कृति' के माध्यम से संत परम्परा के पूर्व आचार्यों को श्रद्धांजली अर्पित की गई है। इस कृति में कवि ने वसंततिलका छंद का प्रयोग किया है। यहाँ पर कवि निस्पृही संतों के प्रति अपनी श्रद्धाभावना को अत्यंत भक्तिभावपूर्वक प्रस्तुत करता है। आचार्य शांतिसागर के चरणों में अपने श्रद्धासुमन भेंट करते हुए कवि लिखता है-

''नीतिज्ञ थे सदय थे सुपरोपकारी,
पुण्यात्मा थे सरल मानव हर्षकारी।
जो लीन धर्म अरू अर्थ सुकाम में थे
'औं' वीरनाथ-वृष के वर भक्त भी थे।''[88]

ऐसे 'श्रमण संस्कृति' के साधक जिन्होंने मुक्ति को ही जीवन का पाथेय बनाया है कवि को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कवि को उनकी स्मृतियाँ भाव-विव्हल कर देती हैं। भावातिरेक में कवि आराध्य के जन्म स्थान के सम्बन्ध में लिखते हैं-

''गम्भीर पूर्ण सुविशाल शरीरधारी,
संसार त्रस्त जन के द्रुत आर्त्तहारी।
औ वंश-राष्ट्र-पुर-देश सुमाननीय,
जो थे सुशांत यति नायक वन्दनीय।''[89]

इस काव्य-संग्रह में गुरू-परम्परा की पावन स्मृति की एक झलक दिखाई देती है। जो गुरू अज्ञान रूपी अंधकार को मिटाकर, श्रावक के अंदर प्रज्ञा की ज्योति जलाकर उसके भीतर की विषय वासनाओं को दूरकर मुक्तिमार्ग पर लगा देते हैं, ऐसे परम् आराध्य गुरू के प्रति आचार्य श्री ने भावान्जलि इन शब्दों में प्रकट की है-

''मोक्षार्थी थे, जिन भजक थे, साम्यवादी तथा थे,
ध्यानी भी थे, पर हितैषी, सानुकम्पी सदा थे।
भव्यों को वे शिवसदन का मार्ग भी दिखाते,
संतों के तो शिवगुरू, यहाँ जीवनाधार भी थे।''[90]

गुरूवर ज्ञानसागर जी के प्रति भक्तिभावना तो आचार्य श्री की देखते ही बनती है। ऐसा लगता है जैसे कि आचार्य विद्यासागर जी ने उनको ही शिवपुर का प्रेरक मानकर इस भवसागर से पार होने का आधार माना हो। वे लिखते हैं-

''गुरो! दल-दल 'मैं' था फंसा,
मोह-पाश से हुआ था कसा।
बन्ध्य छुड़ाया दिया आधार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।''[91]

अतः हम यह कह सकते हैं कि आचार्य श्री का यह काव्य-संग्रह कवि की उदात्त भावनाओं का परिचायक है। इसमें गुरू परम्परा के प्रति पुष्ट अवधारणा को शीर्ष स्थान देकर कवि ने अपनी समर्पित आस्था को प्रकट किया है।

जिनेन्द्र स्तुति : इसमें संस्कृत कवि स्वामी पात्र केशरी के काव्य-ग्रंथ, जिनेन्द्र थुदि, का आचार्य विद्यासागर जी द्वारा पद्यानुवाद किया गया है। इस 'काव्य-कृति' का भक्ति के क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण स्थान है। 50 पद्यों की यह अनूदित कृति 'नवधा भक्ति' की अत्यंत सुन्दर रचना है। जब आराध्य अपने प्रभु में अनंत गुणों की प्रतिष्ठा देखता है तो उनका भावविभोर होकर गुणगान करने लगता है-

''सकल संग की संगति त्यागी, लुब्ध मुग्ध नहिं भ्रम में ना।
दोष रहित मृदु मितभाषी हो, अतः मूढ़ता तुम में ना।

संयम घर का सबका रक्षण, करें किसी से द्वेष नहीं।
हुए निरायुध अतः किसी से तुम्हें भीति भी लेष नहीं।''[92]

आचार्य श्री की यह अनूदितकृति भाव, भाषा, सौन्दर्य और अलंकारों की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें कवि की शब्द-शक्ति, भाव-लालित्य और अर्थगांभीर्य देखते ही बनता है।

योगसार : यह 'काव्य-कृति' आचार्य विद्यासागर द्वारा अनूदित काव्य-कृति है। इसे मूलरूप में योगीन्द्र देव ने प्राकृत भाषा में लिखा है, यह कृति भी संत काव्य-परम्परा की विशिष्ट रचना है। जिस तरह नानक, कबीर और रैदास आदि कवियों ने परमब्रह्म को अनेक नामों से पुकारा है उसी प्रकार आचार्य विद्यासागर जी ने भी इस काव्य रचना में अपने भावों को अभिव्यक्त किया है-

''अत्यंत शांत, गत क्लान्त, नितांत शुद्ध
जो हैं महेश, शिव, विष्णु, बुद्ध
ज्ञानी उन्हें परम आतम है बताते,
सिद्धान्त के मनन में दिन जो बिताते।''[93]

'योगीन्द्र देव' की इस कृति को संत काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसमें आचार्य योगीन्द्र ने ईश्वर को 'घट' के अन्दर ही विद्यमान माना है-

''मूठा देवलि देउ णवि णवि सिलि लिप्पई चित्ति।
देहा-देवलिदेउ जिणु सो बुज्झंहि समचित्ति।।
तित्थिई देवलि देउ जिणु सब्बु वि कोई भणेई।
देहा-देवलि जो मुणइ सो बुद्धु को वि हवेइ।।''[94]

आचार्य श्री द्वारा उक्त प्राकृत भाषा का जो पद्यानुवाद किया गया है वह अत्यंत प्रभावकारी जान पड़ता है-

**''हे! मित्र, देव जिन मन्दिर में नहीं है, पाषाय लेय, लिपि कागद में नहीं है।
वे हैं अनादि तन मंदिर में प्रशांत यों जान-मान तज हो जिसमें न म्लान्त।
कोई केह 'जिन' तो मठतीर्थ में हैं, कोई कहे गिरि जिनालय में बसे हैं।
पै देव को बुध तनालय में बताते, ऐसे अभिज्ञ विरले महि मे दिखाते।''**

आचार्य श्री द्वारा जो भाव व्यक्त किये गये हैं वही भाव कबीर, दादू, नानक, बनारसीदास आदि संत कवियों की वाणियों में भी देखे जा सकते हैं। इस काव्य-कृति में कवि ने लोक मूढ़ता और

बाह्य आम्डवरों, सांसारिक असारता, वैराग्य, मोक्ष, शुद्ध-तत्व की उपासना, लोकमंगल की भावना आदि का अत्यंत मनोहारी चित्रण किया है। इस कृति में कवि की रहस्यभावना देखते ही बनती है। कवि ने इस अनूदित काव्य कृति में मूलभावों को आत्मसात करते हुए जिस मौलिकता का परिचय दिया है वह देखते ही बनता है।

अष्ट पाहुण-काव्य संग्रह : ईसवी की प्रथम सदी के आचार्य कुन्द कुन्द प्राकृत भाषा के महान् आचार्य और कवि हुए हैं। उनकी बहुचर्चित काव्य-कृति 'अष्टपाहुण' नैतिकता और सामाजिकता, ध ार्मिकता और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में काफी प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है। इस काव्य-कृति में आठ पाहुण हैं जो इस प्रकार हैं-

1. भाव-पाहुण 2. मोक्ष पाहुण 3. सूत्र पाहुण 4. शील पाहुण
5. चालि पाहुण 6. बोध पाहुण 7. दर्शन पाहुण 8. लिंग पाहुण

सम्मिलित हैं। इन आठों शीषकों के अनुसार उनकी महत्ता और महिमा का कुन्दकुन्द की इस अनुपम कृति का आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने पद्यानुवाद किया है। 'शील पाहुण' में शीलभाव की महत्ता का प्रतिवादन करते हुए आचार्य श्री का पद्यानुवाद देखते ही बनता है-

''है शील ही विमल सत् पथ भी सही है,
है ज्ञान शुद्ध शुचि दर्शन भी वही है।
पचेंन्द्रिय के विषय का रिपुशील भी है,
सोपान मोक्ष घर का सुख-झील भी है।''[98]

समकालीन समय का चतुर्दिक वातावरण इतना दूषित हो गया है कि उसके अन्दर का शील तत्व समाप्तप्राय सा हो गया है। संत कवि ने जो शील की व्याख्या प्रस्तुत की है वह अत्यंत सरल और हृदय गम्य है। कवि के द्वारा किया गया पद्यानुवाद बरवस ही हमें अपनी ओर आकर्षित कर लेता है-

''सम्यक्त्व से पदार्थ उत्तम बोध होता,
सद्बोध से सब पदाथ्र सुशोध होता।
सत् शोध से पुनि हिता-हित ज्ञान होता,
सम्यक्त्व मोक्ष पथ में वरदान होता।''[95]

आचार्य श्री द्वारा अनूदित इस कृति में मन, वचन, काय की शुचिता, पाखण्डी और बाह्ययोडम्बरी क्रियाओं पर करारा व्यंग्य किया गया है। संतों के समताभाव को इस काव्य-कृति में कवि मोक्षपाहुड के अंतर्गत इस रूप में प्रस्तुत करता है-

"निन्दा मिले, स्तुति मिले, न विभाव होना
बंधु रहो, रिपु रहो, समभाव होना
सो साम्य ही विपद में, सुख सम्पदा में
माना गया चरित है, धरता सदा मैं।"[96]

पाखण्डियों के लिए कवि ने खूब फटकार लगाई है। कवि का मानना है कि मिथ्यात्व में लिप्त-मौन में रत मुनि भी अपनी साधना का सुफल प्राप्त नहीं कर सकता। वे कहते हैं-

**"लो बाह्य संग तज नग्न भले बने हैं
मिथ्यात्व रूप मैल में फिर भी सने हैं।
क्या लाभ हो तप तपै, स्थित मौन से क्या?
जाने न साम्य निज का, निज गौण से क्या?"[97]**

आचार्य श्री ने इस काव्य-कृति के माध्यम से आधुनिक संत काव्य परम्परा के अनेकों आयाम प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि आज का वातावरण अत्यधिक अराजकतापूर्ण है लेकिन फिर भी मुक्ति का रास्ता फिर भी खुला हुआ है। साधना का पथ जीवन में कभी भी अवरूद्ध नहीं होता। वह सदैव प्रशस्त ही बना रहता है। आचार्य श्री ने इन्हीं सार्थक भावों को इस कृति के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इस काव्य संग्रह को हम आचार्य श्री के काव्यानुवाद की उत्कृष्ट बानगी का आधार मान सकते हैं।

एकीभाव-स्त्रोत : मुनि वादिराराय के संस्कृत-स्तोत्र का यह हिन्दी पथानुवाद है। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने यह पद्यानुवाद कुल 27 पदों में अत्यंत ही रोचक शैली में किया है।

संत कवि का कथन है कि मानव का जन्म अत्यंत पुण्योदय से होता है। लेकिन यह नादान मानव कर्म रूपी कीचड़ में जीवनभर अपने आपको सानता रहता है और रोता-धोता रहता है। इन कर्मों से छुटकारा प्राप्त करने का बस एक ही उपाय है। "भक्तिभावना" इस भक्ति के द्वारा कर्म रूपी कीचड़ से छुटकारा पाया जा सकता है-

**"जन्मों से भ्रमण करता भाग्य से अत्र आया,
कर्मों ने तो भय-विपन में हा! मुझको रूलाया।
में तो तेरे नय-सरसि में देव! गोता लगाता,
कैसे हैं ओं ! फिर अब मुझे दुःख दावा जलाता ?"[99]**

कवि का ऐसा मानना है कि इस भव-बंधन से मुक्ति मिल सकती है, इसके लिए कवि

पाठकों को एक 'स्तवन भाव' प्रेषित करता है जो स्वर्गिक आनंद को देने वाला है। आचार्य श्री भक्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं। भक्ति के सामने श्रृंगार का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। कवि का कथन है-

''श्रृंगारों को वह पहनता जन्म से जो कुरूप,
बैरियों से परम डरता जो धरे शस्त्र भूप।
अस्टांगों से मदन जब तूँ और बैरी न तेरे,
तेरे में क्यों कुसुम पट हो शस्त्र तो नाथ ! मेरे।''[100]

इस प्रकार आचार्य श्री का यह पद्यानुवाद भक्ति भावना का अत्यंत प्रांजल रूप प्रस्तुत करता है।

नंदीश्वर भक्ति : आचार्य विद्यासागर जी द्वारा रचित 72 पदों का यह काव्य-संग्रह भक्ति-भावना के मौलिक रूप का दिग्दर्शन कराता है। यह कृति भक्त की तन्मयता और उसके हृदयोद्‌यारों को अराध्यदेव के चरणों में समर्पित एक भावांजलि है 'ज्ञानोदय छंद' में लिखी गई यह काव्य-कृति निर्गुण-निराकार जिनदेवों की एक अलग ही पहचान को रेखांकित करती है। अकाल्पनिक मूर्त्तियों के प्रति कवि की साकार भावना वास्तविक और प्रत्यक्ष बिम्ब खड़े कर देती है-

'' त्रिभुवन के सब भविक जनों के
नयन मनोहर है प्यारे।
तीन लोक के नाथ जिनेश्वर
मन्दिर हैं शिवपुर द्वारे।''[101]

आचार्य श्री तपस्वी, साधक और श्रेष्ठ संत होने के साथ-साथ भक्त कवि भी है। उनकी भक्ति-भावना का आदर्श रूप इस कृति में सर्वत्र देखने को मिलता है।

सूर्योदय शतक : आचार्य विद्यासागर जी ने यह शतक 102 दोहों में लिखा है। इस शतक में कवि ने प्रभु को सूर्योदय माना है। तथा इस काव्य कृति में प्रभु भक्ति की अनेक भंगिमाऐं देखने को मिलती हैं। कवि प्रभु के द्वारा प्राप्त, प्रेरणा को स्पष्ट करता हुआ कहता है-

''प्रभु को लख हम जागते, वरना सोते घोर।
सूर्योदय प्रभु आप हैं, चन्दोदय हैं और।''[102]

कवि जीवन को रहस्यात्मक रूप में प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि यह जीवन अनमोल है इसे खेल-खेल में यों ही नहीं गवां देना चाहिए। यह जीवन एक अनोखे खेल के समान है जो इस खेल

को भलीप्रकार से खेलता जानता है वही इस संसार सागर से पार उतर सकता है-

"जीवन समझे मोल है, ना समझे तो खेल।
खेल-खेल में युग गये, वही खिलाड़ी खेल।
खेल सको तो खेल लो, एक अनोखा खेल।
आप खिलाड़ी आप ही, बनो खिलौना खेल।।"[103]

कवि का ऐसा मानना है कि इस देश और दुनिया की किसी को खबर नहीं है। सभी जन धन के पीछे अंधे हुए जा रहे हैं। जिस प्रकार उल्लू को दिन में दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार धनान्ध व्यक्ति भी उल्लू की ही तरह हो जाता है। पर जो इस तरह से धनान्ध और विषयासक्त होते हैं उन्हें परमात्मा की वह ओंकारध्वनि सुनाई नहीं देती। वह तो केवल वासनाओं के कीचड़ में फँसे हुए जीवन को बोझ की तरह ढोते-ढोते इस संसार से बिदा हो जाते हैं, आचार्य श्री लिखते हैं-

"वतन दिखे न प्रभु उन्हें, धनान्ध मन आधीन।
उल्लू को रवि कब दिखा, दिवान्ध दिन में दीन।।
विषय-वित्त के वश हुए, ना पाते शिव-सार।।
फँसे कीच क्या? चल सके, सिर पर भारी भार।।
भाँति-भाँति की भ्रान्तियाँ, तरह-तरह की चाल।
नाना नारद-नीतियाँ, ले जातीं पाताल।।"[104]

यह 'सूर्योदय शतक' भाव, भाषा और सौन्दर्य की दृष्टि से अपनी अनुपम छटा को धारण किए हुए हैं। इसमें कवि का काव्य-कौशल देखते ही बनता है।

कुन्द-कुन्द का कुन्दन : आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी द्वारा विचरित अमरकृति 'समयसार' का हिन्दी पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर जी ने 'बसंततिलका छंद' में किया है। इस काव्यानुवाद के अंतर्गत सर्वप्रथम कवि ने रत्नत्रय के माध्यम से मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करने का उपाय बताया है-

"तत्वार्थ की रूचि सुदर्शन नाम पाता,
और तत्व को समझना वह ज्ञान साता।
रागादि त्याग करना वह वृत्त होता,
तीनों मिलें बस वही शिव-पंथ होता।"[105]

आचार्य विद्यासागर जी ने कुन्द कुन्दाचार्य के प्रति अपनी समर्पण भावना को काव्य के अंत में अत्यंत विनम्रतापूर्वक इस प्रकार से अभिव्यक्त किया है-

हे! कुन्द-कुन्द गुरू कुन्दन रूपधारी
स्वीकार हो कृति तुम्हें, कृति है तुम्हारी।
दो ज्ञानसागर गुरू मुझको सुविधा,
''विद्यादि सागर'' बनूँ तज दूँ अविद्या॥

यह काव्य-कृति रस, छंद, अलंकार आदि सभी दृष्टियों से उत्तम कोटि की है।

जैन गीता : 'समणसुत्तं' का नाम 'जैन गीता' है। इस काव्य-कृति का प्रकाशन मार्च 1978 में हुआ था। आचार्य बिनोवाभावे इस कृति के मूल प्रेरणा स्त्रोत रहे हैं। भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर जैन समाज द्वारा आचार्य श्री से एक ऐसी 'कृति सृजन' की अपेक्षा की गई थी जो जैन समुदाय के साथ-साथ जैनेत्तर समुदाय को भी जैन दर्शन की महिमा बताने में सहायक सिद्ध हो सके। इस कृति के प्रस्तुतीकरण की जिम्मेदारी पू. क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी के सुयोग्य शिष्य ब्र. जिनेन्द्र वर्णी ने ली। यह ग्रन्थ आद्योपान्त प्राकृत भाषा की गाथाओं से सराबोर है। 756 छन्दों में सृजित इस कृति में चार खण्ड हैं- ज्योतिर्मुख, मोक्षमार्ग, तत्वदर्शन, स्याद्वाद। इस ग्रंथ का पथानुवाद 7½ माह में पूर्ण हुआ था। इस कृति के अंत में 10 छन्दों में गुरू-स्तुति, क्षम्य-भावना, रचना-स्थान बड़े बाबा के प्रति भक्ति और रचनाकाल का वर्णन किया है। इसका समापन वीर निर्वाण सम्वत् 2502 विक्रम सम्वत् 2033, भाद्र शुक्ला तृतीय 29.08.1976 कुण्डलपुर (दमोह) म.प्र. में हुआ था।

'जैन गीता' के नामकरण के सम्बन्ध में आचार्य श्री स्वयं लिखते हैं- ''जैन'' यह शब्द आज तक कई धीमानों एवं संतों की दृष्टि में भी जातिवाचक ही रहा है, जबकि वह उस सहज, अजर, अमर, अमूर्त्त आत्म की ओर मुमुक्षओं को आकृष्ट करता है।''

अत: जो अपनी इन्द्रियों और आत्मा को पूर्णरूपेण जीतता है, वह 'जिन' है और वाणी का सार 'गीता' है। अत: जिनेन्द्र देव की वाणी के सार का नाम ही 'जैन-गीता' है। इस ग्रन्थ में श्रमण के आचार, लक्ष्य, सिद्धान्त आदि का ज्ञान कराने वाली गाथायें संकलित हैं।

श्रमण का गुण बताते हुए संत कवि लिखते हैं कि गुणों से व्यक्ति साधु की श्रेणी में गिना जाता है और दुर्गुणों से असाधु की श्रेणी में। राग-द्वेष में समता को धारण करने वाले पूज्य लोगों की श्रेणी में आते हैं, यथा-

''हो जा साधु गुण, पा गुण खो असाधु
हो वो गुणी, अवगुणी, न बनो न स्वादु।
जो राग-द्वेष भर में, समभाव धरि
वे बन्ध पूज्य जिन से निज को निहारे।''[106]

उपर्युक्त 'स्फुट' काव्य-कृतियों के अलावा आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित ''आचार्य शांतिसागर स्तुति'' जो कि बसन्ततिलका छन्द में 39 पद्यों में की गई है। इसमें सर्वप्रथम मैसूर राज्य, बेलगाँव एवं भोज स्थान का वर्णन है। फिर माता-पिता तदनन्तर वैराग्य का गुणगान और अंत में समाधि पूर्वक देहत्याग को वर्णित किया गया है।

''आचार्य वीरसागर स्तुति'' में 42 पद्य हैं और यह स्तुति भी बसन्तलिका छन्द में है। इसमें सर्वप्रथम हैदराबाद राज्य के औरंगाबाद जिले का वर्णन किया गया है। फिर माता-पिता का गरिमामय वर्णन करते हुए उनकी वैराग्य भावना तथा आचार्य शांतिसागर महाराज से दीक्षा और फिर उनके गुणों का गान करने के उपरांत समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण को रेखांकित किया गया है।

''आचार्य शिवसागर स्तुति'' में 22 पद्य हैं जो मन्दाक्रान्ता छंद में लिखी गई है। इसमें सर्वप्रथम औरंगाबाद जिले के अन्तर्गत अडपुरी स्थान के वर्णन से रचना का आरंभ हुआ है। तत्पश्चात् माता-पिता का गरिमापूर्ण वर्णन है। फिर वैराग्य भावना का उल्लेख एवं उनके गुणों की प्रशंसा की गई है और अंत में सुरपुर के गमन का वर्णन है।

''आचार्य श्री ज्ञानसागर स्तुति'' में 20 पद्य हैं तथा ये पद्य सोलह मात्राओं वाले मात्रिक छंद है। इसमें गुणगान केवल स्तुति रूप में है तथा प्रत्येक पद्य के अंत में, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार'' कहकर प्रणाम स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है।

इन आचार्य स्तुतियों के उपरांत महादेवी सरस्वती की प्रशंसा में, 'शारदा स्तुति' लिखी गई है। यह स्तुति संस्कृत के बारह श्लोकों में निबद्ध हैं तथा 'द्रुतबिलम्बित छंद' में इसे लिखा गया है। इसमें सरस्वती के परम्परागत गुणों का वर्णन किया गया है। लेकिन इन गुणों में जो मिलता है वह यह कि 'शारदा' भगवान जिनेन्द्र देव की वाणी है जो उनके मुखारबिन्द से निकलकर गजधरों द्वारा ग्रहण की जाती है तथा फिर उनके द्वारा जनकल्याण के लिए प्रचारित होती है। तीर्थकरों की वाणी को दिव्यध्वनि की संज्ञा दी गई है।

इसके अलावा, 'अहोयही सिद्धशिला, 'अनागत जीवन, 'आत्माभिव्यक्ति,' 'अब मैं मन मन्दिर रहूँगा,' 'चेतन निज को जान जरा,' 'परभाव त्याग तूं बन शीघ्र दिगम्बर,' 'समकित-लाभ,' 'मोक्षललना को जिया! कब बरेगा,' 'भटकन तब तक भव में जारी' और 'बनना चाहता यदि शिवांगना पति' आदि कविताऐं हैं जो कि सभी आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यंत उच्च कोटि की है।

आपकी 'विऽजाणुवेक्खा' कविता प्राकृत में है जो कि ज्ञान का महत्व बतलाती है। 'अर्थ अनर्थेरमूल' तथा 'नदीर शीतल जल' इत्यादि कविताऐं बंगला भाषा की है जिसमें प्रथम कविता 'अर्थ' से उत्पन्न अनर्थ तथा दूसरी कविता नदी में प्रवहमान शीतल जल की तरह अन्तरात्मा की अनुभूति को प्रदर्शित करती है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी कविता 'माहू सैल्फ' में 'स्व' के महत्व को दर्शाया गया है। आपने अपनी मातृभाषा कन्नड़ में भी कुछ कविताऐं लिखीं हैं जिनमें जीवन, जगत, अध्यात्म और माया के सम्बन्ध में अनेक भावों को अभिव्यक्त किया गया है।

संदर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य की संत-काव्य परम्परा के परिप्रेक्ष्य में *'आचार्यविद्यासागरकेकृतित्वका अनुशीलन'*-शोध प्रबन्ध, डॉ. बारेलाल जैन, सन् 1972, पृ. 68.
2. वही, पृ. 68.
3. नर्मदा का नरम कंकर (एकाकी यात्रा) आचार्य विद्यासागर, पृ. 17.
4. वही (मनमानापन) आचार्य विद्यासागर, पृ. 19.
5. वही (समर्पण द्वार) आचार्य विद्यासागर, पृ. 21.
6. वही (आकार में निराकार) आचार्य विद्यासागर, पृ. 27.
7. डूबोमत, लगाओ डुबकी, आचार्य विद्यासागर, 'अमिताक्षर',
8. वही (भोर की ओर), पृ. 01.
9. वही (हौले हौले) पृ. 3,4.
10. वही (आँखों में धूल) पृ. 11
11. वही (आया दल-दल) पृ. 94.
12. वही (प्रलय पताका) पृ. 16.
13. वही, पृ. 31.
14. रामचरित मानस, अयोध्या काण्ड, 91 दोहे के पश्चात्।
15. डूबो मत लगाओ डुबकी (सागर तट) पृ. 44, 45.
16. वही (महका मकरन्द) पृ. 46, 47.
17. वही (राकेन्दु) पृ. 48, 49.
18. वही (पारदर्शक) पृ. 50,53.
19. वही (मन की भूख, मान), पृ. 54, 55
20. वही (चितकबरा) पृ. 58.
21. वही (प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है), पृ. 65.
22. तोता क्यों रोता? आचार्य विद्यासागर 'मानस संकेत' आमुख से।
23. वही, पृ. 03.
24. वही, पृ. 04
25. तोता क्यों रोता? (पंक्तिबद्ध) आचार्य विद्यासागर
26. वही (क्षणिकायें), पृ.
27. दोहा-दोहन, आचार्य विद्यासागर, पृ. 09.
28. वही, पृ. 10

29. वही, पृ. 11
30. वही, पृ. 14.
31. वही, पृ. 15.
32. वही, पृ. 16
33. वही, पृ. 17.
34. वही, पृ. 21
35. वही, पृ. 23.
36. चेतना के गहराव में (काव्य संग्रह) आचार्य विद्यासागर पृ. 14
37. वही, पृ. 17
38. वही (लहराती लहरें) पृ. 19
39. वही, पृ. 21
40. वही, (भीगे पंख), पृ. 23
41. विद्या काव्य भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ. 52.
42. वही, पृ. 34.
43. वही, पृ. 43.
44. वही, पृ. 45.
45. वही, पृ. 101.
46. वही, पृ. 53.
47. वही, पृ. 23.
48. वही, पृ. 56.
49. वही, पृ. 55.
50. वही, पृ. 36.
51. वही, पृ. 37.
52. वही, पृ. 53.
53. वही, पृ. 53.
54. विद्या काव्य भारती- आचार्य विद्यासागर, पृ. 61.
55. निजानुभव शतक, आचार्य विद्यासागर, पृ. 102.
56. वही, पृ. 22.
57. वही, पृ. 30.
58. श्रीमद्‌भगवद् गीता, पृ. 21.
59. निजानुभव शतक, आचार्य विद्यासागर, पृ. 62.

60. वही, पृ. 86.
61. मुक्तक शतक, आचार्य विद्यासागर, पद्य-40.
62. पूर्णोदय शतक, आचार्य विद्यासागर, पद्य 9.
63. वही, पद्य-11.
64. वही, पद्य-13.
65. वही, पद्य-17.
66. वही, पद्य-22.
67. वही, पद्य-33.
68. वही, पद्य-51.
69. वही, पद्य-84.
70. सर्वोदय शतक, आचार्य विद्यासागर, पद्य-2.
71. महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली परिशीलन (सर्वोदय शतक: एक समीक्षा) संपादक-डॉ. रमेशचन्द्र जैन,पृ. 426.
72. वही, पृ. 426.
73. वही, पृ. 426.
74. वही, पृ. 427.
75. वही, पृ. 427.
76. वही, पृ. 427.
77. सर्वोदय शतक, आचार्य विद्यासागर, पद्य-43.
78. महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली परिशीलन, पृ. 428.
79. सर्वोदय शतक, आचार्य विद्यासागर, पद्य-50.
80. वही, पद्य 63.
81. महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली परिशीलन, पृ. 429.
82. सर्वोदय शतक, आचार्य विद्यासागर, पद्य 85.
83. महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली परिशीलन, पृ. 429.
84. सर्वोदय शतक, आचार्य विद्यासागर, पद्य-96.
85. वही, पद्य-71.
86. वही, पद्य-90.
87. महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली परिशीलन, पृ. 430.
88. श्रंद्धाजली काव्य, आचार्य विद्यासागर, पद्य-6.
89. वही, पद्य-22.

90. वही, पद्य-99.
91. वही, पद्य-105.
92. जिनेन्द्र स्तुति, आचार्य विद्यासागर, पद्य-12.
93. योगसार, आचार्य विद्यासागर, पद्य-9.
94. वही, पद्य-10.
95. वही, पद्य-15.
96. वही, पद्य-72.
97. वही, पद्य-97.
98. अष्टपाहुण, आचार्य विद्यासागर, पद्य-20.
99. एकीभाव स्त्रोत, आचार्य विद्यासागर, पद्य-6.
100. वही, पद्य-9.
101. नंदीश्वर भक्ति, आचार्य विद्यासागर, पद्य-4.
102. सूर्योदय शतक, आचार्य विद्यासागर, पृ. 59.
103. वही, पृ. 61.
104. वही, पृ. 62.
105. कुन्द कुन्द का कुन्दन, आचार्य विद्यासागर, पृ. 3
106. जैन गीता, आचार्य विद्यासागर, पद संख्या-342.
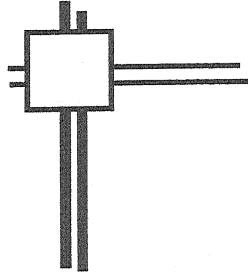
अध्याय-चार

आचार्य प्रवर का काव्यालोचन : भाव सौन्दर्य

(क) रस दशा
(ख) विभाव
(ग) अनुभाव
(घ) संचारी-भाव
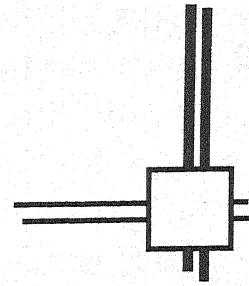
आचार्य प्रवर का काव्यालोचन : भाव-सौंदर्य

(क) रस योजना :

भारतीय वाङ्मय में 'रस' प्राचीनतम् शब्दों में माना गया है। काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों ने काव्य की आत्मा रस को ही माना है। कहा भी गया है "रस्यते आस्वाधते इति रसः।"[1] अर्थात जिससे रस आता हो, रस का आस्वादन किया जाता हो उसे रस कहते हैं। ब्रह्म ही रस है, आस्वादनीय है एवं रस आनन्द रुप है, रस, आनन्द और हित शब्द समानार्थक है।"[2] प्रायः सभी विद्वानों ने रस को आनन्द स्वरुप माना है। रस की यह आनन्दकारी अनुभूति उस समय होती है, जब सत्व का उद्रेक होता है तथा रजस् तमस् दब जाते हैं। 'रस' वस्तुतः एक प्रकार की अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं।"[3] वास्तव में रस आनन्द की अनुभूति का नाम है। इसलिए काव्यमनीषियों ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है और रस को आत्मा। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से अभिव्यक्त स्थाई भाव रस है।"[4] रस-सिद्धांत परम्परा में भरत मुनि का सूत्र इस सम्बन्ध में सर्वमान्य माना गया है। उनका सूत्र है-

"विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रस निष्पन्ति।"[5]

अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

आचार्य धनंजय के अनुसार : "विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से आस्वाद्यमान स्थायी भाव ही रस है।"[6]

साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने रस की परिभाषा इस प्रकार से दी है-

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सच्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।। [7]

अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

कारणन्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि-च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्तत् कथयन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैविभावाधैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।।[8]

अर्थात लोक में रति आदि स्थायी भावों को उद्‌बुद्ध करने वाले जो कारण कार्य और सहकारी कारण होते हैं, उनका नाट्य या काव्य में वर्जन होने पर वे क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। उन सबके योग से जो स्थायीभाव व्यक्त होता है, वह रस कहलाता है।

प्राचीन संस्कृत आचार्यों के समान ही हिन्दी आचार्यों ने भी रस को काव्य का प्राणतत्व माना है। यद्यपि विभिन्न आचार्यों में मत-विभिन्नता होते हुए भी 'रस' के अस्तित्व को सभी ने स्वीकारा है। इस सम्बन्ध में डॉ. विश्वम्भर नाथ कहते हैं -"भावों के छन्दात्मक समन्वय का नाम ही रस है।"[9]

आचार्य श्यामसुन्दर दास के अनुसार -''स्थायीभाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से आस्वादन करने योग्य हो जाता है, तब सहृदय प्रेक्षक के हृदय में रस रुप में उसका आस्वादन होता है।''[10]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- ''जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है।''[11]

आचार्य विद्यासागर जी ने भी रस को ''आत्मसात का विषय मा ' और कहा हैं-

''साहित्यिक रस को आत्मसात करता है
श्रद्धा से अभिभूत श्रोता जो।
प्रवचन श्रवण कला कुशल है
हंस राजहंस सदृश
क्षीर नीर विवेकशील।।''[12]

आचार्य विद्यासागर जी के काव्य का प्रधानरस 'शांतरस' है वे स्वयं शांत हैं, तपस्वी हैं, माधुर्य और मंद मंद मुस्कान से युक्त जिनकी दृष्टि है। 'सुनीतिशतक' काव्य में अध्यात्म दृष्टि के साथ उन्होंने श्रृंगार की नवीन विवेचना की है तथा उसी में 'शांतरस' को भी अभिव्यक्त कर दिया है-

श्रृंगार एवैक रसो रसेषु न ज्ञाततत्वाः कवयो भणन्ति।
अध्यात्म श्रृंङ्गत्विति रतिशान्तः श्रृंङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति।''[13]

आचार्य श्री ने यहाँ पर श्रृंगार रस को शांत रस के रुप में अभिव्यक्त किया है। उन्होंने आत्मा का वास्तविक श्रृंगार शांत रस के रूप में व्यक्त किया है। आत्मा का वास्तविक श्रृंगार शांत रस से ही होता है। सुनीतिशतक में आचार्य श्री ने लिखा है-''जिस प्रकार तिलक के बिना चन्द्रमुखी, उद्यम के बिना देश, सम्यक् दृष्टि के बिना मुनि का चरित्र सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार 'शांतरस' के बिना कवि का काव्य सुशोभित नहीं होता।''

''भावनाशतक'' में आचार्य श्री ने लिखा है-
'बोले विहंग, ऊषा मन को लुभाती है,
शोभावती वह निशा शशि से दिखाती।
हो पूर्ण शांत रस से कविता कहाती,
शुद्धात्म में मुनि रहे मुनिता सुहाती।''[14]

अर्थात शतक काव्य की शोभा बढ़ाने वाला मूल तत्व शांतरस है, कवि ने रस को आनन्द का विषय माना है, किसी भी काव्य के विवेचन में रस की अपनी विशेषता होती है और उसी के आधार से काव्य के श्रवण एवं पाठन में आनंद की प्राप्ति होती है जिसमें आनंद की अनुभूति होती है उसमें रस अवश्य होता है। विभिन्न आचार्यों में मत-वैभिन्य के बावजूद भी सर्वसम्मति से रस की संख्या दस मानी गयी है-

1. श्रृंगार, 2.हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5.वीर, 6.भयानक, 7. वीभत्स 8.अद्‌भुत 9.शांत और 10. वात्सल्य।

आचार्य विद्यासागर के काव्य का अंगीरस -'शांत रस'

मुख्य रुप से अध्यात्म प्रधान काव्यों का अंगीरस प्राय: 'शांतरस' होता है, इसलिए कि ध र्म अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ संसर्ग विषय को बढ़ाने वाले हैं और चतुर्थ पुरुषार्थ 'मोक्ष' विरक्त जनों को साधना की उच्चतर भूमि की ओर ले जाता है। जिस मानव का सम्पूर्ण परिवेश धर्म, अर्थ और काम की ओर बना रहता है तब वही भव्य मानव आत्मा के दर्शन कर पाने में समर्थ होता है। तभी उसके अन्त:करण में वैराग्य भावना का ज्ञान होता है, तप, ध्यान, योग, संयम, त्याग आदि की भावना उत्पन्न होती है लौकिक और पारमार्थिक दोनों ही दृष्टियाँ उसके सामने आतीं हैं। लौकिक का स्थायीभाव माया में अरुचि और पारमार्थिक का स्थाई भाव वैराग्य होता है।[15]

आचार्य विद्यासागर जी की काव्य रचनाओं में प्रारंभ से लेकर अंत तक शांतरस का समावेश है। 'मूकमाटी' में कवि साहित्य की अनुभूति को अभिव्यक्त करते हुए कहता है कि ''जिस समय व्यक्ति श्रद्धा से अभिभूत होकर प्रवचन का श्रवण करता है उस समय वह राजहंस की तरह क्षीर-नीर विवेकशील बन जाता है।'' कवि का कथन है कि -

''उस समय प्रतीति में न रस रहता है
न ही नीरसता की बात, केवल कोरा टकराव रहता है
लगाव रहित अतीत से, बस।''[16]

शांत रस का स्थायी भाव निर्वेद है। यहाँ पर सांसारिक असारता जीवन की क्षणभंगुरता आलम्बन विभाव का कार्य करते हैं। संत समागम् अध्यात्म चिंतन, वस्तु विवेक, भक्ति आदि इसके उद्दीपन हैं। अश्रु, रोमांच, पश्चात्ताप, ग्लानि, वेदना, राग, करुण-क्रन्दन आदि अनुभाव हैं तथा ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, धैर्य, क्षमा, दया, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि इसके संचारी भाव है। आचार्य श्री के समस्त काव्यों में यह दृष्टि देखने को मिलती है।

''डूबो मत लगाओ डुबकी'' काव्य संग्रह में शांत रस सर्वत्र देखने को मिलता है। ''तुम कैसे पागल हो?'' कविता के द्वारा आचार्य श्री कहते हैं कि-

''अहित पंथ के पथिक
कैसे बने हो तुम।
निज को तज
जड़ का मंथन करते हो
तुम कैसे पागल हो।''[17]

आचार्य श्री का काव्य संग्रह 'चेतना के गहराव में' उन्होंने अनुभूतियों के नानाविध रंगों को भरने का प्रयास किया है। कवि ने रेखाचित्रों के द्वारा जो काव्यगत संकेत प्रस्तुत किये हैं वे अपने आप में अन्यतम् हैं। कवि की एक कविता है 'भूखी-भू' जिसमें उनका चिंतन देखते ही बनता है-

''धरती में धृति नहीं है धरती चिंतित है भविष्य क्या होगा?
और उसमें पीलिमा आ गई है। कारण बताते
लज्जा आती है और आँखों में गीलिमा आती है।''[18]

आचार्य श्री की बहुचर्चित काव्यकृति 'मूकमाटी' का प्रधान रस 'शांत रस' है। अन्य काव्यों

में भी अंगीरस के रुप में शांत रस की ही प्रधानता है। अंग रस के रुप में श्रृंगार, वीर, रौद्र, भयानक, हास्य, वीभत्स, करुण आदि रसों का भी समावेश उनके काव्यों में देखने को मिलता है। रस की दृष्टि से उनके काव्यों में अन्य रसों का समावेश इस प्रकार से देखा जा सकता है-

1. **श्रृंगार रस :-**

श्रृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' को माना गया है। इसके आलम्बन नायक और नायिका माने गये हैं। उद्दीपन के रुप में नायिका की वेशभूषा, चेष्टा इसके अलावा ऋतु, चन्द्रिका, चित्र आदि आते हैं। अनुभाव के अंतर्गत रोमांच, आलिंगन, स्नेह वृष्टि आदि आते हैं। काव्य शास्त्रियों ने इस रस के दो पक्ष माने हैं- (अ) संयोग पक्ष और (ब) वियोग पक्ष। आचार्य श्री के काव्य में श्रृंगार रस के अनेक उद्धरण देखने को मिलते हैं-

''लज्जा के घूँघट में
डूबती-सी कुमुदनी,
प्रभाकर के कर छुवन से,
बचना चाहती है वह,
अपनी पराग को-सराग मुद्रा को-
पाँखुरियों की ओट देती है।''[19]

कवि ने श्रृंगार रस के अंतर्गत जिस सरसता और सौन्दर्य की श्रृष्टि की है वह देखते ही बनती है-

''किसलय ये किसलिए
किस लय में गीत गाते हैं?
किस वलय में से आ
किस वलय में क्रीत जाते हैं।''[20]

कवि के द्वारा 'चेतना के गहराव में' काव्य संग्रह में 'अधर के बोल' कविता के माध्यम से नायिका के अधरों के सौंदर्य और सरसता का वर्णन कवि कुछ इस प्रकार से करता है-

''अधर डोल रहे इधर यह मयूर
चिर प्रतीक्षित है आपकी इंगन-कृपा से।''[21]

कवि ने अपने बहुचर्चित काव्य संग्रह ''नर्मदा का नरम कंकर'' में वासना का चित्र कुछ इस तरह से चित्रित किया है-

''वासना की वसना
जो दृष्टि अगोचर/अगम्य
ओढ़ रक्खी है तूने।''[22]

इस तरह आचार्य श्री ने अपने काव्य संग्रहों में श्रृंगार रस को अनेक रुपों में अभिव्यक्त कर अपनी अन्यतम् काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है।

2. करुण रस :-

इस रस का स्थायीभाव करुणा एवं संवेदना को माना गया है। इसके आलम्बन आत्मीय जनों का विनाश और पराभव आदि को माना गया है। उद्दीपन के अंतर्गत लोगों से स्नेहभाव, वस्त्राभूषण, चित्रादिदर्शन तथा उसकी दीन हीन दशा का स्मरण आदि को माना गया है। अनुभाव की सीमा में रुदन, उच्छवास, विलाप एवं देवनिंदा आदि आते हैं। इसके संचारी भावों के अंतर्गत व्याधि, ग्लानि, विषाद, मरण, मोह, उन्माद आदि की गणना की गयी है। कवि का कथन है-

''करुणा कह रही कण कण को कुछ।
परस्पर कलह हुआ तुम लोगों में बहुत हुआ वह गलत हुआ
मिटाने मिटने को क्यों तुले हो ?''[23]

बुद्धि और विवेक से हीन प्राणी का मन विषय भोगों में इतना अधिक रम जाता है कि उसे यह स्मरण ही नहीं रह जाता कि वह क्या कर रहा है? और उसे ऐसा करना भी चाहिए कि नहीं। इसीलिए ऐसे प्राणी का उच्छ्वास दुःख रुप होता है और विनाश मरणरुप में होता है। कवि का कथन है कि-

''बिना खेद उच्छ्वास जनम ना लेता वह दुःख कूप रहा।
टिका हुआ है जिस पर नियमित जीवन का वह स्तूप रहा।''[24]

आचार्य श्री ने 'डूबो मत, लगाओ डुबकी'' काव्य संग्रह में एक स्थान पर कहा है कि ''जो व्यक्ति यथार्थ को नहीं जानता है, वह परमार्थ को भी नहीं जान पाता है।'' इस सम्बन्ध में संवेदनशील भावों की अभिव्यक्ति कुछ इस तरह से है-

''आर्त्त है केवल,
पर का आलम्बन
पर का सम्बल।''[25]

3. हास्य रस :-

इस रस का स्थायी भाव हँसी या हास्य को माना गया है। जीवन में कभी-कभी प्राप्त होने वाली असंगति या विषमता से मानव की चेष्टा, बोली तथा व्यवहार''[26] आदि से 'हास्य' का अनुभव होता है। इसका अवलम्बन आकार, वेशभूषा आदि है। इसके उद्दीपन के अंतर्गत हास्यजनक चेष्टाओं को लिया गया है। अनुभाव में व्यंग्ययुक्त वाक्यों को लिया जाता है तथा संचारी भाव के रुप में आलस्य, निद्रा आदि का विवेचन किया जाता है। आचार्य श्री 'हास्य' को एक प्रकार से कषाय की श्रेणी के अंतर्गत मानते हैं। उन्होंने लिखा है-

''खेद-भाव के विनाश हेतु
हास्य का राग आवश्यक भले ही हो
किन्तु वेद-भाव के विकास हेतु
हास्य का त्याग अनिवार्य है
हास्य भी कषाय है ना।''[27]

'हास्य-रस' के अंतर्गत वचन-वक्रता को प्रमुखता देते हुए आचार्य श्री का कथन है-

''कहकहाहट के साथ
आधा भोजन कीजिए
दुगुणा पानी पीव
तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी
वर्ष सवा सौ जीव।''[28]

4. रौद्र रस :-

'क्रोध' को इस रस का स्थायीभाव माना गया है, इसका आलम्बन दुष्ट या विरोधी व्यक्ति है। क्रूर दृश्य, कुटिल भ्रूभंगिमा आदि इसके अनुभाव हैं तथा चपलता, अहंकार, उग्रता, मद आदि इसके संचारी भाव हैं। कवि ने अपने काव्य में 'रौद्र रस' के अंतर्गत कराल, काला, ज्वलनशील, शून्य हृदय, टेढ़ी भृकुटि वाला और लाल-लाल तेजाबी आँख की पुतलियों वाला आदि इस रस को निरुपित किया है। कवि का कथन इस रस के रुप में इस प्रकार है-

''कराल काल रौद्र रस, जग जाता है ज्वलनशील
भृकुटियाँ टेढ़ी तन गईं
आँख की पुतलियाँ
लाल-लाल तेजाबी बन गईं।''[29]

'मूकमाटी' महाकाव्य में भी कवि ने एक स्थान पर आतंकवाद को भयानक बतलाते हुए कुछ इस प्रकार से कहा है-

''आतंकवाद लक्ष्मण की भाँति उबल उठा
पकड़ो! पकड़ो! ठहरो! ठहरो!
सुनते हो! या नहीं, अरे! बहरो
मरो या हमारा समर्थन करो।''[30]

5. वीर रस :-

इस रस का स्थायीभाव उत्साह माना गया है। साहसपूर्ण कार्य, यश, वैभव इसके आलम्बन भाव है। युद्धघोष, शत्रु को ललकार एवं प्रदर्शन आदि इस रस के उद्दीपन माने गये हैं। आंदोलन, आवेशजन्य रोमांच एवं प्रहार आदि इसके अनुभाव हैं और स्मृति, हर्ष, धृति आदि इसके संचारी भाव हैं। कवि ने वीर रस को ज्वालामुखी तथा उद्दण्डता का प्रतीक माना है। 'मूकमाटी' इस रस की अभिव्यक्ति का स्वरुप कुछ इस प्रकार से है-

''सदियों से वीर्य प्रदान किया है,
युग को इसने।
लो! पी लो प्याला भर-भर कर
विजय की कामना पूर्ण हो तुम्हारी।
युग वीर बनो! महावीर बनो!
अक्षत-वीर्य बनो तुम।''[31]

'नर्मदा का नरम कंकर' काव्य-संग्रह में कवि आक्रमण, कटाक्ष और संघर्ष की चर्चा कुछ

इस तरह से करते हैं-

''उधर से आक्रमण नहीं
कटाक्ष नहीं
संघर्ष के लिए
कोई आमंत्रण की नहीं
अनंत काटों से निष्पन्न
उसका शरीर है।''[32]

6. भयानक रस :-

इस रस का स्थायी भाव 'भय' को माना गया है। भय उत्पन्न करने वाली वस्तुऐं इसमें आलम्बन होतीं हैं और इन्हीं वस्तुओं का कथन उद्दीपन का कार्य करता है। रोना करुणाजनक भाव आदि इसके अनुभाव हैं। चिंता, शंका, मूर्च्छा, जुगुत्सा, दीनता आदि संचारी भाव हैं। इन समस्त उपकरणों से परिपुष्ट 'भयानक रस' होता है। कवि ने अपने काव्य के अंतर्गत भयानक रस का चित्र कुछ इस प्रकार से खींचा है-

''महासत्ता का महाभयानक
मुख खुला है जिसका दाढ़-जबाड़ में
सिंदूरी आँखों वाला भय
बार-बार घूर रहा है बाहर।''[33]

आचार्य श्री 'भावना शतक' में कुछ इस तरह से भयानक रस के सम्बन्ध में लिखते हैं-

''कामाग्नि में जल रहा यदि पूर्ण दागी,
धाता नहीं वह न शंकर है न त्यागी।
तो विश्व का अमित दुःख त्रिशूलधारी,
कैसे मिटाकर, बने स्वरोपकारी?''[34]

7. वीभत्स रस :-

'जुगुप्सा' को इस रस का स्थायी भाव माना गया है। दुर्गन्धपूर्ण और अभद्र वस्तुऐं तथा रुधिर, हाड़, मांस इसके आलम्बन माने गये हैं। अलौकिक घटना को इसके उद्दीपन के अंतर्गत रखा गया है। रोमांच, घबराहट आदि इसके अनुभाव हैं और भय, चिंता, दैन्य, आवेग इसके संचारी भाव हैं। 'मूकमाटी' महाकाव्य में कवि के द्वारा अभिव्यक्त ये पंक्तियाँ इस रस का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करतीं हैं-

''फड़फड़ाती लम्बी
नासा फूलती कई उसकी।''[35]

कवि' गुणोदय काव्य' में इस रस की अभिव्यक्ति हेतु कुछ इस तरह लिखते हैं-

''स्थूल हाड़मय काष्ट रचित है सिरानसों से बंधा हुवा।
विधि रिपु रक्षित रुधिर पिशित से लिप्त चर्म से ढका हुवा।''[36]

कवि के काव्य में वीभत्स रस की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सांसारिक विषयक वासनाओं को वीभत्स रस की अभिव्यंजना में व्यक्त कर देते हैं। वे ''जीर्ण शीर्ण तन कान्तिहीन'' डाकिनी

सम्मुख न आये, पिशाचनी का मन में स्मरण नहीं आये।''[37] आदि पंक्तियों के माध्यम से सूक्ष्म वीभत्स रस को अभिव्यक्त करते हैं।

8. **अद्‌भुत रस :-**

जब हम किसी असाधारण वस्तु को देखते हैं तो 'अद्‌भुत रस' उत्पन्न होता है। इसका स्थायी भाव विस्मय माना गया है तथा अलौकिक घटना आलम्बन है। विलक्षणता इसका उद्दीपनभाव है। प्रफुल्लता और रोमांचन इसके अनुभाव हैं तथा हर्ष और वितर्क इसके संचारी भाव हैं। अपनी काव्यात्मक क्षणिकाओं में कवि इस रस की अभिव्यक्ति कुछ इस रुप में करता है-

''इस अद्‌भुत घटना से
विस्मय को बहुत विस्मय हो आया।......
अंधों विषयान्धों को
प्रकाश की गंध कब मिलेगी भगवन्?''[38]

अपने काव्य संग्रह 'नर्मदा का नरम कंकर' में कवि कुछ आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति को इस रुप में अभिव्यक्त कर चमत्कार की स्थिति उत्पन्न करने में सफल हुआ है :-

''विभाव संस्कारित विकृति है,
पल-पल मिटती
पलायुवाली परिणति है।''[39]

9. **शांत रस :-**

इस रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' है जो कि तत्व ज्ञान और वैराग्य से उत्पन्न होता है। संसार की असारता या उस परम प्रभु का अनवरत् चिंतन ही उसका आलम्बन है। संत समागम, धर्म-श्रवण आदि इसके उद्दीपनभाव हैं। पश्चात्ताप इसके अनुभाव हैं और हर्ष, ग्लानि आदि इसके संचारीभाव हैं।

आचार्य श्री दृष्टि अध्यात्ममूलक है उनका सम्पूर्ण रचनात्मक अवदान तत्व ज्ञान से परिपूर्ण है। उनके विवेचन में वैराग्य भाव, संसार की असारता, सांसारिक तत्व एवं बाह्य आवरण आदि के प्रति राग आत्म ज्ञान में बाधा उत्पन्न करने वाला है। कवि के द्वारा प्रस्तुत ये पंक्तियाँ विचारणीय हैं-

''शांत रस का संवेदन वह
सानन्द-एकांत में ही हो
और तब, एकाकी हो संवेदी वह ....।
संगम होना ही संगत है
शांत रस का यही संग है, यही अंग।''[40]

'लहराती लहरें' काव्य के अंतर्गत शांतरस के समस्त भावों को कुछ रुप में देखा जा सकता है-

यम, दम, शम, सम से मुनि का मन अचल हुआ है विमल रहा,
महातेज हो धधक रहा है जिसमें तप का अनल महा।''[41]

कवि ने ''डूबो मत लगाओ डुबकी'' में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से मुक्त होकर परम् शांतरस मे लीन होकर सरस शांत सुधारस्य में निमग्न होने की बात करते हैं। उनका कथन है कि -

''सरस शांत सुधा कृपापति। कर कर कृपा, इसे पिला दे
हे रति हननी। जिनमें परम शांत रस
पर्याप्त मात्रा में झलक रहा हो।''[42]

आचार्य श्री विद्यासागर जी के काव्यों में मुख्य रुप 'शांत रस' ही देखने को मिलता है, परन्तु तत्वज्ञान, वैराग्य, हृदय शुद्धि, उपासना आदि के विपरीत विभावों की जब वे कल्पना करते हैं तब सम्पूर्ण प्राणी जगत के समस्त भावों को समेटकर अपनी बात कहते हैं। उस समय शांत रस के अतिरिक्त करुण, वात्सल्य, रौद्र, वीभत्स आदि रसों का समावेश होना स्वाभाविक है। पर प्रमुख रुप से उनके काव्य-संग्रहों में 'शांत रस' की ही प्रधानता है।

'शांत रस' में यम, नियम, अध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासना, दया, सन्यास, शौच, धृति आदि के व्यभिचारी भाव होते हैं। आचार्य श्री ने यम, नियम, रुप रस के विषय में कुछ इस तरह से कहा है-

''अत्यंत ही कठिन जो निज जीतना है,
कर्त्तव्य मान उसको बस साधना है।
जो जी रहा जगत में बन आत्मजेता,
सर्वत्र दिव्य सुख का वह लाभ लेता।''[43]

वास्तव में 'शांत रस' में समस्त प्राणियों के प्रति रक्षा का भाव होता है। उस समय सुख, दुःख, राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि नहीं होते अपितु प्राणीमात्र पर समता का भाव होता है। आचार्य श्री के सभी काव्यों में यही दृष्टि है और इसी दृष्टि के कारण उनके काव्यों में सर्वत्र नवीनता और मौलिकता दिखाई देती है।

10. वात्सल्य रस :-

पुत्र विषयक 'रति' आदि का भाव ही इसका स्थायीभाव माना गया है। इसके आलम्बन पुत्र और पुत्री दोनों होते हैं। बाल चेष्टाऐं एवं चपलताऐं इसके उद्दीपन हैं। माता-पिता का मुस्कराना अनुभाव है तथा हर्ष और शंका आदि इसके संचारी भाव हैं।

महाकवि के काव्यों में जहाँ 'शांत रस' का सागर गंभीर भावों को धारण किए हुए है वहीं 'वात्सल्य रस' की अनुपम तरंगों ने भी इसे अत्यंत आकर्षक और रस सिक्त बना दिया है। महाकवि की 'मूकमाटी' एक ऐसी काव्य कृति है जिसमें माँ की ममता, भक्त सेठ का संरक्षण, शिल्पी का चित्रांकन आदि वात्सल्य भाव को स्थायित्व प्रदान करते हैं। 'मूकमाटी' कृति के आरम्भिक चरण में माँ की मार्दव गोद को आचार्यवर ने अत्यंत मनोहारी मानते हुए कुछ इस तरह से कहा है-

''लेटा है माँ की मार्दव गोद में,
मुख पर अंचल लेकर, करवटें ले रहा है।
प्राची के अधरों पर
मन्द मधुरिम मुस्कान है।''[44]

'मूकमाटी' में ही कवि ने एक अन्य स्थान पर कहा है कि वात्सल्य ही जीवन का त्राण है। धवलिम नीर धर्मी है, वत्सलता नादान को भी सोम बना देती है इसी में कवि ने माँ की उदारता, परोपकारिता आदि का वर्णन कुछ इस तरह से किया है-

> **''माँ की उदारता-परोपकारिता**
> **अपने वक्षस्थल पर**
> **युगों-युगों से ...... दुग्ध से भरे। दो कलश ले खड़ी है,**
> **क्षुधा तृषा-पीड़ित। शिशुओं का पालन करती रहती है**
> **चिपका लेती है, पुचकारती हुई।''**[45]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्वमेव ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि का रस परिपाक समुचित, समन्वयकारी और विविध भंगिमाओं से परिपूर्ण है। भले ही कवि के काव्य का अंगीरस 'शांत' हो पर अन्य रसों की भी यथा स्थान अभिव्यक्ति काव्य-सौंदर्य में श्री वृद्धि करती है।

(ख) विभाव :-

'लोक' में जो स्थायी भावों के उद्‌बोधक हैं वे ही 'विभाव' कहलाते हैं। इन्हें रस निष्पत्ति के लिए आवश्यक माना गया है। वस्तुतः आचार्य भरत से लेकर आधुनिक काल तक संस्कृत तथा हिन्दी के आचार्यों और विवेचकों ने विभाव को इसी रुप में माना है। आचार्य विश्वनाथ का कथन है-''**रत्याद्युद्बोध काः लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः**''[46] सामाजिक के अंतर्गत रति-हास आदि को जो आस्वादन के योग्य उत्पन्न करते हैं। देव भी इसी प्रकार कहते हैं-'**जे विसेष्य करि रसनिको उपजावत हैं भाव**'[47] जो व्यक्ति, पदार्थ अथवा बाह्यविकार अन्य व्यक्ति के हृदय में भावों को जाग्रत करते हैं, उन भावोद्बोधक अथवा रसाभिव्यक्ति के कारणों को 'विभाव' कहते हैं। इनके आश्रय से रस प्रकट होता है, अतः यह कारण निमित्त या हेतु कहलाते हैं। रस को अलौकिक मानने के कारण इन्हें भी कारण आदि नाम न देकर असाधारण रुप से विभाव कहा जाता है। यह विभाव आश्रय में भावों को जाग्रत भी करते हैं और उनहें उदीप्त भी करते हैं। इसीलिए इसके 'आलम्बन' और 'उद्दीपन' नामक दो भेद किये गये हैं।

आचार्य श्री के काव्य संग्रहों में 'विभाव' आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही रुपों में देखने को मिलते हैं। वैसे उनके काव्य में 'संसार की असारता तथा जीवन की क्षण भंगुरता ही 'आलम्बन विभाव' है तथा संत समागम, आध्यात्मिक चिंतन, वस्तु विवेक और भक्ति को एक प्रकार से उद्दीपन विभाव माना गया है। आचार्य श्री ने सांसारिक असारता और जीवन की क्षण भंगुरता को 'आलम्बन विभाव' के रुप में अनेक स्थलों पर इसकी चर्चा की है। 'मूकमाटी' के चतुर्थ खण्ड -अग्नि की परीक्षा : चाँदी सी राख' में संसार की असारता और मोह की माया में फँसे हुए मानव को इंगित करते हुए वे कहते हैं-

> **''यह देही मतिमन्द/ कभी-कभी**
> **रस्सी को सर्प समझकर/ विषयों में लीन होता है। .... तो।**
> **...... कभी / ....**
> **सर्प को रस्सी समझकर/ विषयों में लीन होता है**
> **यह सब मोह की महिमा है/ इस महिमा का अंत**
> **तब तक नहीं हो सकता/ स्वभाव की अनभिज्ञता/**

जीवित रहेगी जब तक/''48

आचार्य श्री इस संसार को एक 'नाटक' के खेल की तरह मानते हैं। जो कुछ समय के पश्चात् स्वतः ही समाप्त हो जाता है। इस जगत के जीव को इस 'नाटक' में भाँति भाँति के भेष धारण कर अभिनय करना पड़ता है पर उसे इस 'नाटक' में 'ना+अटक' अर्थात इसमें अटकना नहीं चाहिए, क्योंकि यह तो क्षण भंगुर है। इस सांसारिक अभिनय लीला को कवि ने इस तरह से अभिव्यक्त किया है-

यहाँ प्रकृति नहीं है। मात्र प्रकृति का अभिनय है।
या प्रकृति का अविनय है
माया, छल। ये फूल तो हैं। पर! कागद के हैं''49

आचार्य श्री अपने बहुचर्चित काव्य-संग्रह 'डूबो मत, डुबकी लगाओ' में कहते हैं कि यह जीव एक गुलाब का पौधा है, जिस पर स्वजन पुष्प खिले हैं, जिनमें सुंन्दर मकरन्द है, परन्तु आज वह पौधा खेद खिन्न है क्योंकि उसकी जड़ में मोह का कीड़ा लगा हुआ है, जो उसे तिल तिलकर काट रहा है जिससे पुष्प मुरझा गया है और मकरन्द शुष्क होने से अलिगण लौट रहा है। अर्थात् यह संसार मायात्मक है। वस्तुतः है यह निस्सार ही। फिर भी यह जीव संसार सागर तट पर बैठा उसमें उठती हुई लहरों में मन रचा पचाकर उन्हें निहारा करता है, पर उसे यह ज्ञात ही नहीं रहता कि ये लहर ही जहर है-

''उसी जहर से/ अपना गागर/ भरता जाता, भरता जाता
यह संसार/ प्रहर-प्रहर पर/ मरता जाता/
मरता जाता.... यह संसार।''50

आचार्य श्री का मानना है कि मनुष्य के अन्दर विकार ही विकार भरे पड़े हैं। इसीलिए वह सुख से वंचित रहता है, क्योंकि सुख इन्द्रियों के भोग में नहीं उनके त्याग में है। इसलिए कि भोगों से सुख नहीं बल्कि सुखानुभूति मात्र ही होती है। असीम सुख के लिए अहम् को मिटा देना चाहिए। अहम् अर्थात इन्द्रिय सुख। जिस प्रकार नदी स्वयं को खोकर ही सागर का रुप पाती है अतः उसे निर्विकार होना चाहिए। विकार भोगों में है इसलिए उनका त्याग अपरिहार्य माना गया है। इस जीवन में जब कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है तो उसके लिये खेद-खिन्न नहीं होना चाहिए।

''ना सम्पदा न विपदा रहती सदा है,
दोनों अहो! प्रवहमान मृषा मुधा है।
स्थायी नहीं क्षणिक जो मिटती उषा है,
काली वहीं तदुपरान्त घनी निशा है।''51

जहाँ तक आचार्य श्री के काव्य में 'उद्दीपन विभाव' की बात है तो इसके अंतर्गत संत समागम, अध्यात्म चिंतन, वस्तु विवेक और भक्ति को ही हम इसके अंतर्गत ले सकते हैं। कवि का मानना है कि 'ज्ञान' के आविर्भाव से ही मोक्षमार्ग का पथिक बना जा सकता है, 'दोहा-दोहन' काव्य-संग्रह में वे लिखते हैं-

''मोक्षमार्ग पर नित चलो, दुःख मिट सुख मिल जाय।
परम सुगन्धित ज्ञान की, मृदुल कली खिल जाय।।''52

कवि का मानना है कि जैसे तिल में तेल और काष्ठ में अग्नि वास करती है, उस प्रकार

इस तन में शंकर सम जीव रहता है। ऐसी स्थिति में मानव को अपने कल्याण की बात अवश्य ही सोचनी चाहिए। कवि की इच्छा है कि वे सदैव आत्मरमण करें, भूलकर भी पर में न रमें तथा चिदानन्द का लाभ लें, क्योंकि पर पदार्थ तो एक छलावा है। इस छल से प्रत्येक प्राणी छला जाता है, इसलिए समय रहते हुए चेत जाने की आवश्यकता है। कवि का कथन है-

''तिल में जिस विध तेल है, अग्नि काष्ठ में जान।
शंकर तन में है रहा, जरा सोच कल्याण।।
रहूँ रमूँ निज में सदा, भ्रमूँ न पर में भूल।
चिदानन्द का लाभ लूँ, पर को सब कुछ भूल।।''[53]

कवि का मानना है कि संत पुरुष के प्रति राग पाप को शीघ्र ही मिटा देता है जैसे कि उष्ण नीर भी आग को तत्क्षण बुझा देता है-

सन्त पुरुष से राग भी, शीघ्र मिटाता पाप।
उष्ण नीर भी आग को, क्या न बुझाता आप।।

कवि का अन्त:करण भक्ति भावना से आपूरित है। इसीलिए वे कहते हैं-

''पंक नहीं पंकज बनूँ, मुक्ता बनूँ न सीप।
दीप बनूँ जलता रहूँ, प्रभू-पद-पद्म समीप।''

(ग) अनुभाव :-

आचार्य भरत के द्वारा रस तत्वों में स्वीकृत एक तत्व निष्पत्ति के लिए विभावादि के साथ इसका उल्लेख सर्वमान्य रुप से किया गया है। आचार्य विश्वनाथ ने अनुभावों को ''**उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्**'' अर्थात आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य अनुभाव कहे जाते हैं।''[54] देव इसी को इस प्रकार कहते हैं- ''**जिनको निरखत परस्पर रस को अनुभव होई। इन्हीं को अनुभाव पद कहत सयाने लोई।**'' वाणी तथा अंग संचालन आदि की जिन क्रियाओं से आलम्बन तथा उद्दीपन आदि के कारण आश्रय के हृदय में जाग्रत भावों का साक्षात्कार होता है, वह व्यापार 'अनुभाव' कहलाते हैं। इस रुप में ये विकार रुप तथा भावों के सूचक हैं। भावों की सूचना देने के कारण ये भावों के 'अनु' अर्थात पश्चात्वर्ती एवं कार्यरुप माने जाते हैं। इनकी संख्या के बारे में जानना यद्यपि काफी कठिन कार्य है फिर भी उनके पाँच रुप माने गये हैं- (1) कायिक, (2)वाचिक, (3) मानसिक, (4) आहार्य, (5) सात्विक।

'कायिक' अनुभाव उन्हें कहा जाता है जो अन्त:करण में स्थित भावों शारीरिक प्रतिक्रियाओं के रुप में देते हैं। 'वाचिक' अनुभाव वचनोद्गार के रुप में प्रकट होते हैं। 'मानसिक' अनुभाव की स्थिति में अन्त:करण में भावों के अनुकूल मन में हर्ष-विषादादि का उद्वेलन होने लगता है। 'आहार्य' अनुभाव के अंतर्गत मन में उठने वाली भावना के अनुरुप कृत्रिम वेशभूषा की रचना मानी गई है। 'सात्विक' अनुभाव को आचार्यों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हुए इसके अंतर्गत स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वैवर्ण्य, अश्रु पश्चात्ताप, वेदना, ग्लानि, राग, करुण क्रंदन आदि को माना है।

जैन दर्शन का मूल सिद्धांत 'अहिंसा' है। यह अहिंसा 'जैन दर्शन' रुपी भवन का आधार है। जिस तरह वृक्ष का आधार मूल है इसी प्रकार जैन धर्म का आधार अहिंसा है। विचारों में एकात्मवाद का आदर्श तो अन्यत्र भी मिल जाता है, किन्तु आचार पर जितना बल जैन दर्शन में दिया गया है, उतना

अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। भगवान महावीर स्वामी के 'जियो और जीने दो' के उद्घोष से सम्पूर्ण विश्व गुंजायमान है। 'मूकमाटी' में एक प्रसंग के अंतर्गत कवि 'प्रभो' से निवेदन कुछ इस तरह से कर रहा है-

''पदाभिलाषी बनकर
पर पद-पात न करूँ
उत्पात न करूँ
कभी भी किसी जीवन को
पद-दलित न करूँ, हे प्रभो।''[55]

किसी भी दु:खी प्राणी को देखकर दु:खी होना और उसकी सेवा करना करुणा की भावना के अंतर्गत आता है। करुणा वस्तु का स्वभाव है, सम्यकत्व का चिन्ह् है। 'मूकमाटी' में कवि ने धृति धारिणी धरती के माध्यम से करुणाभाव का वर्णन बहुत ही मार्मिक ढंग से किया है-

''जल को जड़त्व से मुक्त कर
मुक्ताफल बनाना
पतन के गर्त से निकालकर
उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।
यही दया धर्म है।
यही जिया कर्म है।''[56]

मनुष्य की चित्तवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती । कभी तो वह सांसारिक क्षणिक सुख में स्वयं को इतना निमग्न कर देता है कि वह विश्व के सर्वाधिक सुखी मनुष्यों में अपनी गणना करने लगता है और कभी अपने आपको इतना अभागा मान बैठता है कि जैसे वह संसार का सर्वाधिक दु:खी प्राणी वही हो। यह 'मोह' का आकर्षण उसे यथार्थ से रु-ब-रु नहीं होने देता, यही उसकी सबसे बड़ी बिडम्बना है। अत: 'मूकमाटी' के माध्यम से कवि ने श्रम, संयम और तप-साधना की आध्यात्मिक त्रिवेणी बहाकर लोगोां को भोगों से योग की ओर लौटने का महत्वपूर्ण संदेश दिया है-

''संयम की राह चलो,
राही बनना ही तो,
हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही
विलोम रुप से कह रहा है-
रा..........ही..........ही.........रा........
× × × ×
तन और मन को
तप की आग में
तपा-तपा कर
जला-जला कर
राख करना होगा
यातना घोर करना होगा

तभी कहीं चेतन आत्मा
खरा उतरेगा।
खरा शब्द भी स्वयं
विलोम रुप से कह रहा है-
राख बने बिना
खरा-दर्शन कहाँ?
रा.......ख......ख.......रा.........।''[57]

आचार्य श्री समकालीन समय के अराजकतामय वातावरण को देखकर पश्चात्ताप करते हुए से जान पड़ते हैं, उनका मानना है कि लूट, चोरी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार, हत्या, आतंक और हिंसक वारदातों ने मनुष्य का जीना दूभर कर दिया है। न्याय व्यवस्था इतनी लचर और लम्बी है कि व्यक्ति न्याय को भी अन्याय जैसा ही मानता है। आचार्य श्री मूकमाटी में भारतीय न्याय व्यवस्था पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं-

''उदण्डता दूर करने हेतु
दण्ड-संहिता होती है,
माना,
दण्डों में अंतिम दण्ड
प्राण-दण्ड होता है।
प्राण-दण्ड से। औरों
को तो शिक्षा मिलती है,
परन्तु
जिसे दण्ड दिया जा रहा है,
उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त।
दण्ड-संहिता इसको माने या न माने,
क्रूर अपराधी को
क्रूरता से दण्डित करना भी
एक अपराध है,
न्याय-मार्ग से स्खलित होना है।''[58]

कवि का मानना है कि इस सृष्टि में मानव को 'स्वेद' बहाकर श्रम की महत्ता को प्रतिपादित करना है। क्योंकि 'श्रमण संस्कृति' पुरुषार्थ पर ही आधृत है। मानव कर्म रुपी कीचड़ में जब अज्ञानतावश अपने आपको सानता रहता है और 'ज्ञान' का प्रादुर्भाव जब उसके जीवन में संत समागम से होता है तो उसके द्वारा अतीत का स्मरण रोमांचकारी होने लगता है। यह 'रोमांचन' उसका असद्कर्म रुपी भय का ही होता है। प्रवचनों के द्वारा उसे तब साधु संगति में जीवन का वास्तविक ज्ञान होता है तो उसका मुख स्वमेव ही 'वैवर्ण्य' से युक्त हो जाता है। वह मन ही मन रोने लगता है, पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगता है। वह अपने आपसे नफरत करने लगता है। यह पश्चात्ताप ही उसे कर्मों के बंधन से मुक्ति देता है, इसीलिए 'मूकमाटी' का कवि कहता है-

''मेरे दोषों को जलाना ही
मुझे जिलाना है

स्व-पर दोषों को जलाना
परम-धर्म माना है संतो ने।''[59]

मनुष्य का स्वभाव अग्नि से भी अधिक ज्वलनशील है। इसका मूल कारण है क्रोध। क्रोध पर काबू पा लेने पर स्वभाव की ज्वलनशीलता, अशांति अपने आप समाप्त हो जाती है। इसीलिए तो कहा गया है कि 'क्रोध' से मुक्त होना ही 'संत' होने का लक्षण है-

'' हे संत! तुम्हारा मन शांत है।
अब उसमें संसार नहीं है
संस्कार का श्रृंगार नहीं है
उसका अंत हो गया है।''[60]

(घ) संचारी भाव :(व्यभिचारी भाव)

'संचारी भाव' की भरत के नाट्यशास्त्र में व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस शब्द में 'सं' (अथवा 'वि', 'अभि') उपसर्ग है तथा चर धातु है; अत: इसका तात्पर्य हुआ-रस के सम्बन्ध में जो अन्य वस्तुओं की ओर संचरण करे। इसी आधार पर धनंजय ने व्यभिचारी भावों की परिभाषा कुछ इस प्रकार से की है-

''विशेषादभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण:।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्न: कल्लोला इव वारिधौ।''[61]

अर्थात् जो भाव विशेष रुप से स्थायी भाव की पुष्टि के लिए तत्पर या अभिमुख रहते हैं और स्थायी भाव के अंतर्गत आर्विभूत और तिरोहित होते दिखाई देते हैं वे संचारी भाव कहलाते हैं। जिस प्रकार लहरें समुद्र में पैदा होतीं हैं ओर उसी में विलीन हो जातीं हैं वैसे ही रत्यादि स्थायी भावों में निर्वेदादि संचारीभाव उन्मग्न तथा निमग्न होते रहते हैं। इस तरह संचारी भाव मुख्य रुप से स्थायी भाव में ही उठते-गिरते हैं लहरों के उठने और गिरने से समुद्र का समुद्रत्व और भी पुष्ट होता है, ठीक उसी तरह 'संचारी भाव' स्थायी भावों के पोषक होते हैं। स्थायी भाव स्थिर हैं तो संचारी संचरणशील और अस्थिर।

आचार्यों ने संचारी भावों की संख्या निश्चित कर दी है। आचार्य भरत ने जिन 33 संचारियों का उल्लेख किया है वे प्राय: सर्वमान्य से हो गये हैं। ये इस प्रकार हैं-(1)निर्वेद, (2)आवेग, (3)दैन्य, (4)श्रम, (5)मद, (6) जड़ता, (7)औग्रय, (8)मोह, (9)विबोध, (10)स्वप्न, (11) अपस्मार, (12)गर्व, (13)मरण, (14)अलसता, (15)अमर्ष, (16)निद्रा, (17)अवहित्था, (18)औत्सुक्य, (19)उन्माद, (20)शंका, (21)स्मृति, (22)मति, (23)व्याधि, (24)सन्त्रास, (25)लज्जा, (26)हर्ष, (27)असूया, (28)विषाद, (29)घृति, (30)चपलता, (31)ग्लानि, (32)चिन्ता और (33)वितर्क ।

देव (16-17श.ई.) ने हिन्दी आचार्यों की परिपाटी से पृथक होकर नयापन ले आने का प्रयत्न किया है। उन्होंने संचारियों के दो भेद किये हैं-शारीरिक और आंतरिक। 'स्तम्भ' आदि को शारीरिक और निर्वेद आदि को आंतरिक कहते हुए उन्होंने लिखा है-

''ते सारीरऽरु आन्तर द्विविध कहत भरतादि।
स्तम्भादिक सारीर अरु आत्तर निरवेदादि॥''[62]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि संचारियों की जो संख्या 33 मानी गई है, वे एक प्रकार से अपलक्षण मात्र हैं, ये संचारी और भी हो सकते हैं। जिस प्रकार 'स्मृति' है उसी प्रकार 'विस्मृति'

भी रखी जा सकती है।[63] पर मुख्य रुप से उन्होंने भी 33 संचारियों का ही विवेचन किया है। विरोध अवरोध की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल ने संचारियों के चार भेद किये हैं-सुखात्मक, दु:खात्मक, उभयात्मक और उदासीन। सुखात्मक-गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, संतोष, चपलता, मृदुलता, धैर्य। दु:खात्मक-लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिंता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असन्तोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण, व्याधि। उभयात्मक, आवेग-स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न, चित्त की चंचलता/उदासीन-वितर्क, मति, श्रम, निद्रा, विबोध।

यहाँ पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संचारियों के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं वे बहुत कुछ संस्कृत आचार्यों के मतों से भिन्न तथा रस विमर्ष के विचारों से मेल खाते हैं। उनका कहना है-'गिनाये हुए संचारियों की सूची से ही पता चल जाता है कि उनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संचारी के अंतर्गत भाव के पास तक पहुँचने वाले, अर्थात स्वतंत्र विषययुक्त और लक्ष्ययुक्त मनोविकार और मन के क्षणिक वेग ही नहीं, बल्कि शारीरिक और मानसिक अवस्थायें तथा स्मरण, वितर्क आदि अन्त:करण की और वृत्तियाँ भी आ गयीं है।'[64] इस प्रकार उन्होंने संचारी भावों की पाँच कोटियाँ स्थिर की हैं- 1. स्वतंत्र विषययुक्त भाव, 2.मन के वेग, 3.अन्य अन्त:करणवृत्ति, 4.मानसिक अवस्था और 5. शारीरिक अवस्था।

जहाँ तक आचार्य विद्यासागर जी के काव्य में संचारी भावों को देखें तो उनके काव्य में ये ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, धैर्य, क्षमा, दया, अनुकम्पा और वात्सल्य के रुप में सर्वत्र विद्यमान हैं। यहाँ पर हम संक्षेप में इसी दृष्टि से विचार करेंगे।

आचार्य श्री की सर्वाधिक चर्चित कृति है 'मूकमाटी'। यह कृति जैन-दर्शन के धरातल पर समकालीन परिप्रेक्ष्य में काव्य शास्त्र की एक नवीन भाव-भूमि प्रस्तुत करती है, 'माटी' को आधार बनाकर 'मुक्त छंद' में भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से आचार्य श्री का यह अनुपम और स्तुत्य प्रयास है, जिसमें कवि की दृष्टि पतित से पावन बनाने की ओर दिखाई देती है। आचार्य श्री का यह महाकाव्य मानव सभ्यता के संघर्ष और सांस्कृतिक विकास का दर्पण है। यह कृति मानवता को असत्य से सत्य की ओर, हिंसा से अहिंसा की ओर, अशांति से शांति की ओर और बाह्य से अंतर की ओर ले जाने वाली ऐसी अन्यतम रचना है, जो एक साथ अनेक प्रसंगों को लेकर चली है। जिस तरह से बट-बीज से बट का विशाल वृक्ष बनता है ठीक उसी तरह से नर भी नारायण बनता है और यह सच्ची साधना उपासना से ही संभव है। इसी लक्ष्य को लेकर महाकवि ने इस महत् कार्य को काव्य के रुप में संस्कारित किया है, जिसका औदात्यभाव 'मूकमाटी' की निम्न पंक्तियों में हम देख सकते हैं-

''यहाँ .... सबका सदा
जीवन बने मंगलमय
छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें..............
अमंगल भाव,
सबकी जीवन-लता
हरित भरित विहँसित हो
गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे
आमूल महक उठे
...............बस।''[65]

कवि का मानना है कि आज सारी सृष्टि अनेकानेक संकटों के दौर से गुजर रही है। इन संकटों में विश्वास का संकट सबसे ज्यादा खतरनाक है। हमारे समाज में अराजकताओं की जननी एक प्रकार से अविश्वास ही है। आचार्य श्री 'विश्वास भाव' को हृदय में भरने के लिए प्रेरणा देते हुए 'मूकमाटी' में कहते हैं-

''क्षेत्र की नहीं
आचरण की दृष्टि से
× × × ×
शब्दों पर विश्वास लाओ,
हाँ! हाँ!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी
मगर
मार्ग में नहीं मंजिल पर।''[66]

कन्नड़ भाषी कवि शिष्य को गुरु समयसार का ज्ञानामृत हिन्दी में पिलाते हैं। ज्ञान की भूख और ज्ञानदान की इच्छा भाषा भेद को मिटा देती है। ज्ञान और प्रेम की भाषा में शब्दों से अधिक भावों के प्रस्तुतीकरण का महत्व होता है। यद्यपि कवि ज्ञान से अधिक चरित्र को महत्व देता है। ज्ञान की प्राप्ति गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण से होती है। चरित्र का पालन संयम की दृढ़ता से होता है। सच्ची आत्म साधना उपासना से हुआ करती है। उसी में सम्पूर्ण निधियाँ प्राप्त हो जातीं है। हृदय पुलकित हो उठता है। कवि की अनुभूति कितनी सुखद और आनन्दकारी है-

''और मैं ....
आसीन हूँ
स्वाधीन हो
विभाव के अभाव में
तनाव के अभाव में
सहज भाव में
चेतना की छाँव में।''[67]

मनुष्य का स्वभाव अग्नि से भी अधिक ज्वलनशील है। इसका मूल कारण है क्रोध। क्रोध पर काबू पा लेने पर स्वभाव की ज्वलनशीलता /अशांति अपने आप समाप्त हो जाती है। इसीलिए तो कहा गया है कि 'क्रोध' से मुक्त होना ही 'संत' होने का लक्षण है-

''हे संत! तुम्हारा मन शांत है।
अब उसमें संसार नहीं है।
संसार का श्रृंगार नहीं है।
उसका अंत हो गया।''[68]

यह सांसारिक प्राणी कर्मों के क़ीचड़ में लिप्त होकर अपने आपको भव-भव में भटकने के लिए बाध्य करता है। इसीलिए संसार के भ्रमण का कारण संसार को निरन्तर याद करना बताया गया है। जिस दिन इस नश्वर संसार के प्रति मोह क्षीण होने लगे, सब कुछ विस्मृत हो जाने का मन बनने लगे, तभी, से अपने आपको पहचानने की यात्रा आरम्भ होती है। संसार के प्रति आसक्ति कम करने के लिए ही तो समस्त प्रकार की साधनाऐं की जातीं है। कवि की आकांक्षा है कि वह शुभ समय कब आयेगा,

जब सब कुछ भूल सकूँ-

''स्वर्गीय मुक्ति नहीं
पार्थिव शक्ति नहीं
ऐसी एक युक्ति चाहिए
निशदिन रमण करुँ अपने में
द्वैत की नहीं अद्वैत की भक्ति चाहिए।''[69]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मैं यह कह सकती हूँ कि आचार्य विद्यासागर के काव्य में विविध रसों के साथ-साथ विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का स्थान-स्थान पर विपुल वैभव देखने को मिलता है। यह कवि के काव्यात्मक उत्कर्ष का ही परिणाम है। उनका मानना है कि मानव को इस संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए और यह तभी संभव है जब मानव संसार प्रति विमुख होकर उस परम सत्ता की आराधना में मनोयोग से संलग्न हो जाय। यह स्थिति सद्‌गुरु के सान्निध्य को प्राप्त कर लेने के उपरांत ही संभव होती है।

संदर्भ-सूची

1. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्द्धन, पृ. 75.
2. रसगंगाधर, भूमिका, पृ. 13
3. रसमीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 396.
4. काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, 4/28.
5. हिन्दी काव्यशास्त्र में श्रृगांर रस विवेचन, रामलाल वर्मा, पृ. 12.
6. वही, पृ. 13.
7. साहित्य दर्पण, पृ. 3/1.
8. काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, पृ. 4/27-28.
9. भारतीय काव्यशास्त्र का विकास, डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ. 106.
10. हिन्दी काव्यशास्त्र में श्रृंगार रस का विवेचन, रामलाल वर्मा, पृ. 12.
11. चिन्तामणि (भाग-एक) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 141.
12. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ. 113.
13. सुनीतिशतक, (हिन्दी पद्य), पृ. 22.
14. भावनाशतक (हिन्दी पद्य), पृ. 31.
15. समयसार नाटक, पृ. 97.
16. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ. 113.
17. डूबो मत लगाओ डुबकी, आचार्य विद्यासागर, पृ. 80.
18. चेतना के गहराव में, आचार्य विद्यासागर, पृ. 05.
19. मूकमाटी, पृ. 02.
20. वही, पृ. 141.
21. चेतना के गहराव में, पृ. 67.
22. नर्मदा का नरमकंकर, पृ. 85.
23. मूकमाटी, पृ. 49.
24. गुणोदय (हिन्दी पथ), पृ. 73.
25. डूबोमत, लगाओ डुबकी, पृ. 03.
26. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद, श्लोक-214.
27. मूकमाटी, पृ. 133.
28. मूकमाटी, पृ. 133.
29. वही, पृ. 134.
30. वही, पृ. 467.

31. वही, पृ. 130.
32. नर्मदा का नरमकंकर, आचार्य विद्यासागर, पृ.63.
33. मूकमाटी, पृ. 136.
34. भावनाशतक, पृ. 203.
35. मूकमाटी, पृ. 134.
36. गुणोदय (हिन्दी पद्य), पृ. 59.
37. सुनीतिशतक (हिन्दी पद्य), पृ. 21.
38. मूकमाटी, पृ. 138-139.
39. नर्मदा का नरम कंकर, पृ. 81.
40. मूकमाटी, पृ. 159.
41. ज्ञानोदय (हिन्दी पद्य) पृ. 17.
42. डूबोमत, लगाओ डुबकी, पृ.42.
43. जैन गीता, आचार्य विद्यासागर पद्य, 127.
44. मूकमाटी, पृ. 01.
45. वही, पृ. 159.
46. साहित्य दर्पण, आचार्य विश्वनाथ, पृ. 3/29.
47. भावविलास, देव, पृ. 232.
48. मूकमाटी, पृ. 462.
49. क्षणिकायें (मोम बनूँ में), पृ. 44.
50. डूबो मत, लगाओ डुबकी, आचार्य विद्यासागर, पृ. 45, 46.
51. निजानुभवशतक, पृ. 44.
52. दोहा दोहन, आचार्य विद्यासागर, पृ. 21.
53. वही, पृ. 79.
54. साहित्य दर्पण, आचार्य विश्वनाथ, पृ. 3/132.
55. मूकमाटी, पृ. 184.
56. वही, पृ. 193.
57. वही, पृ. 56, 57.
58. वही, पृ. 175.
59. वही, पृ. 277.
60. चेतना के गहराव में, आचार्य विद्यासागर, पृ. 67.
61. दशरूपक, धनंजय, 4/7.
62. भावविलास, देव, (संचारी भाव)

63. रसमीमांसा, रामचन्द्र शुक्ल,पृ. 215, 216.
64. वही, पृ. 205.
65. प्रवचन प्रदीप, आचार्य विद्यासागर, पृ. 478.
66. वही, पृ. 487-488.
67. नर्मदा का नरम कंकर, आचार्य विद्यासागर, पृ. 78.
68. चेतना के गहराव में, आचार्य विद्यासागर, पृ. 102.
69. डूबो मत, लगाओ डुबकी, आचार्य विद्यासागर, पृ. 72.
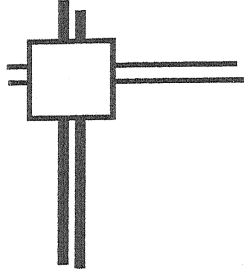
अध्याय-पाँच

आचार्य प्रवर का कलापक्षीय कौशल

- भाषा-सौन्दर्य
- शब्द-सौन्दर्य
- शब्द-शक्तियाँ (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना)

गुण विवेचन एवं रीति निरूपण

- (माधुर्य गुण, ओज गुण, प्रसाद गुण)

रीति निरूपण

- (वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली)

अलंकार विधान

- (शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार)
- मुहावरे, कहावतें, सूक्तियाँ एवं लोकाक्तियाँ
- बिम्ब-विधान
- प्रतीक-विधान
- शब्दार्थ-संधान
- छन्द-विधान
- निष्कर्ष।
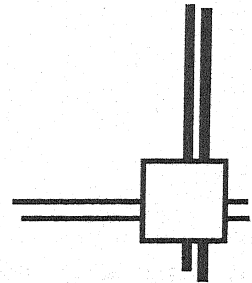
संत कवि आचार्य विद्यासागर की साहित्य साधना

आचार्य प्रवर का कलापक्षीय कौशल

भाषा सौंदर्य :

'भाषा' शब्द समूह का नाम है। भाषा को अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम माना गया है। जिस कवि या रचनाकार में उचित एवं सार्थक शब्दों के प्रयोग की जितनी अधिक क्षमता होगी उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही उत्कृष्ट कोटि की होगी। उसकी रचना में उतनी ही अधिक सरसता का भाव एवं प्रेषणीयता का गुण विद्यमान रहेगा। "भाषा के रथ पर बैठकर ही भाव यात्रा करते हैं, भावों के बिना भाषा विधवा है और भाषा के बिना भाव अमूर्त्त । भाषा एक ऐसा रम्य उद्यान है जिसमें साहित्य रूपी सुमन विकसित होते है ।"[1] ऐसा माना जाता है कि यदि भाव कविता के प्राण हैं तो भाषा उसका शरीर । यों तो संत कवि आचार्य विद्यासागर की काव्य भाषा शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी है, जिसमें भाषा को श्रुति-मधुर, प्रवाहपूर्ण और सरस बनाने के लिए उसमें शब्द-चित्र, वर्ण-विन्यास, मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों का प्रयोग अनेक रूपों में देखने को मिलता है जिसके कारण भाषा भावों के भार को वहन करने की पर्याप्त क्षमता अर्जित करने में सफल हो सकी है।

संत कवि आचार्य प्रवर विद्यासागर जी की भाषा अत्यंत समृद्ध, गरिमामय और प्रवाहपूर्ण है "रमता जोगी बहता पानी" की तरह उनका पद-विहार उनके भाषा-शस्त्र को परिपक्व और गरिमामय बनाता है। यद्यपि संत कवि की मातृभाषा कन्नड़ है। पर इसके बाबजूद हिन्दी भाषा पर उनका असाधारण अधिकार उनके सतत् अध्ययन, मनन और चिंतन की अभिरूचि को दर्शाता है। उनके द्वारा काव्य में जगह-जगह पर किये गये भावों के नव्यतम् प्रयोग उनकी अभिरूचि को दर्शाता है। कवि के भाषायी कौशल को हम कतिपय उदाहरणों के द्वारा भली प्रकार से समझ सकते हैं -

**"आसमान को छूना
आसान नही है। जब छुयेगा
गहन गहराईयाँ
तब कहीं संभव हो
आसमान को छूना"**[2]

भावों के अनुरूप भाषा का प्रयोग आचार्य श्री की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्होंने अपनी

भाषा को श्रम और साधना के सांचे में ढाला है। अपने भावों को सहजता के साथ प्रस्तुत कर देने की कला में आचार्य श्री सिद्धहस्त हैं। उनका कहना हैं ''आत्मतत्व के भावों से शब्दों एवं शब्दों से भाषा का रूप मिलकर ही इसका संपादन हुआ है। इसकी बानगी का स्वरूप कुछ इस प्रकार से है -

''माटी के पदों में जा पानी ने वहां
नव प्राण पाया है
ज्ञानी के पदों में जा अज्ञानी ने जहां
नव ज्ञान पाया है।
अस्थिर को स्थिरता मिली
अचिर को चिरता मिली
नव-नूतन परिवर्तन।''[3]

कवि की भाषा सर्वत्र भावों के अनुकूल है । आपने अध्यात्म रस से सिक्त गहनतम् सिद्धान्तों को भी अत्यंत सरल भाषा में प्रस्तुत कर कौशल दिखाया है । वे शब्दों में अन्तर्निहत अर्थ को शब्द की आत्मा में प्रवेशकर उसके अर्थ को बहार निकालने में सिद्धहस्त हैं- ''कुंभकार'' शब्द की कवि नें जो व्याख्या की है वह पाठक को आल्हादित कर देती है-

''कु'' यानि धारती
और
''म'' यानि भाग्य
यहां पर जो भाग्यवान विधाता हों
कुंभकार कहलाता हैं''[4]

कुछ इसी तरह से कवि ने 'नाटक' शब्द की व्याख्याकर अपनी अन्यतम् प्रतिभा का परिचय दिया है-

''सारा का सारा यह संसार
केवल है एक विशाल नाटक
तूं इसमें भांति-भांति के भेष धार
भाग ले, तूं इसे खेल
कोई चिन्ता नहीं, किन्तु
इस बात का भी ध्यान रख
इसमें तूं
............कभी...........भूलकर भी......... ना अटक।''[5]

आचार्य श्री की शब्द-साधना को देखकर ऐसा लगता है कि उन्हें भाषा तक स्वयं नहीं जाना पड़ा है, अपितु भाषा स्वयं उन तक चलकर आई है। नाद-सौंदर्य युक्त भाषा की यह बानगी देखतें ही बनती है-

"काली घने जलद के दल डोलते हैं
जो व्योम में गड़गड़ाहट बोलते हैं।
तीव्रातितीव्र चलती अतिशीत वाय
तो झांय-झांय करते तरू सांय-सांय।"[6]

लेकिन कवि जब धार्मिक उन्माद में मदमस्त लोगों की बात करता है तो उनकी भाषा व्यंग्यात्मक लहजे को अख्तियार कर लेती है -

"कहां तक कहें
धर्म का झण्डा भी
डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है।
अवसर पाकर
प्रभू स्तुति में तत्पर
सुरीली बांसुरी भी
बांस बन पीट सकती है।
प्रभू पथ में चलने वालों को
समय की बलिहारी है।"[7]

संत कवि आचार्य विद्यासागर की भाषा में आस्था और विश्वास का भाव सर्वत्र देखने को मिलता है । उनकी भाषा में जीवंत मानव का स्वर पुरूषार्थ को प्रकट करने में समर्थ है -

"रवि से बढ़कर तेज है शशि से बढ़कर ज्योति।
झांक देख निज में जरा सुख का खुलता श्रोत॥"[8]
तथा
जिस विधि तिल में तेल है, अग्नि काष्ठ में जान
शंकर तब में है रहा, जरा सोच कल्याण॥"[9]

संत कवि ने कतिपय कटूक्तियों का भी प्रयोग किया है। इनमें कवि व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध कराता हुआ, जीवन अशांति के अनवरत् सिलसिले को रेखांकित कर बादलों के प्रतीक

द्वारा अपने जीवन की शक्ति के आकलन की ओर संकेत करता है-

1. तुम माटी के उगाल हो।''[10]
2. पाप की पुतली कहीं की।''[11]
3. अशांति के अंतहीन सिलसिला।''[12]
4. अरे पथभ्रष्ट बादलो
   अपने बल का सदुपयोग किया करो।।''[13]

शब्द-सौंदर्य :

शास्त्रीय मत के अनुसार 'रस' को काव्य की आत्मा माना गया है। शब्दार्थ उसके शरीर को ग्रहण करते हैं। 'शब्द' और 'अर्थ' की पृथक से कल्पना करना व्यर्थ और आकाश कुसुम के समान है यदि 'शब्द' शरीर है, तो 'अर्थ' उसमें जीवन संचार करने वाली आत्मा/ 'शब्द' के बिना 'अर्थ' की अभिव्यक्ति कदापि संभव नही है तथा 'अर्थ' के अभाव में 'शब्द' निष्प्रयोजन और निष्प्रभावी बन जाते हैं।

आचार्य विद्यासागर जी ने भावानुकूल भाषा का निर्माणकर वातावरण और परिस्थिति के अनुकूल शब्द के चयन में अत्यंत कुशलता का परिचय दिया है। उनका शब्द-भण्डार अत्यंत विपुल है। ऐसा लगता है जैसे कि शब्द उनके संकेतों पर नृत्य कर रहे हों। वे प्रत्येक शब्द के अर्थ और महत्व को भली भांति जानते और पहचानते हैं। उन्होंने शब्दों की आत्मा में वैठकर उनकी महिमा और गरिमा को आत्मसात् किया है। तभी तो 'मूकमाटी' जैसे महाकाव्य का सृजन संभव हो सका है। तत्सम्बन्ध में प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन का कहना है कि-'' **कवि के लिए अतिशय आकर्षण है शब्द का, जिसका प्रचलित अर्थ में प्रयोग करके वह उसकी संगठना को व्याकरण की सान पर चढ़ाकर नयी नयी धार देते हैं। नयी नयी परतें उघाड़तें हैं। शब्द की व्युत्पत्ति उसके अंतरंग अर्थ की झांकी तो देती ही है, हमें उसके माध्यम से अर्थ के अनूठे और अछूते आयामों का दर्शन होता है।''**[14]

शब्दों के नवीन सौंदर्य हेतु अर्थ की दृष्टि से कवि ने विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया है जो इस प्रकार है-

शब्दों का व्युत्पत्तिपरक प्रयोग :

कवि ने इस पद्धति के माधयम से शब्द के एक-एक वर्ण का विश्लेषण करके उसका नया अर्थ उद्घाटित किया है। जैसे-

'स्वप्न' शब्द की व्युत्पत्ति-

'स्व' यानी अपना
'प' यानी पालन-संरक्षण

और

'न' यानी नहीं

जो निज-भाव का रक्षण नहीं कर सकता

वह औरों का क्या सहयोग करेगा?''[15]

'कुम्भकार' शब्द की व्युत्पत्ति-

'कु' यानी धारती

और

'भ' यानी भाग्य

यहँ पर जो

भाग्यवान भाग्य-विधाता हो

'कुम्भकार' कहलाता है।''[16]

'गदहा' शब्द की व्युत्पत्ति-

मेरा नाम सार्थक हो प्रभो

यानी

'गद' का अर्थ है रोग

'हा' का अर्थ हैं हारक

गदा-हा......गद - हा ।''[17]

'रस्सी' और 'रसना' के सम्बन्ध में कथन कुछ इस तरह से है-

''ओरी रस्सी !

मेरी और तेरी

नाम राशि एक ही है

परन्तु/आज तू

रस-सी नहीं,

निरी नीरस लग रही है ।''[18]

इसी प्रकार से आचार्य श्री अन्य शब्दों जैसे रावण, साहित्य आदि का 'व्युत्पत्तिपरक' अर्थ देकर अपनी 'अर्थचारू' कला का परिचय दिया है।

'शब्द' का लक्ष्यार्थक प्रयोग -

कवि ने शब्दों के द्वारा किसी सार्थक लक्ष्य को दर्शाने के लिय काफी सार्थक प्रयास किया है । जो उनकी कलात्मक अभिरूचि को दर्शाता है-

आचार्य श्री इस सत्य को रेखांकित करते हुये कहते हैं कि- 'माटी' से 'कंकरों' का एकमेव मिलन होना ही सार्थक है । अर्थात् 'आत्मा' का 'परमात्मा' में एकाकार हो जाना/'द्वैत' का अभाव ही

मोक्षमार्गी का सच्चा संकल्प होना चाहिये-

'अरे कंकरो!
माटी से मिलन तो हुआ
पर
माटी में मिले नहीं तुम !
माटी में छुवन तो हुआ
पर
माटी में घुले नहीं तुम ।''[19]

कवि का मानना है कि दुःख हमारे जीवन को मांजता है । दुःख ही सुख के मूल्य को बढ़ाते हैं । ठीक इसी तरह से 'शूल' और 'फूल' दोनों का ही महत्व है । शूल के कारण ही 'फूल' का महत्व है । एक कठोर है दूसरा कोमल । यह विपरीतार्थक बोध ही जीवन में सरसता का संचार करता है । कवि कहता है-

''कभी-कभी शूल भी
अधिक कोमल होते हैं
..................फूल से भी
और
कभी-कभी फूल भी
अधिक कठोर होते हैं
...................शूल से भी ।''[20]

'शब्द का विलोमार्थक प्रयोग :

भाषा-विज्ञान में ध्वनि विचार के अंतर्गत विलोम रूप का विवेचन मिलता है । इसमें शब्दों को आगे-पीछे करके अर्थाभिव्यक्ति पर विशेष ध्यान दिया जाता है । आचार्य श्री ने अपने काव्य में अनेक स्थानों पर इन विलोमार्थक शब्दों का सार्थक प्रयोग किया है-

याद = दया

''स्व'' की याद ही
स्व-दया है
विलोम रूप से भी
यही अर्थ निकलता है
या........द......द........या ।''[21]

राही = हीरा

''संयम की राह चलो
राही बनना ही तो
हीरा बनना है
स्वयं राही शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है-
रा..........ही.............ही............रा ।''[22]

लाभ = भला

''सुख या दुःख के लाभ में भी
भला छुपा हुआ रहता है
देखने से दिखता है समता की आंखों से,
लाभ शब्द ही स्वयं
विलोम रूप से कह रहा है-
ला.......भ.........भ...........ला ।''[23]

कहीं-कहीं पर आचार्य श्री ने कुछ स्थलों पर शब्द की पुनरूक्ति द्वारा अर्थ-भंगिमा का विधान हुआ है। निम्न उद्धरण के द्वारा 'पानी' शब्द का प्रयोग काफी सार्थक जान पड़ता है -

''हे भावी, प्राणी ।
पानी को तो देख,
और अब तो
पानी-पानी हो जा....।''[24]

निम्न उदाहरण में भंगपद द्वारा 'परखों' तथा 'अपनालो' में भी यही भाव परिलक्षित होता है-

''किसी विध मन में
मत पाप रखो
पर, खो उसे पल-भर
परखो पाप को भी
फिर जो भी निर्णीत हो,
अपना लो, अपना लो उसे ।''[25]

कहीं-कहीं पर संत कवि ने शब्दों की स्वानुभूत परिभाषाऐं भी दी हैं जैसे-

''संगीत उसे मानता हूँ
जो संगातीत होता है

और प्रीत उसे मानता हूं
जो अंगातीत होती है ।''[26]

शब्द युग्म :

संत कवि की भाषा में शब्द-युग्म पर्याप्त मात्र में देखने को मिलते हैं। जिसके कारण उनकी कविता अत्यधिक आकर्षित और हृदयग्राही बन सकी है । खास बात यह है कि इस प्रकार की शब्द योजना में कवि ने स्वरों की एकता तथा ध्वनि साम्य पर विशेष बल दिया है । इस प्रकार के शब्द-युग्मों में हम जिन्हें ज्यादातर उनके काव्य में देखते हैं वे इस प्रकार हैं-

''उजली-उजली जल की धारा, उछल-उछल, सरस-सलिल, गिरि-गहवरों में, वन-कन्दरों में, कुटिल-कुटिलतम, झिल-मिल, झिल-मिल, ठहर-ठहर कर, गहर-गहर कर, लहर-लहर चुन, महर-महर कर ले, सिमट-सिमट कर, असन-वसन की, परम-हसन की, बोल-बोल लेते, मलता-मलता, मरता-मरता, बिलखते-बिलखते, अस्त्रें-शस्त्रें-वस्त्रें, भांति-भांति के भावों से दल-दल आ गया है ।''[27]
इन शब्द-युग्मों के कारण कवि के काव्य में सरसता का संचार हुआ है ।

शब्द भण्डार :

आचार्य श्री ने अपने काव्य-सृजन के अंतर्गत नाना प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। पर इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने सायास नहीं किया वरन् वे स्वाभाविक रूप से उनके काव्य में आ गये हैं । संत कवि के काव्य में प्रयुक्त शब्दावली को हम इस रूप में देख सकते हैं-

(अ) तत्सम शब्द - चन्द्र, रात्रि, मार्दव, लज्जा, अस्मिता, दीप, एकांत, विद्युत, विश्राम, रंजित, स्मृति, लीन, युग्म, लावण्य, प्रसाद, पूर्णिमा, व्योम, वनस्थली, रक्तिम, दिव्य, चेतना, देवता, प्रकृति, आस्था, भविष्य, शिशिर, ध्रुव, वंशी, म्लान, रत्न, कलश, मंत्र-मुग्ध, श्लथ, वलय, जिजीविषा, दिगंत, सृजन, सृष्टि, उत्फुल्ल, अलिदल, पीत, मिथ्या, संघर्ष, पाषाण, पलाश आदि तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनके कारण भाषा के सौंदर्य का विकास हुआ है ।

(ब) तद्भव शब्द - धरती, राख, सेज, सूरज, पंछी, रात, हाथ, सूनी, सांझ, दिया, वत्ती, घास, दूब, काठ, पतझर, गुफा, फन, पूंछ, फूल, आंख, बीज, झरना, पूरब, गरम, क्वांरी, बांहें, आंगन, चांद, रस्सी, काजल, कांटा, माटी, बीज आदि शब्दों के द्वारा भी भाषा का सौंदर्य विकसित करने में कवि पूर्णतया सफल रहा है ।

(स) ग्राम्य शब्द :- मठा महेरी, गाल, गैल, लात, छाती, लौंदा, बूरा, चिलचिलाती, इमली, कड़ी, छोर, रनवास, चलनी, चक्की, बावली, परात, मोल, कड़ा, मथानी, दलिया, झारी, कढ़ाव, गिट्टी, भगोनी, लोटा, हांड़ी, टोप, धकधकाहट, खदबद, ढलान, पल्ला, सरपट, फुर्र, छाती, विसार, छोंक आदि के कारण भाषा को प्रभावी बनाया गया है ।

(द) उर्दू, अरबी फारसी तथा अंग्रेजी के शब्द - तस्वीर, इंसान, मरहम, मशाल, जिन्दगी, यकीन, तूफान, माहौल, कागज, बेहोश, शतरंज, फसल, मंजिल, चेहरा, दुआ, कौम, गरीब, महल, आगोश,

आमद, कूबत, ताजा, हवश, गम, गुनाह, सुबह, मुलायम, तश्तरी, नियम, नीयत, शैतान, खून, बेशक, जवाब, शुरूआत, असरदार, जीत, आवाज, स्टारबार, एक्सरे, कैमरा, स्टील, टेन्सन, स्कूल, डायरेक्ट, डिस्कनेक्ट, आर्टीफिशियन, टेलीविजन, गवर्नमेन्ट, वायरलैस आदि शब्दों से भाषायी एकता को निरूपित किया गया है ।

(इ) **प्राकृत भाषाः-** पढमं, सुपत्तं, वयणं, णिच्चम्, णमोणाणं, गुरूणं के अलावा हृण्णाद एलेय, वेलयेनु, वलेय, नेलेय, तलेय, चिंतने, वन्दरिद, कडेविडवेकु जैसे कन्नड़ के शब्दों तथा अथैई, ताहाद्‌ताई, सुजनेर, जन्मते आदि बंगला भाषा के शब्दों का प्रयोग कर अनेक भाषाओं का ज्ञाता होने का प्रमाण हमें देखने को मिलता है ।

शब्द-शक्तियाँ :

मनुष्य की वाणी अक्षर, शब्द और वाक्यों के सामंजस्य से अभिव्यक्त होती है। इनमें अक्षर मूल ध्वनि का नाम है, अतः शब्द-रचना की दृष्टि से अक्षरों का बड़ा महत्व है । वाक्यों का निर्माण सार्थक शब्दों से होता है । इसलिए पूर्णाशय की दृष्टि से तो वाक्यों का महत्व है, परन्तु भाषा का आधार शब्द होने से वाक्यों की अपेक्षा शब्दों की महत्ता अधिाक है । शब्द भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट करते हैं । अतः आचार्यों ने मानवीय भाषा पर गंभीर विचार करने के पश्चात् इन शब्दों को तीन वर्गों में विभक्त किया है । तत्सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का कथन है-

स्यद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोत्र व्येजकस्त्रिधाा ।''[28]

अर्थात् शब्द तीन प्रकार के होते हैं- वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक ये तीनों प्रकार के शब्द क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को प्रकट करते हैं । वाच्यार्थ वह है जो वाचक शब्द के अर्थ को प्रकट करता है। इसी रूप में लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को भी समझना चाहिये ।

इन तीनों शब्दों में अपना-अपना अर्थ स्पष्ट करने के लिए भिन्न-भिन्न शक्तियां हैं । क्योंकि ये सभी शब्द एक ही शक्ति से अपना आशय स्पष्ट नहीं कर सकते। जिस प्रकार एक मनुष्य अध्यापन, कर्षण, पाचन आदि क्रियाऐं एक ही शक्ति से संपादित नहीं कर सकता, उसे इसक भिन्न-भिन्न कलाओं की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार शब्द में विविध अर्थ को सूचित करने के लिये विभिन्न शक्तियों की आवश्यकता होती है । इसी के आधाार पर वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक शब्द जिन शक्तियों से क्रमशः वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ को व्यक्त करते हैं वे क्रमशः अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना कहलाती है । इनका संक्षेप में विवरण इस प्रकार से है-

आचार्य मम्मट 'अमिधा' शब्द-शक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं-

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।''[29]

तात्पर्य यह है कि मुख्यार्थ का बोध कराने वाले व्यापार को 'अमिधा' कहते हैं ।

आचार्य विश्वनार्थ ने भी लिखा है-

तत्र संकेतितार्थस्य बोधानादग्रिमाभिधा।''[30]

यहां पर संकेत से आशय चिन्ह है । कुछ विशेष संकेत या चिन्हों से पदार्थ का ज्ञान होता है, अतः उस पद के अर्थ को संकेतार्थ कहते हैं । और संकेत की प्रमुखता होने से उस अर्थ को मुख्यार्थ कहते हैं । जैसे यह गाय है, यह अश्व है, यह भैंस हैं आदि पशु व्यवहार से ही पहचाने जाते हैं । तथा 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चरिचाणि मोक्षमार्गः' इस वाक्य से ही विदित होता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र समष्टि रूप में मोक्ष का मार्ग है ।

इस प्रकार अभिधा अनेक उपायों, अनेक विषयों में संकेत ग्रहण कराकर वाच्यार्थ को प्रकट करती है । अब यहाँ पर हम आचार्य विद्यासागर के काव्य में अभिधाा क मनोरम दृश्यों की छटा को रेखांकित करने का प्रयास करेंगे ।

अभिधा-सौंदर्य :

आचार्यों के अनुसार अभिधा का सौंदर्य व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त-वाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति तथा सन्निधि के द्वारा ज्ञात हो सकता है । यहां पर हम इसी दृष्टि से अभिधा के सौंदर्य को रखांकित करेंगे।

व्याकरण से- इसके अनुसार, अनुचरा, संस्कार, उद्‌बोधक, निराधार शब्दों में क्रमश अनु, सम, उत् एवं निर् उपसर्ग सम्बद्ध है । जिनसे चरा, कार, बोधक, और आधार शब्दों में विशेषता आई है, क्योंकि उपसर्ग शब्द के अर्थ में विशेषता ला देते हैं । उपसर्ग से धातु का अर्थ बलात् अन्य प्रतीत होता है । यथा 'प्र' उपसर्ग लग जाने से 'हार' से निर्मित शब्द प्रहारादि के अर्थों में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है । ऐसे सहस्त्रें विशुद्ध तत्सम् शब्द संत कवि के काव्य में प्रयुक्त हुए हैं, जो वाच्यार्थ को व्यक्त करते हैं ।

इसी तरह हृदयवती, भावना, भूपर, कोमलतम आदि पदों में वती, ना, पर, तम, प्रत्यय लगाकर व्याकरण से ही नूतन शब्दों की रचना हुई है, जो क्रमशः विशेषण भाववाचक संज्ञा, अधिकरण-कारक तथा विशेषण की उत्तमावस्था में प्रयुक्त हुए हैं । व्याकरण से ही व्याख्यात सैकड़ों सन्धियुक्त एवं समस्त शब्दों का प्रयोग भी इसमें उपलब्ध है। यथा-समयोचित, वातानुकूलता, तनूदरा, श्रृंगार, स्याद्वाद, कूपमण्डूक, कलियुग, चेतनरूप, पीयूषभरी, कुंदित-मंगित एवं तरु लिपटी आदि ।

उपमान से- यहां पर कवि उपमा के द्वारा अपनी बात अमिधा के माध्यम से इस प्रकार कहता है-

''खसखस के दाने सा/बहुत छोटा होता है/बड़ का बीज वह ।''[31]

यहा बड़ की बीज की खसखस के दाने से उपमा दी गई है ।

एक अन्य स्थान पर संत कवि लिखते हैं-

''झिल-मिल झिल-मिल/मुक्ता-मोती-सी लगती है ।
आपके मुख से निकलती/शब्द-पंक्तियाँ ये ।''[32]
यहां शब्द पंक्तियों की उपमा मुक्ता-मोती से दी गई है ।

इसी तरह **''बाल-भानु की भांति/विशाल-माल की स्वर्णामा को ।''[33]**
तथा **दीर्ध-गीध सी / इन धन-गृद्धि के लिए, धिक्कार हो ।''[34]**
इत्यादि पंक्तियों में उपमान के द्वारा ही वाच्यार्थ को अभिव्यक्त किया गया है ।

कोष से- कहीं-कहीं पर कवि ने कोष की सहायता से भी वाच्यार्थ प्रकट किया है, जैसे- शुक्तिका, संश्लेषण, रजत, गवेषणा, कवल, विलोम, अनल, अनिल, आस्था, अधयात्म, अंकित, श्वान एवं सुधांशु आदि शब्द अपने वाच्यार्थ को कोष की सहायता से प्रकट करते हैं ।

आप्त-वाक्य से- कवि आप्त-वाक्यो के द्वारा भी वाच्यार्थ की पुष्टि संदर्भगत स्थितियों में की गई है । जैसे- धम्मं सरणं गच्छामि' 'खम्मामि खमंतु मे' तथा 'उत्पादव्यय- धौव्ययुक्तं सत्'- इन आप्तवाक्यों से भी प्रसंगवश वाच्यार्थों को स्पष्ट किया गया है ।

व्यवहार से-वाच्यार्थ का बोध व्यवहार की भाषा से भी होता है । क्योंकि व्यवहार की भाषा का अपना अलग ही प्रभाव होता है । जैसे- माटी, धरती, सरिता, सागर, बादल, भानु, चन्द्र, जीव, चेतनता, साधु, सेठ, वन-उपवन, दिन-रात, पवन, अवा एवं उपाश्रम आदि शब्दों का वाच्यार्थ प्रतिदिन व्यवहार में आने से होता है ।

वाक्य शेष से- कतिपय स्थितियों में वाक्य-शेष से भी वाच्यार्थ की स्थिति स्पष्ट होती है जैसे-

''माटी के माथे पर/मार पड़ रही है।''[35]

इस वाक्य में 'माटी के माथे पर पड़ने से' माटी का खोदना' ही व्यक्त होता है । इसी तरह-

''पित्त क्षुभित हुआ उसका/पित्त कुपित हुआ ।
भृकुटियां टेड़ी तन गईं/आंख की पुतलियां/लाल-लाल तेजाबी बन गईं ।''[36]

इन पंक्तियों में पित्त के क्षुभित और कुपित होने से अग्रिम वाच्यार्थ का सहज ही पूर्वाभास हो जाता है जिससे कि रौद्र रस की भृकुटियां टेड़ी और आंखे लाल होंगी ।

विवृत्ति से- के द्वारा भी वाच्यार्थ को स्पष्ट किया जाता है जैसे- **''मेरे स्वामी संयमी है।''** इस वाक्य की यदि व्याख्या की जाय तो स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है कि वे हिंसा से भयभीत तथा

अहिंसा के उपासक हैं, जैसा कि संत कवि ने स्वयं आगे कहा है-

''हिंसा से भयभीत/और/अहिंसा ही जीवन है उनका/''इसी तरह हंस राजहंस सदृश' कहने मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति नीर -क्षीर विवेकशील है तथा-

''अर्थ और परमार्थ की सूक्ष्मता ।
कुछ और उजाले में लाई जाती है ।''[37]

इन पंक्तियों में भी अर्थ और परमार्थ के भेद को बताया गया है ।

सन्निधि से- किसी पदार्थ के सान्निध्य से भी अन्य पदार्थ का बोध हो जाता है । संत कवि का कथन है कि जब कांटे को बोध दिया गया तो उसका हृदय हिल गया और वह पश्चात्ताप की अग्नि में जलता हुआ बोला-

''प्रतिकूल पद बढ़ गये/बहुत दूर.......पीछे............./अनुकूल पथ रह गया
गन्धा को गन्दा कह/चन्द को अन्धा कह
पीयूष विष लगा इसे/भूलक्षम्य हो स्वामिन् ।''[38]

यह प्रसंग कटंक को बोध प्रदान करता है जिसके कारण उसे पश्चाताप होने लगता है । कांटा पछतावे के साथ क्षमा कुछ इस तरह से मांगता है-

''प्रकृति नहीं, पाप-पुंज पुरूष है ।
प्रकृति की संस्कृति-परम्परा/पर से पराभूत नहीं हुई
अपितु/अपनेपन में तत्परा है ।''[39]

यहां पर प्रकृति से तात्पर्य स्वभाव नहीं, वरन् पुरूष के सान्निध्य से प्रकृति ही है, जो पुरूष के स्वभाव से भिन्न-भिन्न रूप में सदा लीन रहती है ।

संत कवि ने अपने काव्य के माधयम से अनेक स्थानों पर वाच्यार्थ द्वारा सहज ही अध्यात्म संबंधी गंभीर भावों को अभिव्यक्त किया है जिनके माधयम से व्याधि, आधि, उपाधि और उपाधि एवं विरूद्ध पदार्थों का भेद स्वमेव ही स्पष्ट होता हुआ दिखाई देता है-

''व्याधि से इतनी भीति नहीं इसे/जितनी आधि से है
और/आधि से इतनी भीति नहीं इसे/जितनी उपाधि से ।
इसे उपाधि की आवश्यकता है/उपाधि की नहीं, मां !
इसे समधी-समाधि मिले, बस !/अवधि-प्रमादी नहीं ।
उपाधियानी/उपकरण-उपकारक है ना !
उपाधियानी/परिग्रह-अपकारक है ना !''[40]

इसी प्रकार संत कवि, गगन, मदन,सुजन,सुरा, विधावा, सधवा आदि के वाच्यार्थ को स्पष्ट करने के लिये प्रतिकूल स्थितियों का रेखांकन कुछ इस तरह से करता है-

गगन का प्यार कभी/धरा से हो नहीं सकता ।
मदन का प्यार कभी/जरा से हो नहीं सकता ॥
यह भी एक नियोग है कि/सुजन का प्यार कभी/सुरा से हो नहीं सकता ।
× × × × × ×
विधवा को अंग-राग/सुहाता नहीं कभी
सधवा को संग-त्याग/सुहाता नहीं कभी
संसार से विपरीत रीत/विरलो की ही होती है
भगवाँ को रंग-दाग/सुहाता नहीं कभी ।''[41]

इन काव्यांशों के माध्यम से कवि के वाच्यार्थ भाव का मार्दव एवं सौष्ठव भाव दिखाई देता है ।

लक्षणा सौंदर्य :

लक्षणा शब्द लक्ष्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं । वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है और इसकी अपेक्षा व्यंग्यार्थ और भी अधिाक चमत्कार जनक होता है । आचार्य मम्मट ने लक्षणा का लक्षण बताते हुये कहा है-

''मुख्यार्थबाधो तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽथो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ।''[42]

अर्थात जब वाचक शब्द अपने मुख्यार्थ (संकेतितार्थ) की अवविक्षा या अनुपपत्ति में स्वीय अर्थ से सम्बन्ध किसी अन्य अर्थ का रूढ़िवश या किसी प्रयोजन से प्रकटीकरण करता है । तब वह 'लाक्षणिक' शब्द कहलाता है और इस शब्द की आरोपित क्रिया या वृत्ति को 'लक्षणा' कहते हैं । 'लक्षणा' के अनेक भेद भी बताए गए हैं । जहाँ लक्षणा में शब्द अन्य अर्थ के साथ मुख्यार्थ को भी प्रकट करता है, वहां वह 'उपादान' और जहाँ 'स्व-अर्थ' को त्यागकर अन्यार्थ व्यक्त करता है । वहां 'लक्षणलक्षणा' कहलाती है तथा प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप होने से वह 'सरोपा' और केवल अप्रस्तुत या उपमान का ही उल्लेख हो तो 'साध्यवसना' कही जाती है। यदि आरोप रूढि से हो तो, 'रूढिलक्षण' और यदि प्रयोजन से हो तो 'प्रयोजनवती लक्षणा कहलाता है । यदि सादृश्य सम्बन्ध से आरोप हो तो 'गौणी' और यदि अन्य सम्बन्ध से हो तो 'शुद्धालक्षण' कहलाती है । इस प्रकार लक्षणा रूढ़ि, सारोपा, गौणी, उपादान तथा प्रयोजनवती आदि भेदों की मानी गई है । कतिपय उद्धरण आचार्य विद्यासागर के काव्य में लक्षणा के देखे जा सकते हैं जो इस प्रकार है-

भानु की निद्रा टूट तो गई है । परन्तु अभी वह लेटा है/माँ की मार्दव-गोद में ।''[43]

यहाँ पर प्राची दिशा में मां का तथा 'स्थित' है के स्थान पर लेटा है' का प्रयोग होने से एवं 'प्राची' का उल्लेख न होने के कारण 'प्रयोजनवती सरोपा गौणी लक्षण-लक्षणा' है ।

'तुम्हारा अग्रिम जीवन/स्वर्णिम बन दमकेगा ।'[44] इसमें 'स्वर्णिम से तात्पर्य 'उज्जवल' है, जो इस अर्थ में रूढ़ भी है । तथा दोनों में सादृश्य भी है एवं केवल अप्रस्तुत का अंकन है । अत: यहां पर 'रूढ़ि साध्यवसना गौणी लक्षण-लक्षणा' है ।

'सरिता तट में/फेन का बहाना है । दधिा छलकता है ।'[45]

यहाँ पर 'फेन' में 'दधि' का आरोप है, मंगलसूचन प्रयोजन है, 'फेन' और 'दधि' में सादृश्य भी है और उपमेय और उपमान दोनों विद्यमान हैं, अत: 'प्रयोजनवती सारोपा गौणी उपादान लक्षणा' है ।

'पथिक की प्रतीक्षा में/जो निराशता का पान कर ।
सोती हुई समय काट रही थी, युगों........युगों से ।'[46]

यहाँ पर 'माटी' में पथिक का आरोप है, क्योंकि उसे उन्नति की ओर यात्रा करनी है । अत: यहां सादृश्य भी है, किन्तु माटी उपमेय का प्रयोग नहीं है, अत: प्रयोजनवती साध्वसना गौणी उपादान लक्षणा' है ।

''माटी के माथे पर/मार पड़ रही है'[47] इसमें मार पड़ना कूटने के अर्थ में है और माथे पर' शब्द 'ऊपर' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । 'कूटने' के अर्थ में मार पड़ना' रूढ़ भी है तथा इनमें साक्य भी है, अत: रूढ़ि सारोपा गौणी उपादान लक्षण' है ।

'माटी की पतली सत्ता/अनुक्षण अनुकम्पा से
सभीत हो हिल रही है ।'[48]

यहां पर माटी रूप मुमुक्षु की संवेदनशील चेतना में 'पतली सत्ता' का आरोप है, उसके कम्पन में भय हेतु है तथा केवल विषयी का उल्लेख है । लेकिन उसने अपना अर्थ त्याग दिया है, अत: 'प्रयोजनवती साधय वसाना गौणी लक्षण-लक्षणा है ।

'करूणा की कर्णिका से/अविरल झरती है । क्षमता की सौरभ-सुगंधा ।'[49] यहां पर 'करूणा' के अन्दर कर्णिका का आरोप है तथा समता को 'सुगन्धा' बनाया गया है, तथा प्रयोजन है उसकी कीर्त्ति का विस्तार । यहां पर गुण-गुणी सम्बन्ध है तथा विषय और विषयी दोनों विद्यमान हैं अत: प्रयोजनवती सारोपा शुद्ध उपादान लक्षण है ।

'मान का अत्यन्त बौना होना/मान का अवसान-सा लगता है । 50 यहां पर 'छोटा' के स्थान पर 'बौना' शब्द प्रयुक्त हुआ है । बौना छोटे के अर्थ में रूढ़ तो है, सादृश्य भी है, परन्तु मान के सम्बन्ध ा में इसने अपना अर्थ त्याग दिया है, अतः 'रूढ़ि सारोपा गौणी लक्षण लक्षणा' है ।

'माटी मां! एक मंत्र दो इसे/जिससे कि यह/हीरा बने।''[51]

इसमें 'हीरा' शब्द का प्रयोग 'कंकर' के लिये 'खरा' अर्थ में हुआ है, जो लक्ष्यार्थ है, यद्यपि उपमेय का उल्लेख नहीं है । किन्तु हीरा 'खरा' के अर्थ में रूढ़ भी है, साथ ही इसने अपना अर्थ त्यागा भी नहीं है । अतः रूढ़ि साधयवसाना शुद्ध उपादान लक्षण है ।

'उस हंस रूप से/मिला लो इसे कोई''[52]

इसमें मछली को उस हंस परमात्म स्वरूप से मिलाने का प्रयोजन है और 'परमात्म रूप' के लिये ही हंस का प्रयोग हुआ है, 'हंस' ने अपना अर्थ भी नहीं त्यागा है तथा स्वामी सेवक संबध है, अतः प्रयोजनवती सारोपा शुद्ध उपादान लक्षणा है ।

गुणों के साथ/अत्यन्त आवश्यक है । दोषों का बोध होना भी, ...
गुणों का विनशन है । कांटों से द्वेष रखकर ।''[53]

इन काव्य पक्तियों में यह बतलाया गया है कि गुणों के साथ दोषों का बोध होना भी आवश्यक है । कांटों से द्वेष रखना गुणों का विनाश करना है । यहां दोषों के लिए 'कांटो' शब्द का व्यवहार हुआ है । यहां पर प्रयोजन है दोषों का 'ज्ञान' और उनकी उपयोगिता । चूंकि दोषों और कांटों में गुण सम्बन्ध है । तथा कांटों ने अपने अर्थ को त्याग दिया है, अतः प्रयोजनवती सारोपा शुद्ध लक्षण-लक्षणा' है ।

'दया की शरण मिली/जिया में किरण खिली''[54]

यहां पर किरण 'शब्द' चेतना की प्रकाश रश्मि के लिये प्रयुक्त हुआ है । प्रयोजन है उद्बोध न का दर्शाना। यहां पर सादृश्य सम्बन्ध होते हुए भी केवल अपमान का उल्लेख है किन्तु उसने अपना अर्थ नहीं त्यागा है अतः 'प्रयोजनवती साध्यवसाना गौणी उपादान लक्षणा है ।

'फिर भी अभ्यासी-सम/नर्तन करते सबके दाँत है ।''[55]

यहां पर दाँतों के लिये 'नर्तन' शब्द 'कटकटाने' के अर्थ में आया है, इसलिए कि 'नर्तन' तो प्राणी करते हैं, पर यहां पर सादृश्य सम्बन्ध है । चूंकि नर्तन ने अपना अर्थ त्याग दिया है, अतः 'प्रयोजनवती सारोपा' गौणी लक्षण लक्षणा' है ।

'श्वास का सूरज वह/अस्ताचल की ओर सरकता-सा''[56] इन पंक्तियों में 'श्वास' में 'सूरज' तथा अन्त में अस्ताचल का आरोप है, अतः प्रयोजनवती साध्यवसाना गौणी उपादान लक्षणा' है ।

'रसना ही/रसातल की राह रही है''[57]यहां पर इसका आशय यह है कि जीभ ही रसातल गिरावट, अद्यःपतन, विनाश आदि का कारण बनती है । इस तरह 'रसातल' शब्द अनेक भावों को व्यक्त करता है, किन्तु इस संदर्भ में वह अपना 'पाताल' अर्थ त्याग देता है । प्रयोजन 'गिरावट' को बतलाता है । अतः केवल उपमेय का ही रेखांकन हो सका है, अतः 'प्रयोजनवती साध्यवसाना गौणी लक्षणलक्षणा' है ।

'जब आंखें आती है.......तो/दुःख देती हैं ।
जब आंखें जाती हैं ....तो/दुःख देती हैं ॥''[58]

यहाँ पर प्रथम पंक्ति के अंतर्गत 'आती है' का तात्पर्य है दुःखती है तथा द्वितीय में 'जाती है' का आशय है माटी जाती हैं । इन दोनों में ही क्रियाओं ने अपना-अपना अर्थ त्याग दिया है । किन्तु दुःख में समानता और अभिप्राय एक ही जैसा है, अतः प्रयोजनवती सारोपा गौणी लक्षणलक्षणा' है ।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह स्वमेव ही स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य श्री के काव्य में यथास्थान आवश्यकतानुसार लक्षणा का प्रयोग कर सौंदर्य और चमत्कार की सृष्टि की गई है ।

व्यंजना-सौंदर्य :

जो शब्द वाच्यार्थ एवं लक्षणार्थ से भिन्न अर्थ व्यक्त करते हैं । वह 'व्यंजक' कहलाते हैं और जिस शक्ति से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है उसे 'व्यंजना' कहते हैं । इस 'व्यंजना' को व्यंजन, ध्वनन, द्योतन, अंजन, प्रकाशन, प्रत्यायन, अवगमन, बोधन एवं सूचन आदि नामों से पुकारा जाता है । 'व्यंग्यार्थ' ध्वनित होता है । अतः उसे 'ध्वनि' भी कहा जाता है । आचार्य मम्मट ने ध्वनि प्रधान काव्य को 'ध्वनि काव्य' ही कहा है- 'इदमुन्तमममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधौः कथितः ।''[59] धवनि-सिद्धान्त का विवेचन करने आचार्य आनन्दवर्धन ने भी लिखा है कि जिसमें अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके 'प्रतीयमान अर्थ' को व्यक्त करते हैं, उस वाक्य विशेष को 'ध्वनि-काव्य' कहते हैं-

''यत्रर्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थोः ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥''[60]

आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वनि की व्याख्या करते हुये शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ के व्यापार आदि सभी को ''ध्वनि' माना है । श्री विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने 'शब्दोंध्वनिश्च' 61 लिखकर इसी भाव की पुष्टि की है, किन्तु शब्द के ध्वनन को वे 'स्फोट' कहते है, उनके अनुसार व्यंग्यार्थ ही 'स्फोट' है ।

इस प्रकार काव्य में जिसे हम व्यंग्यार्थ कहते हैं वह ध्वनि या स्फोट ही है । क्योंकि शब्द में वह संकेतितार्थ तथा लक्ष्यार्थ की भांति सहजगम्य नहीं वरन् उसमें से यह ध्वनित होता है । जिस प्रकार किसी विशाल भवन या कूप में शब्द करने से प्रतिध्वनि निकलती है या किसी पदार्थ में विस्फोट होने से स्फुटन होता है, उसी प्रकार शब्द में से भी एक विचित्र अर्थ प्रतिध्वनित होता है और वह व्यंग्यार्थ कहलाता है ।

यह व्यंजना दो प्रकार की होती है- 'शाब्दी और आर्थी' । इनमें से 'शाब्दी' भी दो प्रकार की होती है- अभिधामूला और लक्षणामूला / जहां वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति में योग देता है, वहाँ अभिधामूला व्यंजना होती है और जहां लक्ष्यार्थ व्यंग्यार्थ का कारण होता है ,वहाँ लक्षणामूला व्यंजना होती है। पं. विश्नाथ जी ने इस भाव को इस तरह से व्यक्त किया है-

''अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाधैर्नियंत्रिते ।
एकत्रर्थेऽन्यधीहेतुर्व्यंजना सादभिधाश्रया ॥
लक्षणोपास्यते यस्य कृते तन्तु प्रयोजनम् ।
यया प्रत्याय्यते सा स्यातयञ्जना लक्षणा श्रयाः॥''[62]

यह व्यंजना शक्ति जब शब्द के व्यंग्यार्थ को व्यक्त करती है, तब उसमें संयोगादि अनेक कारण होते हैं। काव्य प्रकाश में भी लिखा है-

''संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य संन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥''[63]

अर्थात् संयोग-अनेकार्थों में से किसी एक प्रसिद्ध अर्थ से सम्बन्ध, विप्रयोग-प्रसिद्धार्थ के संबंध का ध्वंस साहचर्य-एक देश या काल में अवस्थिति, विरोधिता प्रसिद्ध वैर, अर्थ प्रयोजन प्रकरण-संदर्भ, लिंग विशेष चिन्ह या धर्म: अन्य शब्द- सन्निधि-अन्य शब्द का सामीप्य सामर्थ्य शक्ति, अचौती-औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर-काकु आदि तथा उदात्तादि स्वर आदि शब्दार्थ के निर्णय में सन्देह होने पर विशेष अर्थवान के कारण होते हैं । तात्पर्य यह है कि जब प्रसिद्ध अर्थ असंगत हो जाता है तो संयोगादि कारणों से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

अब हम यहां पर विभिन्न कारणों से अभिव्यक्त होने वाले व्यंजना/व्यंग्यार्थ के उन उदाहरणों को रेखांकित करेंगे जिनके द्वारा आचार्य विद्यासागर के काव्य में सौंदर्य की सृष्टि हुई है ।

संयोग से :

पथिक की/अहिंसक पगतली से
संप्रेषण प्रवाहित होता है/विद्युत सम् युगपत ।''64

इसका आशय यह है कि मोक्षमार्ग का पथिक प्रथमतः अहिंसक होता है वह ईर्यासमिति का पालक होता है। इसीलिए उसमें संप्रेषण की भावना प्रवाहित होती है । यहां पर अहिंसक पथिक से 'संयोगभाव' व्यक्त हो रहा है। इसी तरह-

अति के बिना/इति ये साक्षात्मकार संभव नहीं ।
और/इति के बिना/अथ का दर्शन असंभव ।।''65

तात्पर्य यह है कि जब तक किसी बात की अति न हो जाये तब तक उसका अंत नहीं दीखता । पराकाष्ठा ही उसका अंत लाती है । और जब तक अंत नहीं होगा तब तक पुनः आदि नहीं होती । यह संस्कार 'उत्पाद-व्यय' पर्यायों से ही तो चल रहा है । उत्पाद है तो व्यय भी है । और व्यय न हो तो नूतन-सर्जना न हो, क्योंकि वह असंभव है । यही वास्तविक जीवन है, संस्कार भी इसीलिए संचरणशील है । उक्त भाव प्रसिद्ध अर्थ के संयोग सम्बन्ध से ही ध्वनित हो रहा है जैसे-

तिथियों के बन्धान में बंधना भी/गतियों की गलियों में भटकना है ।
कथंचित्/यतियों के बन्धन में बँधना वह/नियति के रंजन में रमना है ।''66

करपात्री साधु अतिथि होता है, वह तिथि निश्चित करके नही चलता, तिथियों के बंधन में बंधना तो चारों गतियों में भ्रमण का कारण है तथा यतियों के अनुशासन में रहकर यति-चर्या में रमण करना स्वभाव में रमण करना है। इस भाव की अभिव्यक्ति यति-प्रसंग के सम्बन्ध से हो रही है ।

विप्रयोग से :

''मेरा नाम सार्थक हो प्रभो ! यानी/गद का अर्थ है रोग
हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ ।''67

इस पद्य में 'गदहा' का 'रोगों का हन्ता' अर्थ 'विरोधिता' अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के हनन से ही व्यक्त हुआ है । जो कि एक प्रकार से वाच्यार्थगर्भित है तथा-

'जलती अगरबत्ती को/हाथ लगाने की आवश्यकता क्या थी ?''68

यहाँ पर प्रसंग कुछ इस प्रकार का है कि राजा ने मण्डली सहित आकर मुक्ताराशिः को भरना प्रारंभ कर दिया/आकाशवाणी हुई और राजा कीलित सा हो गया पुनः कुम्भकार द्वारा अभिमंत्रित जल छिड़कने पर वह संज्ञावान हुआ, तब कुम्भ ने उससे कहा कि जलती अगरबत्ती को हाथ लगाने से तो वह जलायेगी ही, वह तो स्वयं ही सुगंधित लुटाती है । इसका आशय यह है कि राजन! यहाँ आकर

इस रत्न-राशि को समेटने की क्या आवश्यकता थी ? आपके पास तो द्रव्य वैसे ही खिंचता चला आता है । इस तरह का अर्थ प्रसिद्ध अर्थ के अभाव में ही निकलता है ।

साहचर्य से :

सब-की-सब/उजली ज्योति से प्रकाशित हुई ।
स्नात स्नपित हुई । भीतर से भी, बाहर से भी/तत्काल/''69

इसमें एक मछली के अपने उद्धार की इच्छा से दृढ़ आस्था को देखकर अन्य मछलियाँ अपनी आत्म-ज्योति से चैतन्य हो गईं । ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वे जल से तो शरीर को प्रक्षालित कर चुकी हों पर अन्तरात्मा भी मल धुल जाने से पवित्र हो गई, यह भाव मुमुक्षु मछली के साहचर्य से व्यक्त हो रहा है । इसी तरह-

भूल-सी गई है तैसा वह / स्पन्दन-हीन मतवाली हुई है ।
स्वभाव का दर्शन हुआ, कि क्रिया का अभाव हुआ-सा ।''70

यहाँ पर भी ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित होने के पश्चात् बालटी में ऊपर आती हुई मछली मानो तैरना भूल गई- स्थितप्रज्ञा हो गई । लगता है उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो गया, वह इसीलिए निष्क्रिय होकर ऊपर चली आ रही है । यह भाव उस समय के वातावरण के कारण ही निःसृत हो रहा है ।

विरोधिता से :

''कर मांगता है कर/वह भी खुलकर ! / इतना ही नहीं
मानवत्ता से घिर जाता है । मानवता से गिर जाता है ।''71

कुम्भकार माटी को रौंदना चाहता है, पर वह इसके लिये पैरों से न रौंदकर हाथों से ही उपयुक्त मानता है। इसलिए कि कर्त्तव्य के आने पर कायर बन जाता है लगता है इसका वह कोई शुल्क चाह रहा हो । ऐसा भी लगता है वह अपनी मानवता से गिर गया हो, तथा अभिमान से मर गया हो । यहाँ मानवत और मानवत्ता में विरोधा होने के कारण वाच्यार्थ-गर्भित व्यंजना है ।

और अन्य स्थान पर भी कहा है-

''दुःख आत्मा का स्वभाव-धर्म नहीं हो सकता ।
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का/विभाव-परिणमन मात्र है वह ।''72

दुःख आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह तो मोहनीय कर्म के फलस्वरूप विभाव परिणमन है । अर्थात् आत्मा का स्वभाव तो आनन्द है । दुःख तो कषायों के द्वारा उत्पन्न विकृत परिणाम है । यह भाव-व्यंजना विरोध के कारण ही है ।

अर्थ में :

तुम्हारी आंखों की/शल्य चिकित्सा हुई है क्या ।"[73]

उक्त कथन कंकर का है, जो शिल्पी के माटी और कंकर में भेद करने पर उससे कहता है कि रे शिल्पी! माटी और हम में सादृश्यता तो है, विसदृश्यता तो है नहीं, फिर तुम्हें अन्तर क्यों दृष्टिगोचर होता है । पुनः वह वकोक्ति के द्वारा उसकी अवमानना के प्रयोजन से प्रश्न करता है कि तुम्हारी आंखों से शल्य चिकित्सा द्वारा 'मोतिया' तो नहीं निकाला गया ? फिर आगे-

"काया तो काया है । जड़ की छाया-माया है ।"[74]

यहाँ पर भी काया को जड़ की छाया माया कहा गया है । इसमें प्रयोजन है काया को जड़ बतलाना, क्योंकि शीत में कोई तन में कम्बल रक्षा के हेतु से लपेट लें तो आत्मसाधना में कोई बाधा नहीं आती ।

प्रकरण से :

"महासत्ता-मां की गवेषणा/समीचीना एषणा
और/संकीर्ण-सत्ता की विरेचना/अवश्य करनी है तुम्हें ।"[75]

शिल्पी द्वारा प्रतिबोधन से दीन जैसे बने कंकरों को माटी देशना देती है कि परमसत्ता रूप मां की खोज ही उपयुक्त कामना-भावना है, किन्तु इसके लिये संकीर्ण तत्व क्रोधादि विभावों का विरेचन आवश्यक है । यहां पर इसी भाव की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है । आचार्य श्री का एक अन्य कथन है-

"जल की गहराई को छोड़कर/जल की लहराई में आकर
तैरता हुआ-सा......../अध-डूबा/हिम का खण्ड है/मानकर मापदण्ड/"[76]

इसमें भी वही प्रकरण है जिनमें माटी कंकरों को विनम्रता का पाठ पढाती है और दृष्टांत के द्वारा समझाती है कि छिद्रहीन विनम्र-नाव जल के पार हो जाती है, जबकि हिमखण्ड जल की गहराई को छोड़कर लहरों में लहराता हुआ अधडूबा तैरता रहता है, क्योंकि उसके भीतर 'मान' भरा हुआ है। यहाँ पर उपर्युक्त प्रकरण को द्वारा यही भाव व्यंजित हो रहा है ।

अन्य शब्द सन्निधि से :

"तिलक से विरहित/ललना-ललाट-तल-सम
गगनांगना की आँगन/अभिदाम कहाँ रहा वह ।"[77]

यहाँ गगनरूपी अंगना के आँगन से तात्पर्य 'व्योमतल' है तथा अभिराम से 'लालिमापूर्ण' है । यह अर्थ 'संधयाकाल' पद की सन्निधि से ज्ञात हो रहा है –

सामर्थ्य से :

''आस्था का दर्शन आस्था से ही संभव है। न आंखों से, न आशा से ।''[78]

इसमें 'दर्शन' से अभिप्राय 'स्वरूप' है, जो आस्था सम्यक् श्रद्धा की अपनी सामर्थ्य से ही ज्ञात होता है, अन्य किसी बाह्य साधान से नहीं हो सकता । एवं अन्य-

''पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं ।''[79]

इस पद्य में 'पद' शिलष्ट शब्द है, अतः यहां पर पदोपलब्धिा के दो अर्थ है- 1. पैर रखना और दूसरा 2. पद प्राप्त करना तथा इसी प्रकार पददलित करते के भी दो अर्थ हैं 1-पैरों से कुचलना और 2. नीचे गिराना ये दोनों ही अर्थ शब्द सामर्थ्य से व्यक्त हो रहे हैं तथा वाच्यार्थमूलक हैं ।

औचित्य से :

''दोषों से द्वेष रखना । दोषों का विकसन है ।''[80] इसका आशय यह है कि यदि दोषों और बुराईयों को घृणा की दृष्टि से देखते रहे तथा अन्य या स्वयं में उनका सुधार न करें तो स्वयं में दोषों का विकास हो जायेगा। यह भाव विरोधाभास से तो औयित्व के कारण ही ध्वनित हो रहा है । तथा-

''कुम्भ के विमल-दर्पण में/संत का अवतार हुआ है ।''[81]

इसका आशय यह है कि कुम्भ रूप शिष्य की निर्मल आत्मा में सेठ को ऐसा मासित हुआ कि सन्त-रूप जग गया है । यह औचित्य से ही व्यक्त हो रहा है ।

देश से :

''जहाँ गांठ ग्रन्थि है । वहाँ निश्चित ही हिंसा छलती है ।''[82]

यहां गांठ शब्द शिलष्ट है, जिसके दो अर्थ है- 1. रज्जु की गांठ, 2. मन में गाँठ । 'गाँठ' के खोलने में भी बल का प्रयोग होता है और कभी-कभी तोड़ने का कार्य भी होता है तथा मन में लगी हुई गाँठ तो महाभारत तक का कारण बन जाती है। यह भाव देश/स्थान के कारण ही व्यक्त हुआ है ।

स्वर से :

हे स्वर्ण-कलश !/यथार्थ में तुम सवर्ण हो ।
तो फिर वह ../दिनकर का दुर्लभ दर्शन/प्रतिदिन क्यों न होता तुम्हें ?''[83]

अर्थात्, हे कलश ! यदि तुम वास्तव में सवर्ण-सुवर्ण होते या 'यथा नाम तथा गुणा:' सूक्ति को चरितार्थ करते तो फिर तुम्हें प्रतिदिन सूर्य के दर्शन दुर्लभ क्यों है ? इससे प्रतीत होता है कि तुम वह नहीं हो जो वर्ण से दिखते हो या नाम से कहलाते हो । सुवर्ण खनिज पदार्थ है वह खानों में पृथ्वी

के नीचे दबा पड़ा रहता है और वर्णों तक दिनकर के दर्शन नहीं कर पाता । यह सम्पूर्ण भाव स्वर से ही अभिव्यक्त हो रहा है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य श्री ने शब्द-सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिये अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का जगह-जगह पर सुन्दर प्रयोग किया है, जिससे भाषा, सौंदर्य की गरिमा का बोध होता है ।

गुण विवेचन एवं रीति निरूपण :

''गुणयति उत्कृष्टो भवति अनेन इति गुणः ।''[84] जिसके द्वारा किसी वस्तु की शोभा उत्कृष्ट की जाती है या वृद्धि कराई जाती है । वह गुण है गुण में मधुर भावों की अभिव्यक्ति होती है तथा रसानुकूल पदों की योजना, माधुर्य, व्यंजक वर्ण, ललित रचना आवृत्ति आदि औदार्य काव्य के गुण होते हैं । गुण उत्कर्ष के आधान हैं । आचार्य वामन ने कहा है- ''काव्य को सुशोभित करने वाला धर्म ही गुण है।''[85]

काव्य के उत्कर्ष विधायक अंग अलंकार, छंद, रस वक्रोक्ति, लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियाँ, रीति और गुण है । भारतीय परम्परा के आचार्यों ने श्लेष, प्रसाद, समता, मधुरता, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कांति, ओज और समाधि''[86] इन दस गुणों को स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट ने 'साहित्य दर्पण'[87] में ''माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों का समावेश करके इनकी विशेषताओं का उल्लेख किया है । काव्य की महनीयता गुणों पर आधारित होती है । इसलिए उन्हीं गुणों के आध ार पर इनके काव्य-औचित्य को इस प्रकार से देखा जा सकता है-

1. **माधुर्य गुण -**

माधार्य गुण आल्हादकारक होता है तथा क्रमशः करूण, विप्रलंभ, एवं शान्तरस में इसकी अत्यंत वृद्धि हो जाती है । आचार्य श्री के सभी काव्यों मे शांत रस का समावेश है । अतः उनके काव्यों माधुर्य गुण को व्यापक रूप में देखा जा सकता है, जैसे-

''इसका जीवन यह, उन्नत होगा या नहीं ।
अगणित गुण पाकर अवनत होगा, या नहीं ।'[88]

आचार्य श्री का प्रत्येक शतक शांतरस से परिपूर्ण, माधुर्य योजना से युक्त, सहृदयों के हृदय को मधुरिम गुणों से चमत्कृत करने वाले हैं ।

माधुर्य गुण के अभिव्यंजन में ट्, ठ्, ड्, ढ को छोड़कर अपने वर्गों के अंतिम वर्णों से युक्त वर्ण, समास रहित छोटे-छोटे पद रचना इसमें सहायक है ।

2. ओज गुण :

चित्त का विस्तार रूप दीपतत्व ओज माना जाता है । महवीर, वीभत्स और रौद्र रस मे क्रमशः बढ़ता है। इसमें लम्बे-लम्बे समास वाले वाक्य प्रयुक्त होते हैं । मूकमाटी-काव्य में ओज की पंक्तियां कुछ इस प्रकार हैं-

''वीर रस चिल्लाता है आपा भूलकर आग बबूला हो
पुराण-पुरूषों की परम्परा को ठुकराता है ।
मनु की नीति मानव को मिली थी
उसका विस्मरण हुआ या मरण ?'[89]

''आलोक का परिणमन यहां
धनीभूत प्रतीत होता है, लो ।
यहीं पर मिथ्यात्व रूपी मगरमच्छ
से भी साक्षात्कार''[90]

सहृदय की वृत्ति इस तरह की पंक्तियों को पढ़कर मन में उमंग, उत्तेजना और उत्साह से पूर्ण हुए बिना नहीं रहती है । इसमें वीर, वीभत्स और रौद्र रस के गुण अधिक उत्कर्षयुक्त बन जाते हैं । 'मूकमाटी' काव्य में अनेक बार ओजवर्धाक गुणों की प्रतीति होती है ।''

प्रसाद गुण :

प्रसाद एक ऐसा गुण है जो सहृदयों की चित्तवृत्ति में व्याप्त हो जाता है । प्रासाद का अर्थ है प्रसन्नता।' 'काव्य प्रकाशकार''[91] ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है- ''जैसे सूखे ईंधन में अग्नि का प्रकाश और स्वच्छ कपड़े में जल की आभा जगमगा उठती है । उसी प्रकार प्रासाद गुण चित्त में व्याप्त हो जाता है । यह गुण सम्पूर्ण रसों और रचनाओं में हो सकता है । आचार्य श्री के काव्यों में अनेक स्थल प्रसाद गुण से परिपूर्ण है । यथा-

''नया वस्त्र हो मूल्यवान हो मल से यदि वह समल रहा ।
प्रथम बार तो छू नहीं सकता जल को, जल हो विमल अहा ।''[92]

मूकमाटी महाकाव्य में अनेक स्थानों पर प्रासाद गुण परिलक्षित होता है । उसमें परिपुष्ट होने वाले प्रायः सभी रसों की समीपता के साथ ओज और माधुर्य गुणों की प्रतिच्छाया में हमें सर्वत्र प्रसाद गुण की विशेषता दिखाई देती है । यथा-

''जहां कहीं भी देखा
महि में महिमा हिम की महकी,
एक पतली सी, सूती चादर भर
उसके अंग पर है, और वह पर्याप्त है उसे ।''[93]

रीति निरूपण -

"रीति का शाब्दिक अर्थ शैली या कहने का ढंग है । 'रीति' के प्रसिद्ध आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है और उन्होंने इसकी व्याख्या करते हुये लिखा है- "विशिष्ट पद रचना का नाम रीति है ।" विशेषवती पदानां रचना रीतिः" अर्थात् विशेष पदों की रचना का नाम रीति है ।"[94] रीति की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की गई है- "रियन्ते पर परम्परया गच्छन्त्यन्येति करण साधानोऽयं रीति शब्दों मार्गः पर्यायः ।"[95] अर्थात् जो परम्परा से पद रचना की विशेषता को प्राप्त होते हैं । उनके कारण या साधान का नाम रीति है। रीति मार्ग और पर्याय रूप भी हैं । मुख्य रूप से रीति के तीन भेद माने गये हैं-

(अ) वैदर्भी, (ब) गौड़ी और (3) पांचाली

(अ) वैदर्भी रीति :

यह रीति समस्त गुणों से युक्त होती है । आचार्य वामन ने इसे सर्वोत्कृष्ट रीति माना है।"[96] वैदर्भी रीति में समास का अभाव हो तो वह सबसे अच्छी मानी जाती है । इससे सहृदयों के हृदय में एक अर्निवचनीय आनंद का अनुभव होता है । सहृदयों का ऐसा मानना है कि 'वैदर्भी रीति' रस से पूरित होती है। 'निरंजनशतक' में महाकवि ने वैदर्भी रीति का आश्रय लिया है । यथा :-

"जो आप में निरत है सुख लाभ लेने,
आते न पास उसके विधिा कष्ट होते ।"[97]

उक्त पद्य में मधुर और ललित पदो की संरचना हुई है, तथा इसमें समास का प्रयोग नहीं हुआ है। मुक्त छंद से युक्त इनके महाकाव्य में भी इस तरह की रीति का प्रयोग हुआ है जिसमें सहृदयता, पदसंघटना, मार्मिक प्रसंग आदि सभी तत्व एक साथ प्राप्त हो जाते है। यथा-

"माटी की मृदुता, मोम की माँ
चुप रह न सकी
गुप रहस रह न सका
बोल बड़ी वह -
चाहो, सुनो, सुनाती हूँ -
कुछ सुनने-सुनाने की बातें ।"[98]

(ब)गौड़ी रीति :

इस रीति में समास और अनुप्रास की बहुलता होने से बुद्धि पक्ष को अधिक प्रभावित करती है, इसमें ओज प्रकाशक वर्णों के द्वारा प्रबन्ध को बांधा जाता है ।"[99] इसमें विकट बंध होता है । कवि अपनी भावना को क्लिष्ट पदों, विकट वर्णों और समाज बहुल शब्दों से युक्त शब्दावली को प्रस्तुत करता

है । सामान्यतः वीर, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों के साथ ऐसी रीति का प्रयोग सभी विशेषताओं से युक्त होता है ।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के काव्यों में यद्यपि इस शैली का अभाव है, फिर भी 'मूकमाटी' महाकाव्य में ऐसे स्थल अनेक स्थानों पर देखे जा सकते हैं, जैसे-

"कुटिल व्याल-चालवाला
कराल-काल गालवाला
साधु-बल से रहित हुआ
बाहु-बल से सहित हुआ ।"[100]

(स)पांचाली रीति :

प्रसाद के अभिव्यंजक वर्णों से युक्त पांच या छह पदों में समासों से युक्त पदरचना पांचाली रीति कहलाती है । इस रीति में मिश्रबंध होता है । आचार्य विद्यासागर के श्रमणशतक, भावनाशतक, परीषहजयशतक, सुनीतिशतक एवं अन्य रचनाओं में पांचाली रीति का प्रयोग हुआ है जैसे-

"स्वर्णिम, सुरभित, सुभग, सौम्यतन, सुरपुर में वर सुर-सुख है ।
उन्हें शीघ्र से मिलता शुचितम शाश्वत् भास्वत शिव-सुख है ।'[101]

यहां पर कवि ने शब्द और अर्थ के गुम्फन पर पूरा धयान दिया है । 'मूकमाटी' में इस पांचाली रीति का प्रयोग देखने को मिलता है, जैसे-

'कलकण्ठ का कण्ठ भी कुंठित हुआ'
वन-उपवन-नन्दन में
केवल भर-भर आया है
करूण क्रन्दन आक्रन्दन।'[102]

आचार्य श्री विद्यासागर जी के काव्यों में वैदर्भी रीति, गौड़ी रीति और पांचाली रीति की अभिव्यंजना सर्वत्र देखने को मिलती है । अतः हम यह कह सकते हैं कि आचार्य श्री के काव्यों में रीति सम्बन्धी विवेचन उनकी दक्षता का परिचायक है । कवि ने विषयानुरूप कही मधुर, कहीं ओजपूर्ण और कहीं सरल, सुकुमार शब्दावली का प्रयोग किया है ।

(द) अलंकार विधान :

आचार्य श्री के काव्य में अलंकारों की अद्भुत छटा देखने को मिलती है । संत कवि ने शब्दालंकारों, अर्थालंकारों, उभयालंकारों के अलावा मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, प्रश्नालंकार, तुलनात्मक अलंकारों का भी प्रयोग किया है । कवि की उपमाऐं नितांत मौलिक और नवीन तथा जीवन को व्याख्यायित करने वाली हैं । कवि ने रूपक के माध्यम से सांसारिक असारता को दर्शाने का प्रयास किया

है । कही-कहीं पर यह रूपक राष्ट्रीय बोध के स्वरूप को भी स्पष्ट करता है । कही-कहीं पर उपचार वक्रता के द्वारा विरोधी शक्तियों को चुनौती दी गई है । "लौकिक अलंकार यहां अलौकिक अलंकारों से अलंकृत हुए हैं तथा "अलंकार यहां अलं" का अनुभव कर रहे हैं ।'[103]

आचार्य श्री के काव्य में सर्वत्र अलंकारों का वैभव देखते ही बनता है ।

परिभाषा :

"अलंकार का कार्य सुसज्जित करना ।'[104] अलंकार शब्द 'अलम' और 'कार' इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ क्रमशः भूषण और करने वाला है । अतः अलंकार वह साध न है जिसके द्वारा सौंदर्य बढ़ाया जाये ।'[105] काव्य की शोभा बढ़ाने वाले साधनों को अलंकार कहते हैं ।'[106] मानव अपने रूप, वेश, रहन-सहन को सौंदर्य-प्रियता के लिये सजाता है और वाणी को निखारता है, अर्थात् वाणी की रोचक और भावाभिव्यक्ति को प्रभावशील बनाने के लिये कुछ साधनों का उपयोग करता है, ये साधन ही अलंकार है।'[107]

"अलंकार काव्य के धर्म कहलाते हैं, क्योंकि भावों को प्रकट करने के सबसे उत्कृष्ट साधन काव्य ही हैं, यानि "काव्य" की शोभा बढ़ाने के लिये साधनों को अलंकार कहते हैं ।'[108]

काव्य में अलंकार किसी तथ्य, वस्तु या चरित्र के स्वरूप को प्रकट करते हैं वहाँ अप्रस्तुत की योजना में अलंकारों का प्रयोग होता है । जहां पर किसी मानव को स्पष्ट करना होता है वहाँ पर हम बल, निषेधा, अत्युक्ति, कार्य-करण सम्बन्ध हेतु कल्पना आदि के द्वारा अपना काम चलाते हैं और इस प्रकार अलंकार आ जाते हैं । कहीं क्रम, असंगति, संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि के चमत्कारिक प्रयोग में अलंकार रहते हैं । कहीं विरोध या वैपरीत्य की विशेषता द्वारा कथन को प्रवीण बनाने में अलंकार आ जाते हैं । कहीं निंदा-प्रशंसा में दूसरा भाव छिपाकर व्यंग्य से कुछ कहते हैं । तो अलंकारों का समावेश हो जाता है । कहीं शब्द के ध्वनि या अर्थ संबंधी चमत्कारिक प्रयोगों द्वारा अलंकार की सृष्टि होती है।'[109]

काव्य के दो पक्ष होते हैं - (अ) भावपक्ष (ब) कलापक्ष अर्थात् वह शैली जिसके द्वारा भावों को अभिव्यक्ति दी जाती है । यह कार्य कलापक्ष के द्वारा होता है । कलापक्ष के अंतर्गत भाषा, छंद, अलंकार आदि आते हैं । अलंकार भावों की शोभा बढ़ाने वाले कारक हैं ।'[110] "अलंकार" जहां भाव-सौंदर्य में प्रेषणीयता ला देते हैं, वहीं वे काव्य में अर्थवान होते हैं ।

काव्य में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान हुआ करता है । अलंकार विहीन रचना उष्णता-रहित अग्नि की तरह होती है। जिस तरह आभूषणों के बिना नारी का सौंदर्य नहीं । उसी तरह अलंकारों के बिना

काव्य । काव्य का मुख्य लक्षण रस है । और अलंकार उसे चमत्कृत करने में सहायता देते हैं । "अलंकार उसी स्थिति तक मान्य हैं जिस स्थिति तक अलंकारों का प्रयोग सीमित और स्वाभाविक हो ।"[111]

"अलंकार" काव्य में कभी "शब्द-सौंदर्य" को बढ़ाते हैं और कभी" अर्थ-सौंदर्य" को और कभी-कभी शब्द और अर्थ दोनों के सौंदर्य को बढ़ाते हैं । इस तरह से अलंकार तीन प्रकार के माने गये हैं- (अ) शब्दालंकार (ब) अर्थालंकार, (स) उभयालंकार ।

(अ) शब्दालंकार - जहां शब्द-चयन द्वारा कथन में सौंदर्य आता है, वहां शब्दालंकार होता है।" इस अलंकार के उदाहरण अनुप्रास, यमक, श्लेष, वीप्सा, वक्रोक्ति आदि है ।"[112]

(ब) अर्थालंकार - काव्य के अर्थ और भाव को चमत्कारपूर्ण बनाने वाले अलंकार अर्थालंकार कहलाते हैं।" इसके अंतर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, भ्रांतिमान, विभावना, काव्यलिंग आदि अलंकर आते हैं ।"[113]

(स) उभयालंकार - "जो अलंकार शब्द और अर्थ दोनों में ही सौंदर्य की वृद्धि करते हैं, उन्हें उभयालंकार कहते हैं ।"[114]

संतकवि की यह अपनी ही विशेषता मानी जायेगी कि उन्होंने अपने काव्य में उपर्युक्त तीनों ही प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है । कवि ने अपने भावों को प्रकट करने के लिये जिन अलंकारों का प्रयोग किया है वह उनके काव्य के स्वरूप और वैशिष्ट्य को सम्यक् रूप से व्यंजित करता है । कवि के काव्य मे प्रयुक्त अलंकारों का विवरण इस प्रकार है-

अनुप्रास अलंकार :

"समान वर्णों या शब्दों की आवृत्ति को अनुप्रास अलंकार कहते है ।" आचार्य विद्यासागर के काव्य में यह अलंकार सर्वत्र देखने को मिलता है। ऐसा आभास होता है कि कवि को यह अलंकार अत्यंत प्रिय हो । उन्होंने अनुप्रास के भेदों का भी कई स्थानों पर प्रयोग किया है । एक स्थान पर अनुप्रास की छटा कुछ इस प्रकार से दिखाई देती है-

"सत् साधाना सहज साधय सदा दिलाती,
दुःसाधाना दुःखमयी विष ही पिलाती ।"[115]

यहां "स" वर्ण की कई बार और 'द' वर्ण की एक बार आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है ।

"जड़ को जड़त्व से मुक्त कर
उत्थान-उत्तुंग पर धरना
घृति-धारिणी धरा का ध्येय है ।"[116]

यहां पर ''ज'', ''उ'', ''घ'' वर्णों की आवृत्ति से अनुप्रास अलंकार है ।

यमक अलंकार :

'जहां पर शब्द की अनेक बार भिन्न-भिन्न अर्थों में आवृत्ति होती है, वहां यमक अलंकार होता है । आचार्य श्री के काव्य में यमक अलकार का प्रयोग भी यथास्थान हुआ है, खास बात यह है कि ऐसे स्थानों पर अर्थ की प्रतीति के लिये विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता है ।

''अनन्त गुण पा कर दिया, अनन्त भव का अंत ।
अनन्त सार्थक नाम तब, अनन्द जिन भयवंत ॥''[117]

यहां ''अनन्त' अर्थात् अनेक और ''अनन्त'' अर्थात् जैन धार्म के चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ जी हैं । यहाँ पर भिन्न अर्थ की प्रतीति होने की वजह से 'यमक अलंकार' है ।

श्लेष अलंकार :

शिलष्ट शब्दों के एक से अधिक अर्थ होने से श्लेष अलंकार होता है ।''[118] श्लेष का अर्थ होता है 'चिपका'' अर्थात् शिलष्ट शब्द में एक से अधिक अर्थ चिपके हुए होते हैं । यह दो प्रकार का होता है (अ) सभंग श्लेष (ब) अभंग श्लेषण ।

(अ) सभंग श्लेष :- ''इसमें शब्द के खण्ड करने पर ही श्लेष सार्थक होता है ।''[119]

(ब) अभंग श्लेष :- इसमें शब्द को खण्ड किये बिना ही दो या अधिाक अर्थ निकलते हैं ।''[120]

आचार्य विद्यासागर जी ने अपने काव्य सर्जन में दोनों ही तरह के श्लेषालंकारों का प्रयोग किया है-

संभग श्लेष -

''यही मेरी कामना है ।
कि
आगामी छोर हीन काल में
बस इस घट में
काम न रहे ।''

इसी प्रकार अभंग श्लेष का उदाहरण भी देखा जा सकता है-

''अरे ! मन
तूं रमना चाहता है
श्रमण में रम
चरम चमन में रम
सदा-सदा के लिए

परम-नमन् में रम
चरम में चरम सुख कहां ?''[121]

वीप्सा अलंकार :

''हर्ष, आतुरता, आश्चर्य, घृणा आदि मनोवगों की बहुलता प्रकट करने के लिये शब्द की आवृत्ति होने पर वीप्सा अलंकार होता है ।''[122]

संत कवि ने इस अलंकार का प्रयोग सांसारिक असारता को प्रकट करने के लिये मुख्य रूप से किया है। 'घृणा' के मनोवेग को प्रकट करते हुये कवि का कथन कुछ इस तरह से है-

''स्वर की नश्वरता
और सारहीनता सुनकर
श्रृंगार के बहाव में बहाने वाली
नासा बहने लगी प्रकृति की
कुछ गाढ़ा कुछ पतला
कुछ हरा-पीला मिला मल
मल निकला, देखते ही हो घृणा ।''[123]

संत कवि ने 'आश्चर्य' के मनोवेग को प्रकट करने में 'वीप्सा अलंकार' का प्रयोग कुछ इस तरह से किया है-

''लालित्यपूर्ण कविता लिख के तुम्हारी,
होते अनेक कवि है, कवि नामधारी ।
मैं भी सुकाव्य लिख के कवि तो हुआ हूं,
आश्चर्य! तो यह निजानुभवी हुआ हूँ ।''[124]

वक्रोक्ति अलंकार :

''जहां श्रोता वक्ता के शब्दों का उसके अभिप्राय से भिन्न कुछ और ही अर्थ कल्पित कर लेता है, वहां पर वक्रोक्ति अलंकार होता है ।''[125] संतकवि ने इस अलंकार का प्रयोग इस रूप मे किया है-

''जब आग की नदी को
पार कर आये हम
और साधाना की सीमा-श्री से
हार कर नहीं,

प्यार कर, आये हम
फिर भी हमें डुबोने की
क्षमता रखती हो तुम ?''[126]

पुनरूक्तिप्रकाश अलंकार :

''कथन के सौंदर्य को बढ़ाने के लिये एक ही शब्द की पुनरावृत्ति को पुनरूक्तिप्रकाश अलंकार कहते हैं ।'[127]

संतकवि के काव्य में जहां-तहां यह अलंकार अपने सौंदर्य की आभा को बिखेरता हुआ दिखाई देता है-

''उजली-उजली जल की धारा
बादलों से झरती है ।
धरा-धूल में आ धूमिल हो
दल-दल में बदल जाती है ।'[128]

उपमा अलंकार :

''जहां पर किसी वस्तु का रूप, गुण सम्बन्धी विशेषता प्रकट करने के लिये दूसरी परिचित वस्तु से, जिसमें वे विशेषताऐं अधिक प्रत्यक्ष हैं, उसकी समता कही जाती है वहां पर उपमा अलंकार होता है ।'[129] इस अलंकार में उपमेय की जिस वस्तु से तुलना की जाये, तथा उपमान की जिस वस्तु से समता की जाती है, साधारण धर्म जिसमें समान गुण धर्म क्रिया दर्शायी जाती है, वाचक शब्द-सादृश्यन्मूलक शब्द का प्रयोग हो आदि अंगों से पूरित होता है ।

संतकवि ने उपमालंकार का प्रयोग अत्यंत कुशलता के साथ किया है । फिर इस अलंकार के प्रति कवि का अत्यधाक लगाव भी है-

''नीरज की बन्द पंखुरियों-सी
शिल्पी की पलकों को सहलाता है ।'[130]

यहां पर उपमेय (शिल्पी) उपमान (नीरज) धार्म (सहलाना) तथा वाचक (सी) होने के कारण उपमालंकार का सौंदर्य प्रकट हो रहा है ।

रूपक अलंकार :

जब उपमेय (प्रस्तुत) पर उपमान (अप्रस्तुत) का आरोप होता है । तब रूपक अलंकार होता है ।'[131] आचार्य विद्यासागर जी के काव्य में इस अलंकार का प्रयोग अधिकांशतः देखने को

मिलता है। प्रयुक्त हुए इन रूपकों का अपना एक विशिष्ट सौंदर्य हैं । इन रूपकों में कवि की मौलिक कल्पना और नवीनता के साथ सौंदर्य की सृष्टि हुई है । निम्न उद्धारणों में हम रूपक के सौंदर्य को देख सकते है-

''अज्ञान रूप तम को झट जो नशाती,
है ज्ञान-ज्योति शिवमार्ग हमें बताती ।
आराधनीय वद है नित् दर्शनीय,
स्वामी ! मुमुक्षुजन से जग शोधनीय ।'[132]

उत्प्रेक्षा अलंकार :

''जहां पर उपमेय की उपमान के साथ संभावना की जाये, वहां उत्प्रेक्षा अलंकार होता है ।'[133]

संतकवि के काव्य में उत्प्रेक्षाओं का अपना एक विशिष्ट सौंदर्य है जो उनके काव्य की श्रीवृद्धि को द्विगुणित करता है :-

''आलों को कुछ पीड़ा न हो,
यूं विचार कर ही मानो
उन्हें मस्तक पर लेकर
उड़ रहे हैं, भू-कण ।
सो..........ऐसा लग रहा है कि
हनुमान अपने सर पर
हिमालय ले उड़ रहा है ।'[134]

संदेह अलंकार :

''जहाँ किसी वस्तु के विषय में सादृश्य-मूलक संशय की स्थिति होने के पर संदेह अलंकार होता है ।'[135] संत कवि ने इस अलंकार का प्रयोग अपने काव्य में कुछ इस तरह से किया है-

''सत्य का आत्मसमर्पण
और वह भी
असत्य के सामने ?
हे भगवन् !
यह कैसा काल आ गया,
क्या असत्य शासक बनेगा अब ?
क्या अत्य शासित होगा ?
हाय रे जौहरी के हाट में
आज हीरक-हार की हार ।[136]

उपर्युक्त पंक्तियों में संदेह की प्रतीति का अनुमान हो रहा है । इसलिए यहां पर संदेह अलंकार है ।

भ्रान्तिमान अलंकार :

''जब कभी गुण, धर्म आदि के सादृश्य के कारण उपमेय को भ्रम से उपमान समझ लेने में भ्रांतिमान अलंकार होता है ।[137]

''रस्सी को लख सर्प समझ जन निशि में भ्रम से डर जाते हैं ।
जल लख मृग, मृगमरीचिका में पीने भगते, मर जाते हैं ।[138]

सहोक्ति अलंकार :

''विजातीय वस्तुओं के लिये एक क्रिया लाई जाने पर उनका एक ही साथ होना, ''सह'', ''संग'' ''साथ'' आदि शब्दों के द्वारा वर्णित होने पर सहोक्ति अलंकार होता है ।[139]

आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपने काव्य में इस अलंकार का प्रयोग भी अनेक स्थानों पर किया है-

''लोहा बने कनक पारस संग पाके,
मैं शुद्ध किन्तु तुम सा तुम संग पाके ।''[140]

व्यक्तिरेक अलंकार :

''जहां उपमेय की उपमान से अधिकता या न्यूनता सूचित करने वाले अलंकार को व्यतिरेक अलंकार कहते है । ''[141]

संत कवि ने इस अलंकार का प्रयोग भी आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं पर किया है-

''हो जैष्ठ में नित् नहीं रवि'' औ'' प्रतापी,
संतप्त पूर्ण करता जग को कुपापी ।
आचार्य कोटि-शत् भास्कर तेज वाले ।
देते सदा सुख हमें समदृष्टि वाले । ''[142]

विरोधाभास अलंकार :

''जहां पर किसी पदार्थ, गुण या क्रिया में विरोध न होते हुए भी विरोध का आभास होने पर विरोधाभास अलंकार होता है । ''[143]

''करते श्रुतमय सुधापान है, द्वादशविध तप अशन दमी,
दमन कर रहे इन्द्रिय तन को, कषाय दल का शमन-शमी

केवल दिखते बाहर से ही क्षीण काय हो दुखित रहे,

भीतर से संगीत सुन रहे जीत निजी को सुखित रहे ।'[144]

उदाहरण अलंकार -''जब किसी सामान्य सी बात को विशेष रूप से उदाहरण देकर समझाया जाता है तब इस रीति को उदाहरण अलंकार कहते है ।'[145]

आचार्य श्री ने कहीं-कहीं पर इस अलंकार का प्रयोग भी अपने काव्य मे किया है-

''बिना भीति विचरूँ सदा, वन में ज्यों मृगराज ।

ध्यान धरू परमात्म का, निश्चल हो गिरिराज ।'[146]

दृष्टान्त अलंकार :

''जहां दोनों सामान्य या दोनों विशेष वाक्य में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, वहां दृष्टान्त अलंकार होता है ।''[147]

''वाणी सुधा सदृश सज्जन संगति से

तेरी, बने कलुष दुर्जन संगति से ।

औचित्य मेघ जल है गिरता नदी में,

तो स्वाद पेय बनता, विष हो अही में ।''[148]

विभावना अलंकार :

''जहां पर किसी रूप में कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाये, वहां पर विभावना अलंकार होता है ।''[149] जैसे-

''सरिता सरवर सारे सूखे, सूरज शासन सख्त रहा

सरसिज, जलचर कहां रहे फिर ? जीवन साधन लुप्त रहा ।

इतनी गरमी घनी पड़ी पर, करते मुनि प्रतिकार नहीं,

शांति सुधा का पान करें नित, तन के प्रति ममकार नहीं ।''[150]

यहां पर कवि के व्यक्तित्व का पक्ष रेखांकित होता हुआ शोभायमान हो रहा है ।

अर्थान्तरन्यास अलंकार :

जहां पर सामन्य बात का विशेष के द्वारा तथा विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन होता है वहां अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ।''[151]

''यहां कटु सत्य है कि

अर्थ की आंखें

परमार्थ देख नहीं सकतीं

अर्थ की लिप्सा ने
बड़ों-बड़ों को निर्लज्ज बनाया है ।"[152]

काव्यलिंग अलंकार :

''जहां युक्तिद्वारा कारण देकर पद या वाक्य के अर्थ का समर्थन किया जाता है, वहां पर''काव्य-लिंग अलंकार होता है । ''[153]

''अपने साथ दुर्व्यवहार होने पर भी
प्रतिकार नहीं करने का
संकल्प लिया है धरती ने
इसलिए तो धरती
सर्व-सहा कहलाती है ।'[154]

प्रतीप अलंकार :

''जहां पर उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान सिद्ध करके चमत्कार पूर्वक उपमेय या उपमान की उत्कृष्टता दिखाई जाती है, वहां प्रतीप अलंकार होता है ।'[155]

''पलाश कीछबि को हरते
अवरति भीरू अवतरित हुए
रजत के थाल पर
पात्र के युगल-पाद जल ।''[156]

उल्लेख अलंकार :

''जब कहीं एक ही वस्तु का व्यक्ति का अनेक रूपों में वर्णन किया जाता है वहां पर उल्लेख अलंकार होता है ।''[157]

''श्री पार्श्वनाथ! भवतारक! लोकनाथ,
सर्वज्ञ देव! वा विभो! सुरनाथ बंध्य!
रक्षा अहां! मम् करो! करूणा-समुद्र,
संसारि त्रस्त मुझको उस ओर भेजो ।''[158]

तद्गुण अलंकार :

''जहां पर समीपवर्ती वस्तु के गुण को अपना लेने की विशेषता वर्णित की जाती हैं, वहां पर तद्गुण अलंकार होता है।'[159]

''उजली-उजली जल की धारा
धरा धूल में आ धूमिल हो

दल-दल में बदल जाती है
वही धरा यदि
नीम के पेड़ों में जा मिलती
कटुता में ढलती हैं ।''[160]

विनोक्ति अलंकार :

'' एक वस्तु के बिना दूसरी का शोभित या अशोभित होना विनोक्ति अलंकार कहलाता हैं।''[161]

''विद्या मिली विनय से इस लोक में भी,
देती सही सुख वहां, परलोक में भी
विद्या न पै विनय-शून्य सुखी बनाती
शाली बिना जल कभी फल-फूल पाती?''[162]

इसी प्रकार संत-कवि के काव्य में उदात्त अलंकार, प्रश्नालंकार, संसृष्टि अलंकार, ध्वन्यार्थ व्यंजना और मानवीकरण अलंकार तो जैसे कवि के सहचरी अलंकार जैसे बने हुए हैं-

गुलाबी साड़ी पहने
मदमती अबला-सी
स्नान करती-करती
लज्जावश सकुचा रही है।''[163]

यहाँ पर वस्तु में चेतना का आरोप होने के कारण मानवीकरण अलंकार का सौंदर्य परिलक्षित हो रहा है। इसी प्रकार-

''तट स्वयं अपने करों में
गुलाब का हार ले
स्वागत में खड़ा है।''[164]

विशेषण, विपर्यय, अलंकार भी आचार्य श्री के काव्य में जहाँ-तहाँ शोभा को बिखेर रहा है-

''नदी के लोचन नही खुले
प्रत्युत् वह नदी
और लोहित हो उठी।''[165]

महत्वपूर्ण बात यह है कि संतकवि के काव्य में उपर्युक्त अलंकारों की सृष्टि स्वमेव हुई हैं। इसके लिए कवि ने कहीं कोई प्रयास नही किया है। इसीलिए वे काव्य-सौंदर्य में श्री वृद्धि करते है। कवि का कलापक्ष भी भावपक्ष की ही तरह उदात्त कोटि का है।

मुहावरे, कहावतें, सूक्तियाँ एवं लोकोक्तियाँ -

'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है जो 'हौर' से बना है । इसका अर्थ परस्पर बातचीत और एक-दूसरे के साथ सवाल-जवाब करना है । भाषा को सजीव, सशक्त और प्रवाहपूर्ण बनाने के लिये मुहावरों का प्रयोग किया जाता है । विभिन्न विचारकों के मत वैभिन्नता के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि "मुहावरा एक ऐसा वाक्यांश होता है जिसका अर्थ उसके सामान्य अर्थ से न केवल भिन्न बल्कि चमत्कारिक और विलक्षण होता है ।" शब्दाकोश में दी गई परिभाषा के अनुसार "मुहावरे भाषा की नींव के पत्थर हैं, जिस पर उसका भव्य भवन आज तक रूका हुआ है और मुहावरे ही उसकी टूट-फूट को ठीक करते हुये गर्मी, सर्दी और बरसात के प्रकोप से अब तक उसकी रक्षा करते चले आ रहे हैं संक्षेप में ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं ।"[166]

संतकवि ने भाषा को सौंदर्य और अर्थगांभीर्य प्रदान करने के लिये अपने काव्य में जिन मुहावरों का प्रयोग किया है वे इस प्रकार है- "लोहा लेना, दिन का काटना, भृकुटियां तनना, ईंट का जवाब पत्थर से देना, दोगुला होना, दिल दहलना, फूला न समाना, कुपित होना, यादें ताजी होना, दीपक की भाँति भभकना, उबल पड़ना, पसीना छूटना, गले उतरना, सिर के बल होना, नाव डांबा डोल होना, बहाने बनाना, सिर फेरना, कोप बढ़ना, चक्कर खाना, गागर में सागर भरना, सिर उठाना, नीर-क्षीर विवेक, सरपट भागना, दर-दर भटकना, लक्ष्मण रेखा, कूटकूटकर भरना, छाती से चिपकाना, हवा सी बात उड़ना, भृकुटी टेड़ी करना, दिल हिलना, नाक में दम करना, मन की बात मन में रहना, अति की इति होना, दिल हिल उठना, नाच नचाना श्री गणेश, प्राण-प्रयाण करना, मुँह में झाग आना, मृग-मरीचिका घुटने टेकना, पारा चढ़ना, छल-बल होना, अट्टहास करना, बहाव में बहना । पश्चाताप का घूंट पीना, मुँह न दिखाना, बावला होना, ज्वर चढ़ना, भूल-चूक होना, होंठ चबाना, मुंह में पानी आना, कानों में कीलें ठोंकना, राज छुपाना, लात खाना, सर हिलाना, आंख लगना, लात लगना, पूंछ हिलाना, मुख-मालिन्य होना, कडुवा घूंट पीना, कसौटी पर कसना, बाल की खाल निकालना, दांत कटकटाना, सिर के बल गिरना, बिच्छू का डंक होना, दिमाग चढ़ना, शतरंज की चाल चलना, कथनी और करनी, भूत भगना, अरण्यरोदन, कूप-मण्डूक होना, बगुला-भक्ति, बवाल से बचना, काला मुख होना, दो टूक बोलना, रामबाण होना, नौ दो ग्यारह होना, लोहे से लोहा लेना, रंग-रोगन लगाना, लाल होना, करवटें बदलना, खिचड़ी पकाना, आंखों में काला पानी आना, खाली हाथ लौटना, सांप सूंघना, पाला-सा पड़ना, विष का घूंट पीना, काल के गाल में जाना, हाथ धोना, कांटे से कांटा निकालना, गला घोंटना, भय से भूत भगाना, दीमक खाना, टेड़ी-खीर, दल-बदलू होन, भोजन न पचना, वार करनर, आग बबूला होना, दाल न गलना, सर के बल चलना, बाल-बाल बचना, घूस देना, पीठ दिखाना, मुंह में पानी आना, कछुआ की चाल चलना आदि ।

कहावतें :

कहावतें एक प्रकार से भाषा के रत्न होते हैं जो अनंतकाल तक सदैव अपनी जगमगाहट

से लोगों को आल्हादित करते रहते हैं । आचार्य विद्यासागर जी अपने काव्य-सृजन के दौरान अपने कहावतों का प्रयोग किया है, इन कहावतो को पढ़कर पाठक में सजीवता और स्फूर्ति का संचार होता है । काव्य की भाषा में कहावतों का वही थान होता है जो भोजन में नमक का हुआ करता है ।

आचार्य विद्यासागर जी महाराजा के काव्य में जो कहावतें देखने को मिलती हैं वे इस प्रकार हैं- रस्सी को सांप समझना, ऐड़ी से चोटी तक, पूत के लक्षण पालने में, नीर क्षीर विवेक, कूबत कम गुस्सा ज्यादा, लक्ष्मण रेखा, ईंट का जवाब पत्थर से देना, दीपक की भांति भभकना, रमता जोगी बहता पानी, पूंछ के बल खड़ा होना, कुत्ता कुत्ते को देखकर भौंकता है, मुंह में राम बगल में छुरी, आमद कम खर्चा ज्यादा, निन्यानवे का चक्कर, गुरबेल और नीम चढ़ी, जैसा कहो बैसा करो, उबलते कड़ाव में पानी की बूंदें डालना, अपनी आंखों की लाली अपने को नहीं दिखती, पानी कितना गहरा है आदि ।

सूक्तियाँ :

''सूक्ति'' शब्द ''सु+उक्ति'' इन दो शब्दों के मेल से बना है । ''सु'' उपसर्ग उत्तम, सुगन्ध, अतिशय, सुयोग्य, सहज इत्यादि अर्थों की प्रतीति करता है । ''उक्ति'' शब्द वच् धातु में क्तिन' प्रत्यय लगने पर बनता है, जिसका अर्थ भाषण, वक्तव्य, वचन या कथन/विभिन्न विचारकों के भिन्न-भिन्न मतानुसार सूक्ति की परिभाषा निम्नानुसार है-

''मनुष्य की वाणी और वर्णना को जो चमत्कारपूर्ण बनाती है, वह सूक्ति कहलातािी है ।''

अत: हम यह कह सकते हैं कि- ''सूक्ति वह सार्थक पदरचना है जो स्वयं में परिपूर्ण हो और नैतिक चारित्रिक, धार्मिक, रागात्मक अथवा अन्य किसी भी विचार को सुन्दर और आकर्षक शैली में प्रस्तुत करने में समर्थ हो ।''

सूक्तियां जीवन-सत्य से परिपूर्ण होने के कारण मानस पटल पर अमिट प्रभाव छोड़ती हैं तथा इनके द्वारा कथन रोचकता और सरसता का संचार होता है ।

''मूकमाटी'' में कवि ने जिन सूक्तियों का प्रयोग किया है वे अत्यंत सारगर्भित और उपदेशात्मक हैं । तथा उनमें लोक-व्यवहार की गंधा देखी जा सकती है, जैसे-

''पापी से नहीं,
पाप से,
पंकज से नहीं,
पंक से,
घृणा करो ।
अयि आर्य !
नर से
नारायण बनो

समयोचित कर कार्य ।''[167]

× × × ×

''संयम की राह चलो,

राही बनना ही तो

हीरा बनना है,

स्वयं राही शब्द ही

विलोम-रूप से कह रहा है

रा.............. ही................ही................रा । ?''[168]

मन्द-मन्द

सुगन्धा पवन

बह रहा है

बहना ही जीवन है ।''[169]

सूक्तियों के अन्य उदाहरण :

संतकवि के काव्य में कुछ अन्य सूक्ति वाक्य इस प्रकार हैं जो उनके काव्य-सौंदर्य की सृष्टि कर रहे हैं, जैसे-वसुधैव कुटुम्बकम्, मन वांछित फल मिलना हो, उद्यम की सीमा है, भावना भव-नाशिनी, जब सुई से काम चलता है, तो तलवार का प्रहार क्यों ? कांटे से कांटा निकल जाता है, जैसी संगति होती है वैसी मति होती है । अनुकूलता की प्रतीक्षा करना सही पुरूषार्थ नहीं है, असत्य की सही पहचान ही सत्य का अवधाान है, मीठे दही से ही नहीं, खट्टे दही का मंथन करने से भी नवनीत निकलता है, अति के बिना इति से साक्षात्कार संभव नहीं, परस्परोग्रहो जीवानाम्, अधिकार का भाव आना संप्रेषण का दुरूपयोग है । सहकार का भाव आना सदुपयोग है । वासना का विलास मोह है, दया का विकास मोक्ष है पुरूष का प्रकृति में रमना मोक्ष है । सार है बदले का भाव वह दल-दल है जिसमें बुरी तरह फस जाते हैं । बोध सिंचन बिना शब्दों के पौधे कभी लहलहाते नहीं अपने को छोड़कर पर पदार्थ से प्रभावित होना, मोह का परिणाम है । वेतन वाले वतन की ओर कम ध्यान दे पाते हैं । चेतन वाले तन की ओर कब ध्यान दे पाते हैं, मृदुता और काठिन्य की सही पहचान तन से नहीं, हृदय से छूकर होती है, दुःख आत्मा का स्वभाव धार्म नहीं हो सकता, धन का जीवन पराश्रित है, परीक्षक बनने से पूर्व परीक्षा पास करना अनिवार्य है । भोग ही तो रोग है, मर हम मर हम बनें, पीड़ा की इति ही सुख का अर्थ है, श्रमण का श्रृंगार ही समता-साम्य है, सबको छोड़कर अपने आप में भक्ति होना ही मोक्ष का धाम है, अतिथि के बिना कभी तिथियों में पूज्यता आ नहीं सकती, सर्वसहा होना ही सर्वस्य हो पाना है जीवन में, मन और बैर-भाव का निधान होता ही है ।

लोकोक्तियाँ :

जनसाधारण के दैनिक अनुभवों से उपलब्ध सत्यों के उक्त वैचित्य के द्वारा व्यंजित करने वाली सूत्रत्मक प्रसिद्ध उक्तियां लोकोक्तियाँ कहलाती हैं । यह ऐक ऐसा वाक्य है जिसे अपने कथन की पुष्टि के प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है । लोकोक्ति के पीछे मानव समाज का अनुभव अथवा घटना विशेष होती है ।

महाकवि ने लोकोक्तियों का प्रयोग अपने मूकमाटी महाकाव्य मे प्रचुरता के साथ किया है । चूँकि इस महाकाव्य की सृजनभूमि बुन्देलखण्ड ही रही है । इसलिए इसमें बुन्देली भाषा का पुट सर्वत्र देखने को मिलता है-

''बांये हिरण
दायें जांय
लंका जीत
राम घर आंय ।''[170]
प्रवचन-श्रवण-कला-कुशल है,
हंस-राजहंस सदृश
क्षीर-नीर-विवेक-शील ।''[171]
लो, विचारों में समानता घुली,
दो शक्तियां परस्पर मिलीं ।
गुरवेल तो कड़वी होती ही है,
और नीम पर चढ़ी हो
तो कहना ही क्या ?''[172]
अपना हठ छोड़,
अब तो हट जा
पथ से दूर.................. कहीं चला जा,
वरना,
कांटे से ही कांटा निकाला जाता है ।''[173]
यूं कहते-कहते हास्य रस ने
एक कहावत कह डाली
कहकहाहट के साथ-
''आधा भोजन कीजिए
दुगुणा पानी पीव ।

तिगुना श्रम चंदगुणी हंसी,
वर्ष सवा सौ जीव ।''174
और सुनो,
भू का 'पना' माटी है
तभी तो ....
यह सूक्ति गुनगुना रही है,
'माटी' पानी और हवा
सौ रोगों की एक दवा,
यह उपचार तो स्वतंत्र है
अपव्ययी नहीं, मितव्ययी है ।''175

'मूकमाटी' में प्रयुक्त अन्य लोकोक्तियां इस प्रकार से हैं:-

'पूरा चलकर करो विश्राम, सुइ से काम न चले तो तलवार चलाना, दाँत मिले तो चने नहीं, चने मिले तो दांत नहीं, बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख, छोटी को बड़ी मछली साबुत निगलती है, अपनी आंख की काली अपने को नहीं दिखती, कुरूपता की अनुभूति से/कूप-मण्डूक-सी ....स्थिति है मेरी, हंस-राजहंस सदृश, क्षीर-नीर-विवेकशील, जब दवा काम नहीं करती, तब दुआ काम करती है, भीति बिना प्रीति नहीं।...प्रीति बिना रीति नहीं, तलवार के अभाव में म्यान का मूल्य ही क्या ? आदि ।

बिम्ब विधान :

''शाब्दिक दृष्टि से बिम्ब का अर्थ प्रतिमा, आकृति, रूप, चित्र आदि से माना गया है ।''176 दूसरी ओर 'भाव-गर्भित शब्द-चित्र को भी काव्य-बिम्ब कहते हैं ।''177 बिम्ब एक प्रकार से ऐन्द्रिय अनुभूति ही है जो कि मन में अंकित रहती है ।''178 तत्सम्बन्धा में कवि केदारनाथ अग्रवाल का कथन है कि- ''बिम्ब एक तरह से यथार्थ का सार्थक टुकड़ा है । फिर जो कविता जितनी शक्ति के साथ बिम्ब को सामने लाकर रखती है वह कविता उतनी ही श्रेष्ठ मानी जाती है ।''1739

बिम्ब विधान से हमारा आशय काव्य में उन शब्द-चित्रें से है जो भावात्मक होते हैं, जिनका सम्बन्ध जीवन के व्यावहारिक क्षेत्रें से तथा कल्पना के शाश्वत् जगत से होता है । जो काव्य में सरसता के जीते-जागते, चलते-फिरते और बात-चीत सी करते जान पड़ते हैं ।

जिस प्रकार अलंकार, वक्रोक्ति, प्रतीक आदि काव्य में सौंदर्य या आकर्षण उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार बिम्ब-विधान का लक्ष्य भी काव्य में भावानुभूति कराना है ।

''कवि अपनी उक्तियों को गुरूता, गंभीरता, कमनीयता, अलौकिकता, मधुरता प्रदान करने के लिये विविधा प्रकार की बिम्ब-योजना करता है ।'' इस तरह ''काव्य-बिम्ब, काव्य-अर्थ को पूर्णरूपेण स्पष्ट करते हैं, भावों को संप्रेषित एवं उत्तेजित करते हैं, वस्तु या घटना को प्रत्यक्ष करते हैं, वस्तु के रूप सौंदर्य, गुण को हृदयंगम कराते है ।''[180]

बिम्ब के भेद - डॉ. एन.पी. कुट्टन पिल्ले ने बिम्बों के चार भेद माने हैं, (अ) ऐन्द्रिय-बिम्ब, (ब) वस्तुपरकबिम्ब (स) भाव-बिम्ब (द) दार्शनिक बिम्ब ।''[181]

बिम्ब के कारण विषय मूर्तरूप धारण करता है इस दृष्टि से बिम्ब का महत्व अपेक्षाकृत काफी बढ़ जाता है । कवि बिम्ब के माध्यम से सूक्ष्म यथार्थ की संरचना करता है, जिससे काव्य का अभिव्यंजना पक्ष सबल हो उठता है, काव्य की आत्मा बने ये बिम्ब सहज, सरल, संश्लिष्ट, अलंकृत, गत्यात्मर आदि के रूप में जीवन की सूक्ष्म भावनाओं को प्रकट करते हैं जैसे-

'धरती की धावलिम कीर्त्ति वह
चन्द्रमा की चन्द्रिका को लजाती-सी
दशों दिशाओं को चीरती हुई
और बढती जा रही है
सीमातीत शून्याकाश में ।''[182]

चित्रत्मकता के आधाार पर यहां काव्य में सतरंगी आभा बिखरी हुई है । आचार्य विद्यासागर जी ने काव्य के माधयम से बिम्ब और बिम्ब के महत्व को रेखांकित किया है-

''बिम्ब का दर्शन हुआ
निज का भान हुआ
तन रोमांचित हुआ
हर्ष का गान हुआ ।''[183]

कवि ने बिम्बों के माधयम से वस्तुओं के ऐसे रूप को प्रस्तुत किया है कि उनका चाक्षुस प्रत्यक्षीकरण सरलता से हो जाता है ।

संतकवि के काव्य में प्रयुक्त बिम्बों का विवरण संक्षेप में इस प्रकार से है-

(अ) ऐन्द्रिय बिम्ब - ''जहां ऐन्द्रिय-बोध के माध्यम से बिम्बों की योजना होती है वहां ऐन्द्रिय-बिम्ब होता है । ऐन्द्रिय बिम्बों के 5 उपभेद किये गये हैं । (1) चाक्षुस या दृश्य-बिम्ब, (2) श्रव्य-बिम्ब, (3) ध्रातव्य-बिम्ब, (4) स्पर्श-बिम्ब, (5) आस्वाद-बिम्ब ।''[184]

(1) **चाक्षुस बिम्ब** - ''चाक्षुस या दृश्य-बिम्ब आकारवान होते हैं, इनका स्वरूप सबसे अधिक स्पष्ट होता है, क्योंकि उसके आयाम अधिक मूर्त होते है ।''[185]

''यह सब देखकर
भयभीत हुआ राजा का मन भी,
उसका मुख खुला नहीं
मुख पर ताला पड़ गया हो कहीं ।''[186]
-कवि गतिशील बिम्ब को इस प्रकार से प्रस्तुत करता है :-
''गजगण की गर्जना से
गगनांगन गूंज उठा
धरती की घृति हिल उठी
पर्वत-श्रेणी परिसर को भी
परिश्रम का अनुभव हुआ,
निःसंग उड़ने वाले पंछी
दिग्भ्रमित भयातुर हो,
दूसरों के घोंसलों में जा घुसे ।''[187]

2. **श्रृव्य-बिम्ब**- इस बिम्ब को कर्णों का विषय माना गया है, इनको पाठक नादद्वारा या वर्ण-ध्वनि के द्वारा करता है, आचार्य श्री ने इस तरह के बिम्बों का प्रयोग अत्यंत सुगमता के साथ किया है-

''तालाब में कमल पै अलि भा रहा हो,
संगीत ही गुण-गुणाकर गा रहा हो ।''[188]
''काले घने जलद के दल डोलते हैं,
जो व्योम में 'गड़गड़हाट' बोलते हैं ।''[189]

3. **स्पृश्य बिम्ब** - स्पृश्य-बिम्बों में स्पृश्यजन्य संवेदनों के समन्वय से बिम्ब निर्माण होता है, कोमल, कठोर आदि विशेषणों से स्पृश्य-बिम्ब का विधाान होता है । आचार्य श्री के काव्य में यह बिम्ब सामयिक-बोधा को दर्शाता हुआ वैराग्य-भावना का दर्शन कराता है-

''कभी-कभी शूल भी
अधिक कोमल होते हैं ।
फूल से भी,
कभी-कभी फूल भी
अधिक कठोर होते हैं,
शूल से भी ।''[190]

4. **घ्रातव्य बिम्ब :-** आचार्य श्री के काव्य में घ्रातव्य (संश्लिष्ट) बिम्ब का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर हुआ है, जैसे-

(अ) **"प्रज्ञा बनकर**
सूंघना ही
वरदान है ।"[191]

(ब) **"परम पुरूष महादेव को**
तृप्त परितृप्त करूँ
यह दुर्लभ सुरभि
श्रद्धा समेत
लाई हूं ...... ।"[192]

5. **आस्वाद बिम्ब-** संत कवि के काव्य में इस बिम्ब की प्रचुरता भी देखने का मिलती है । सौंदर्य के आस्वाद की अभिव्यक्ति और व्याख्या दोनों में आस्वाद परक बिम्बों का प्रयोग सरलता के साथ हुआ है । आचार्य श्री का यह बिम्ब एक तरह से अलौकिकता को धारण किए हुए हैं-

"तन से, मन से, और वचन से, तजूं अविधा हाला है,
ज्ञान-सिन्धु को मथकर पीऊं, समरस विघा प्याला है ।"[193]
"औचित्य है भ्रमर जीवन उच्च जीता,
मखखी समा मल न, पुष्प-पराग पीता ।"[194]

6. **वस्तु परक-बिम्ब :-**वस्तुपरक बिम्बों में मानव संबंधी और प्रकृति सम्बन्धी बिम्ब आचार्य विद्यासागर जी के काव्य में उपस्थित हुए हैं । यहां पर वस्तुपरक बिम्बों के कुछ उद्धरण इस प्रकार से हैं

"गज गामिनी भ्रम-भामिनी
दुबली-पतली कटि वाली
गगन की गली में अबला-सी
तीन बदली निकल पड़ी है ।"[195]
"प्रायः अपराधी-जन बच जाते
निरपराधा ही पिट जाते
और उन्हें
पीटते-पीटते टूटती दम
इसे हम गणतंत्र कैसे कहें ?"[196]

ये बिम्ब रूप सौंदर्य को रेखांकित करते हैं तथा इनमें राजनैतिक बिम्बों का स्वरूप भी झलकता है । प्रकृति संबंधी कुछ बिम्ब इस तरह के हैं :-

''प्रभाकर का प्रचंड रूप है
चिलचिलाती धूप है
निदाघ का अवसर है ।''[197]
मुदी आंखें खुलती हैं जिस भांति
प्रभाकर के कर परस पाकर
अधारों पर मंद-मुस्कान ले
सरबर में सरोजनी खिलती है ।''[198]

7. **भाव बिम्ब**-''जहां पर कवि नाना प्रकार के भावों को आधार बनाकर बिम्बों का निर्माण करता है । वहां पर भाव-बिम्ब होता है ।'' इन भाव-बिम्बों का में वेदना, प्रेम, लज्जा, मोह आदि के साथ-साथ अभिलाषा संदेह, निराशा, ईर्ष्या, आदि भावों को ऐन्द्रिय संवेध बनाने का प्रयास किया जाता है, संतकवि ने इस तरह के बिम्बों की अत्यंत सुंदर झांकी प्रस्तुत की है -

''इसलिए इन
शब्दों पर विश्वास लाओ
हां ! हां !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी ।''[199]

भाव-बिम्ब में शब्द-चित्र की झांकी कुछ इस प्रकार से देखी जा सकती है -

''समग्र संसार ही
दुःख से भरपूर है ।''- यहां पर दुःख में भाव-बिम्ब है ।
तथा ''जिज्ञासा जीवित रही शिल्पी की ।'' मैं जिज्ञासा भाव-बिम्ब है ।

आध्यात्मिक बिम्ब (दार्शनिक बिम्ब) - ''जहां कवि जीव-जगत, जन्म-मरण, माया-जाल, नियति, निर्माण आदि को आधाार बनाकर काव्यात्मक बिम्बों की रचना करता है, वहाँ आध्यात्मिक बिम्ब होते हैं ।''[200] संत कवि ने इस तरह के बिम्बों का प्रयोग अपने काव्य में किया है -

जीव - **''यह देही मतिमंद**
कभी-कभी
रस्सी को सर्प समझकर
विषयों में लीन होता है .... तो कभी
सर्प को रस्सी समझकर
विषयों में लीन होता है ।''[201]

आत्मा - ''हे ! देह के बराबर सौख्य-धाम
आत्मा अमूर्त्त-नित उसे प्रणाम
'औ' देखता सकल लोक अलोक को है,
विज्ञान गम्य, नहिं इन्द्रिय-गम्य जो है ।''[202]

परमात्मा - ''त्रैलोकनाथ जिन है ! धनहीन भी है,
हैं आप अक्षर विभो ! लिपिकहीन भी हैं
ना आप में करण-बोध शतांश मे भी
विज्ञान है विशद् किन्तु जगत प्रकाशी ॥''[203]

निर्वाण - ''बाधा न जीवित जहां, कुछ भी न पीड़ा
आती न गंधा सुख की दुःख से न पीड़ा ।
ना जन्म है मरण है जिसमें दिखाते,
'निर्वाण' ज्ञान वह है गुरू यों बताते ।''[204]

चेतना - ''सत चेतना हृदय में जब देख पाता,
आत्मा मदीय भगवान समान भाता ।''[205]

इस तरह बिम्ब-विधाान की छटा संत कवि के काव्य में सर्वत्र बिखरी हुई जान पड़ती है ।

प्रतीक विधान :

संत कवि के काव्य में प्रतीक विधान का प्रयोग भी यथास्थान किया गया है । इन प्रतीकों के माध्यम से काव्यसौंदर्य में वृद्धि हुई है । विशेष बात यह है कि आचार्य श्री के काव्य के प्रतीक अपनी एक अलग महत्ता लेकर काव्य में उपस्थित हुए हैं । जिनके प्रयोग से कवि को भावाभिव्यक्ति में काफी सफलता मिली है ।

प्रतीक की परिभाषा - विशिष्ट ध्वनि-व्यंजक शब्द ही 'प्रतीक' होते हैं, जो किसी शब्द के प्रचलित या अभिधोय अर्थ को ग्रहण करते हुये भी किसी अन्य प्रतीयमान अर्थ को सूचित किया करते है ।''[206]

''प्रतीक एक प्रकार से अस्पष्ट को स्पष्ट करने, अप्रस्तुत को प्रस्तुत करने का प्रयत्न है ।''[207]

''जब कोई अर्थ अभिधा, अभिगर्मी शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं हो पाता तब इस अर्थ को व्यक्त करने के लिये रचनाकार प्रतीक की सहायता लेता है, 'प्रतीक' अपने से भिन्न अर्थ की प्रतीति करा देता है ।''[208]

प्रतीकों का प्रयोग अनेक प्रयोजनों से किया जाता है, कहीं गोपनीय को छिपाने कहीं सूक्ष्म भावों और अधयात्म तत्वों तक पहुंचने के लिये, कहीं व्यक्तीकरण को सरल बनाने के लिये । ''प्रतीक'' हमें काव्य में अनुभूति की गहरां तक ले जाते हैं और गूढ़ार्थ व्यंग्यार्थ जल में महल की छाया जैसा झिलमिलाने लगता है । प्रतीक किसी न किसी भाव या तत्व का बोध कराता है ।

''प्रतीक कुछ परम्परागत होते हैं, कुछ वास्तविक और अर्न्तदृष्टिमूलक तथा कुछ देशगत, व्यक्तिगत, ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक होते हैं, जिनका प्रयोग कवि भावातिरेक की अभिव्यक्ति के लिये करता है ।''[209]

संतकवि आचार्य श्री विद्यासागर के काव्य में अनेक प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है । इन प्रतीकों के कारण काव्य में सौंदर्य की सृष्टि हुई है । महत्वपूण बात इन प्रतीकों में यह है कि इनमें नवीनता के साथ-साथ विविधता, मार्मिकता, स्वाभाविकता और आध्यात्मिकता का स्वरूप भी देखने को मिलता है। आचायश्री के काव्य में कतिपय प्रतीकों के उदाहरण इस प्रकार से हैं-

''सरिता तट की माटी
अपना हृदय खोलती है
मां धारती के सम्मुख ।''[210]
× × × × ×
मंगल कामना मुखरित होती है
मछली के मुख से
यही मेरी कामना है
कि
आगामी छोरहीन काल में
बस इस घट में
काम न रहे ।''[211]

इन उद्धरणों में प्रकृति (निसर्ग) के पदार्थ / प्राणी, विचार, भावना का प्रतिनिधित्व करने से प्राकृतिक प्रतीक हैं, जिनमें माटी,मछली क्रमशः- निरीह प्राणी भव्य आत्मा और यायावर की प्रतीक है । कविवर के काव्य में अन्य प्रतीकों के उदाहरण इस प्रकार से है-

''घृति कहती है
अब घोर नहीं
.... भोर मिले ।''[212]
''आकाशीय विशाल दृश्य भी
इसीलिए

शून्य होता जा रहा है ।''[213]

''लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन

रावण हो या सीता

राम ही क्यों न हो

दण्डित करेगा ही ।''[214]

जो वर्द्धमान होकर मानाती है

उनके पदों में प्राणिपात करो ।''[215]

कवि ने उक्त उद्धरणों के द्वारा सांस्कृतिक, पोराणिक, आध्यात्मिक, प्रतीकों का प्रयोग कर काव्य-सौंदर्य की वृद्धि की है ।

आचार्य श्री के काव्य में शास्त्रीय प्रतीकों के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं । इन प्रतीकों का प्रयोग कवि ने यथास्थान किया है-

''परिवार की शरण में जाना ही

पतवार को पाना है

और

अपार का पार पाना है ।''[216]

''प्रशस्त आचार-विचार वालों का

जीवन ही समाजवाद है ।''[217]

'एक्सरे' हमें हृदय अन्दर का दिखाता

तो कैमरा शकल ऊपर की दिखाता ।''[218]

''99 वह विधान माया छलना है

और 9 की संख्या वह

अजर-अमर अविनाशी ।''[219]

''छह के अंकों तीन हो, विश्वशांति का योग ।''[220]

राजनीति से संबंधित एक प्रतीक का उदाहरण इस तरह से है-

''प्रायः अपराध जन बच जाते

निरपराध ही पिट जाते

इसे हम गणतंत्र कैसे कहें ?

यह तो शुभ धनतंत्र है

या

मनमाना 'तन्त्र' है ।''[221]

उपर्युक्त प्रतीकों के अलावा भी अन्य प्रकार के प्रतीक काव्य में स्वमेव ही आ गये है जिनके उदाहरण इस तरह से देखे जा सकते हैं-

''कभी मिथ्यात्व मगरमच्छ
कभी कषाय हिमालय की
हिमानी चट्टानें
मुझे चूर-चूर करने की
हिम्मत करतीं हैं।''222

''उन कदमों में
मखमल मुलायम
अच्छी अहिंसा पलती है
साथ ही साथ
उन कलमों में
हिंसा की दुगणी ज्वाला जलती हैं।''223

यहाँ पर 'कदम' चलने और कलम क्रांति की प्रतीक है संतकवि के काव्य में जो प्रतीक अक्सर दुहराये गये हैं उनमें प्रतीकात्मक भाव निम्न प्रकार से देखा जा सकता हैं, अर्थात विद्यासागर मुक्त पुरूष का, वाणी-अमृत की अध्यात्म-सरोवर का, तुम्बी-तरण-तारण की, चंद्रमा-घूसखोरी का कुंभ, महायान का, कला- सुखशांति की, सोने की, मिट्टी-वैभव की, सूर्य-न्याय का, मणिमुक्ता-स्थितप्रज्ञ का, कंकर- दोषों का हिमखण्ड- अवरोधों का, शंकर- परमात्मा का, भविष्य -दिवास्नान का, गीता- समताभाव की, अंधकूप -सांसारिक दुःख का, धूप-आनंद का, कलियुग- असत्य का, बबूल - अहं का, मोम- मृजुता का, जड़ता-मूर्खता का, अणु-विज्ञान का, अग्नि- कसौटी की, अवा संसार के, गुरूचरण - मानसरोवर के, स्वर्ण-पूंजीवाद का, दीपक-आदर्श का, परिवार -अभय का, झील-शील की, फूल- अनुकूलता का, शूल- प्रतिकूलता का, जीव-शाश्वत निधि का प्रतीक है। गधा- धौर्य का प्रतीक है, मरहम-उपचार के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है, इन्द्रियाँ- खिड़कियों, तन-भवन का प्रतीक है। कछुआ -लक्ष्य का, खरगोश-प्रमाद का प्रतीक है। सोम-आनन्द का प्रतीक है। शोध-अनुभूति का प्रतीक है, भ्रमर-सभ्यता का, मक्षिका- असभ्यता का प्रतीक है। कामदेव-संसार-राग का, और महादेव-मुक्ति-विराग का प्रतीक है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य श्री ने प्रतीकां की एक लम्बी सूची अपने काव्य के माध्यम से उपलब्ध कराई है, ये प्रतीक हमारे मस्तिष्क को आंदोलित कर एक 'सोच' की दिशा प्रदान करते है। इन प्रतीकों में अध्यात्म, समाज और दर्शन की एक ऐसी भावभूमि दिखाई देती है जो हमें चिंतन की ओर अग्रसर करती है।

शब्दार्थ संधान :

'मूकमाटी' की प्रस्तावना में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने रचनाकार के गुणों की ओर इंगित करते हुए लिखा है- ''कवि के लिए अतिशय आकर्षक है शब्द का, जिसका प्रचालित अर्थ में उपयोग करके वह उसकी संगठना को व्याकरण की शान पर चढ़ाकर नयी धार देते हैं, नयी-नयी परतें उघाड़ते हैं। शब्द की व्युत्पत्ति उसके अंतरंग अर्थ की झांकी तो देती है, हमें उसके माध्यम से अर्थ के अनूठे और अछूतों आयामों का दर्शन होता है।''[224]

शब्दों के नवीन अर्थों को खोजने के लिए संत कवि ने मुख्य रूप से पाँच पछतियों का आश्रय लिया है। पर ये सारी की सारी पद्वतियाँ 'मूकमाटी' महाकाव्य में ही देखने को मिलती हैं-

1. **वर्ण - विश्लेषण**
2. **वर्ण - सन्निधि**
3. **पद - भंग**
4. **निर्वचन**
5. **वर्ण - विपर्यय**

1. वर्ण - विश्लेषण :

वर्ण- विश्लेषण के अंतर्गत शब्द के एक-एक वर्ण का विश्लेषण करके उनके अर्थो में नवीन प्रकार के अर्थ की उद्भावना की गई है।

आचार्य श्री ने ' कुंभकार' का अर्थ भाग्य -विधाता सिद्ध करते हुए कहा है-

कुंभकार !
'कुं' यानी धारती
और
'म' यानी भाग्य
यहां पर जो
भाग्यवान भाग्य- विधाता हो
कुंभकार कहलाता है।''[225]

इसी तरह 'कला' शब्द से भी नवीन अर्थ की उद्भावना की गई है-

कला - क = आत्मा -सुख
ला = लाना - देना

संत कवि के शब्दों में -

'कला' शब्द स्वयं कह रहा है कि
'क' यानी आत्मा -सुख है

'ला' यानी लाना - देना है
कोई भी कला हो
कला मात्र से जीवन में
सुख -शांति सम्पन्नता आती है।''[226]

2. वर्ण - सन्निधि :

संत कवि ने संगीत के सप्त स्वरों में वर्ण- सन्निधि के द्वारा नवीन अर्थ को स्पष्ट किया है-

'' सा.......रे....ग....म यानी
सभी प्रकार के दुःख
पंथ यानी ! पद- स्वभाव
और
नि-यानी नहीं
दुःख आत्मा का स्वभाव -धर्म नहीं हो सकता,
इन सप्त-स्वरों का भाव समझना ही
सही संगीत में खोना है
सही संगी को पाना है।''[227]

पद-भंग :

आचार्य श्री द्वारा अनेक स्थानों पर पद-भंग द्वारा नवीन अर्थों की उद्भावना की गई है। यहाँ पर कवि का बुद्धि कौशल और काव्य- प्रतिभा देखते ही बनती है, तत्सम्बन्ध में मूकमाटी के कतिपय उद्धरण इस प्रकार से हैं-

गदहा - गदा-हा-रोग हन्ता
मेरा नाम सार्थक हो प्रभो
यानी
'गद' का अर्थ है रोग
'हा' का अर्थ है हारक
मैं सबके रोग का हन्ता बनूँ
.... बस
और कुछ बाँधा नहीं
गद-हा......गदहा।

संसार - सं-सार- सम्यक् रूप में सरकने वाला ही संसार है-

सृ धाातु गति के अर्थ में आती है,

सं यानी समीचीन

सार मानी सरकाना.....................

जो सम्यक् सरकता है

वह संसार कहलाता है।''229

बैखरी- वै-खरी- निश्चय ही खरी

सज्जन मुख से निकली वाणी

'वै' यानी निश्चय ही

'खरी' यानी सच्ची है

सुख-सम्पदा की सम्पादिका।''230

निर्वचन :

पद-भंग द्वारा शब्दार्थ- सिद्धि हेतु निर्वाचन शैली भी अपनाई गई है। आचार्य श्री साधना और चिंतन से शब्दों में एक प्रकार से अनुपम छटा का आभास होता है, जैसे-

आदमी - आ-दमी-संयमी

संयम के बिना आदमी नहीं

यानी

आदमी वही है

जो यथा- योग्य

सही आ......दमी है।''231

कृपाण- कृपा-न = कृपालु नहीं

''कृपाण कृपालु नहीं है

वे स्वयं कहते हैं

हम हैं कृपाण

हम में है कृपा न !

रसना -रस- ना = रस (आनंद) नहीं

मुख से बाहर निकली है रसना

थोड़ी-सी उलटी-पलटी

कुछ कह रही -सी लगती है-

भौतिक जीवन में रस ना ।''232

वर्ण-विपर्यय :

भाषा-विज्ञान में ध्वनि के अंतर्गत वर्ण- विपर्यय का विवेचन देखने को मिलता है। लेकिन वहाँ इसके कारण अर्थ में परिवर्तन नहीं होता है, संत कवि ने वर्ण-विपर्यय (विलोम रूपों द्वारा) के

माध्यम से नवीन अर्थो को बतलाया है,

जैसे -

याद = दया

'स्व' की याद ही
स्व-दया है
विलोम रूप से भी
यही अर्थ निकलता है
या.......द......द.......या।''[233]

राही = हीरा

''संयम की राह चलो
राही बनना ही तो
हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही
विलोम -रूप से कह रहा है-
रा......ही.........ही.........रा।''[234]

लाभ = भला

''सुख या दुःख के लाभ में भी
भला छुपा हुआ रहता है,
देखने से दिखता है समता की आँखों से,
लाभ शब्द ही स्वयं
विलोम रूप से कह रहा है-
ला.......भ................भ....ला ।''[235]

कतिपय स्थानों पर शब्द की पुनरूक्ति द्वारा अर्थ- मंगिमा का विधान हुआ है। इस दृष्टि से 'पानी' शब्द का उदाहरण काफी सटीक जान पड़ता है-

''हे भावी, प्राणी!
पानी को तो देख,
और अब तो
पानी-पानी ही जो ....।''[236]

निम्न उदाहरण में भी भंगपद द्वारा 'परखो' तथा 'अलनालो' में भी यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है-

'' किसी विध मन में
मत पाप रखो,
पर, खो उसे पल-भर
परखो पाप को भी
फिर जो भी निर्णीत हो
हो अपना, लो, अपना लो उसे।''[237]

कहीं कहीं संतकवि ने अपने चिंतन के माधयम से स्वानुभूत परिभाषाऐं भी निर्मित की हैं जैसे-

'' संगीत उसे मानता हूँ
जो संगातीत होता है
और प्रीत उसे मानता हूँ
जो अंगातीत होती है।''[238]

उपर्युक्त शब्द-संधान के अलावा संत-कवि ने जो अपनी प्रतिभा और ज्ञान के द्वारा अन्य प्रकार के प्रयोग किये हैं, वह प्रयोग अपने आपमें किसी जादुई चमत्कार से कम नहीं है। यहाँ पर हम आचार्य श्री द्वारा प्रयोग किये गये इसी तरह के शब्दों को उद्घृत करेंगे-

नमन्ः
न-मन हो
तब कहीं
नमन् हो समण की।

यहाँ 'न-मन' का अर्थ है मन नहीं, परन्तु 'नमन्' का अर्थ है चंचलता का अभाव अर्थात स्थिरता/मन की एकाग्रता ही समण के नमन् का आधार है।

पायस/पा यश/पायस ना/पाय-सना-
माटी के कुम्भ में भरे पायस ने
पान-दान से पा यश
उपशम-भाव में कहा, कि
तुम में पायस ना है
तुम्हारा पाय सना है।''[239]

यहाँ प्रथम पंक्ति में पायस का अर्थ 'जल' है। द्वितीय पंक्ति में 'पा यश' का अर्थ-यश प्राप्त करो। तीसरी पंक्ति में 'पायस' ना का अर्थ अपवित्रा है। अंतिम पंक्ति में 'पायसना' का अर्थ पैर-सना हुआ है। इस प्रकार कवि ने एक ही शब्द को पृथक-पृथक रूपों में अभिव्यंजित किया है।

न यापन/नयापन/नैयापन -

जीवन का, नयापन ही
नयापन है
और
नैयापन।''[240]

'न यापन' का अर्थ है - गुजारा न करना। 'नयापन' नया शब्द को बताता है। 'नैयापन' का अर्थ है -नौका का भाव अर्थात मुक्ति।

राजसत्ता/राजसता -

राजसत्ता वह राजसता की
रानी-राजधानी बनेगी।''[241]

'राजसता' का अर्थ-विलास, मादकता, विखण्डन है। वह राजसत्ता शब्द राजनैतिक प्रभुता की प्रतीति कराता है।

आचार्य श्री के काव्य में कहीं-कहीं पर एकल शब्दों की पुनरावृत्ति से नवीन अर्थों की प्रतीति होती दिखाई देती है, यथा-

बात/वात

बात करता वात है

प्रथम 'बात' का अर्थ 'चर्चा' व द्वितीय 'वात' का अर्थ 'हवा' है।

कर पर कर दो।''[242]

प्रथम 'कर' का अर्थ 'हाथ' व द्वितीय 'कर' का अर्थ 'टैक्स' है।

क्या वह परस का परस चाहेगा।''[243]

यहाँ प्रथम 'परस' का अर्थ 'पारस' व द्वितीय 'परस' का अर्थ स्पर्श है।

मर, हम मरहम बनें।''[244]

यहाँ पर 'मर', 'हम' का अर्थ हम मरकर व 'मरहम' का अर्थ 'दवा' के लेप से है

'मैं दो गला'
इससे पहला भाव यह निकलता है कि
मैं द्विभाषी हुँ
× × × ×
छाती, धूर्त्त, मायावी हूँ
× × × ×
'मैं, यानी अहं को
दो गला-कर दो समाप्त।''[245]

रचनाकार ने भावों की सरल अभिव्यक्ति के लिए अनेक शब्दों की नवीन व्युत्पत्तियाँ की है। कवि ने इन व्युत्पत्तियों के द्वारा दार्शनिक व आध्यात्मिक भाषों की सुन्दर अभिव्यंजना की है जैसे-

हरिता हरी वह किससे ?
हरि ही हरिता फिर
किस काम की रही ?''[246]

यहाँ पर प्रथम 'हरिता' का अर्थ 'हरावन' व द्वितीय 'हरिता' का अर्थ 'विष्णुत्व' है।

त्रहि मां ! त्रहि मां ! त्रहि मां !!!
यों चिल्लाता हुआ
राक्षस की ध्वनि में रो पड़ा
तभी उसका नाम
रावण पड़ा।''[247]

'रावण' शब्द 'रव' से बना है। रव का अर्थ है- आवाज करना। रचनाकार ने रक्षार्थ सदन को रावण माना है।

श्रम करे सो श्रमण ।''[248]

'श्रमण' शब्द के दो अर्थ, प्रतिपादित होते हैं द्ध1ऋ श्रम द्ध2ऋ राम अर्थात जो 'श्रम' करके 'राम' हो जाय वही सच्चा श्रमण है।

छन्द विधान :

''छन्द'' शब्द 'छद' धाातु में असन् प्रत्यय लगने से बना है, जिसका तात्पर्य प्रसन्न करना बांधना आदि है।''[249] वाल्मीकि जी ने छंद को स्वर के साथ संगीत से सम्बद्ध माना है। श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के अनुसार- ''जिस पद रचना में मात्र,वर्ण, यति, गति के नियम और अंत में तुक का विध ान हो उसे 'छंद' कहते हैं।''[250]

'छंद' का सृजन साधना के द्वारा होता है। ''छंद'' की साधना मनुष्य को देवता बनाती है, जिस कवि को '' छंद'' रूपी रत्न का साक्षात्कार हुआ हो उसे ऐसा ही विषय खोजना चाहिए, जिससे मनुष्य देवता बने। लोभ, मोह, आहार, निद्रा, संकीर्ण स्वार्थ के धरातल से ऊपर उठे।''[251]

'छंद' को कविता का परम्परागत रून न मानकर काव्यात्मा की महत्वपूर्ण सृष्टि माना गया है, यह सृष्टि एक मधुर बंधन की है, जो काव्य के प्रवाह को नियंत्रि कर, भावों में सुव्यवस्था का संचार करती है। वस्तुतः छन्दोबद्धता काव्य का वह मूल तत्व है जो गद्य से उसका व्यावर्तन करता है, अतएव काव्य और छंद का सहज एवं अविछिन्न सम्बन्ध है।''[252]

''छंद'' की आत्मा ''लय'' को माना गया है, ''लय'' गति और 'यति' के पारस्परिक संद्यात से निष्पन्न होती है, 'छंद' उसी का नियोजित रूप है, यदि कविता मं लय नहीं तो वह कविता नहीं ।''[253]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''छंद'' लय है। कविता का जो जीवंत या आंतरिक स्वरूप है वह ''लय'' है। कविता का सर्वांग सौंदर्य मात्र, वर्ण, गुरू, लघु के बंधनों में गढ़े हुए छंदों की नींव पर नहीं वरन् 'लय' की बुनियाद पर टिक जाता है, कविता की बुनियादी मांग ''लय'' है।''[254]

अतः हम यह कह सकते हैं कि ''छंद'' काव्य का मनोरम संगीत है। छंद काव्य-शैली के रूप-विधान के साथ-साथ कृतिकार की अनुभूति पूर्णभाव दशा की अभिव्यक्ति के साधन भी हैं, छंद के कारण काव्य की शक्ति बढ़ जाती है।

छन्द के प्रकार

छन्द के तीन प्रकार माने गये हैं- (अ) वर्णिक छंद (ब) मात्रिक छन्द तथा (स) मुक्त छंद। संक्षेप में इनका विवरण इस प्रकार है-

(अ) वार्णिक छन्द -'' जिन छंदों में वर्णो की संख्या और उनका क्रम निश्चित होता है, उन्हें वार्णिक छंद कहते हैं।''[255] शिखरिणी, मन्दक्रांता, वसंततिलका आदि वर्णिक छंद हैं।

(ब) मात्रिक छंद -''जिन छंदों में मात्रओं की संख्या निर्धारित रहती है, उन्हें मात्रिक छंद कहते हैं।''[256] रोला, दोहा, आर्या आदि मात्रिक छंद हैं।

(स) मुक्तक छंद -''जिन छंदों में न वर्णों की संख्या और न क्रम का ध्यान रखा जाता है और ना ही मात्रओं का ध्यान रखा जाता है, केवल 'लय' प्रवाह के आधार पर ही जिनकी रचना होती है, उन्हें 'मुक्तक छंद' कहते हैं।''[257]

संत कवि आचार्य विद्यासागर जी के काव्य -संसार में हमें तीनों प्रकार के छंद देखने को मिलते हैं। वर्णिक छन्दों में परम्परागत वसंततिलका, मंदाकांता छंद सर्वाधिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं, वहीं मात्रिक छंदों में 'दोहा' भी कवि के लिए अत्यंत प्रिय रहा है। साथ ही साथ कवि ने स्वनिर्मित ज्ञानोदय छंद का सृजन कर छंदशास्त्र के लिए नवीन उपहार दिया है। इसी तरह मात्रिक छंदों में नवीन छंदों के प्रयोग किये हैं, जिनमें गेयता, लयात्मकता और संगीत के स्वर झंकृत होने लगते हैं। कवि द्वारा प्रयुक्त छंद- विधान रस विशेष की सृष्टि करते हैं। सामान्य रूप से काव्य में छंद योजना, भाव, भाषा, प्रसंग और शैली के अनुरूप हुई है। कवि ने जिन छंदों का प्रयोग मुख्य रूप से अपने काव्य में किया है वह इस प्रकार से हैं-

(अ) वर्णिक छंद - जिन छंदों में वर्णों की संख्या और उनका क्रम निश्चित होता है, उन्हें वार्णिक छंद कहते हैं। संत कवि ने वर्णिक छंदों का प्रयोग अत्यंत उदारता के साथ किया है। आचार्य श्री द्वारा प्रयुक्त छंदों का विवरण इस प्रकार है-

मंदाक्रांता छंद -मंदाक्रांता छंद के प्रत्येक चरण में एक मगण (SSS) एक भगण (SII) एक नगण (III) दो तगण (SSS+ SSI) और दो (SS) मिलाकर 17 वर्ण होते हैं, तथा 4,6,7 वर्णो पर यति होती है।''258

''प्यारा बेटा सुन वचन तो, तू कहा जा रहा है,
मेरा जी तो तब विरह से, कष्ट हाँ पा रहा है।
एकाकी तूं वन गहन में हा, न जा लाल मेरा,
कैसा होगा, सुतप तपना, खिन्न भी काय तेरा।''259

इस छंद का प्रयोग कवि ने स्तुति और स्त्रोतों की रचना में किया है जो शांतरस की वृद्धि करने में काफी सहायक बने हैं।

वसंत तिलका छंद :

इस छंद को सिंहोन्नता छंद भी कहते हैं। इस छंद में तगण (SSI) भगण (SII) दो जगण (ISI+ ISI) और अंत में दो गुरू (S+ S) के क्रम से 14 वर्ण होते हैं, साथ ही 7-7 वर्णों पर यति होती है।''260

संतकवि ने इस छंद का प्रयोग कंकी किया है-

''ऐसी मुझे दिख रही तुम भाल पे है,
जो बाल की लटकती लट गाल पे है।
तालाब में कमल पे अलि भा रहा हो,
संगीत ही गुण गुणा कर गा रहा हो।''261

इस छंद का एक और उदाहरण इस प्रकार से है-

''लालित्यपूर्ण कविता लिख के तुम्हारी,
होते अनेक कवि हैं, कवि नाम धारी
मैं भी सुकाव्य लिखके, कवि तो हुआ हूँ
आश्चर्य तो यह निजानुभवी हुआ हूँ ।''262

मात्रिक छंद :

(1) सममात्रिक छंद :

आचार्य श्री ने नवीन छंदों की सृष्टि करते हुए 17-17 मात्रओं वाले छंदों का भी प्रयोग किया है। इस तरह के छंदों के उदाहरण इस प्रकार हैं-

13-13 मात्राओं का सम-मात्रिक नवीन छंद -

दया का कथन निरा है।
दया का वतन निरा है।''263

27-27 मात्रओं का सम-मात्रिक नवीन छंद -

''चेतन की इस सृजन-शीलता का मान किसे है ?
चेतन की इस द्रवणशीलता का ज्ञान किसे है ?''264

37-37 मात्रओं का छंद

''कभी किसी दशा पर, इसकी आँखों में करूणाई छलक आती है।
कभी किसी दशा पर, इसकी आँखों में अरूणाई झलक आती है।'''265

12-12 मात्रओं का छंद

झर-झर झरता झरना
कहता चल-चल चलना
उस सत्ता से मिलना
पुनि-पुनि पड़े न चलना।''266

इसी तरह सम मात्रओं वाला एक छंद इस प्रकार है-

''समता अरूणिमा बढ़ी
उन्नत शिखर पर चढ़ी
निज दृष्टि निज में गढ़ी
धन्यतम् है यह घड़ी।'''267

16-16 मात्रओं का चौपाई छंद का प्रयोग -इसके प्रत्येक चरण में 16-16 मात्रऍं होती है।''268

''जो रति रखता कभी न पर में, सुख का बनता घर वह पल में।
विषय-विषम-विष को तुम त्यागो,पी निज सम रस को भवि जागो''269

16-16 मात्रओं के छंद भी अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं-

''नई पलक में नया पुलक है
नई ललक में नयी झलक है
नये भवन में नये छुवन हैं,
नये छुवन में नये स्फुरण हैं।''270

अर्द्ध सम- मात्रिक छंद :

ऐसे छंद जिनमें प्रथम एवं तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में समान मात्रऐं हैं, अर्द्ध सम-मात्रिक पद कहलाते हैं।''[271]

दोहा :

इसके प्रथम और तृतीय चरणों में 13 मात्रऐं तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में 11 मात्रऐं होती हैं। इस तरह प्रत्येक दल में 24 मात्रऐं होती है। अंत में लघु होता है।''[272]

आचार्य श्री के काव्य में यह छंद बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है-

''शरण- चरण हैं आपके, तारण-तरण जहाज।
भवदधि तट तक ले चलो, करूणाकर गुरूराज॥''[273]

प्रथम और तृतीय में 13 मात्रऐं, द्वितीय तथा चतुर्थ में 11 मात्रयें होने से दोहा अर्द्धसम-मात्रिक छंद है

''तुम पद पंकज से प्रभो, झर-झर झरी पराग।
जब तक शिव- सुख न मिले, पीऊं पग पद जाग॥''[274]

अर्द्धसम -मात्रिक छंद भी आचार्य श्री के काव्य में प्रयुक्त हैं-

''गगन का प्यार कभी,
घरा से हो नहीं सकता
मदन का प्यार कभी
जरा से हो नहीं सकता।''[275]

प्रथम और तृतीय चरण में 11 मात्रऐं तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में 14 मात्रऐं प्रयुक्त हुई हैं। कवि ने इसी छंद को ''सामयिक -बोध'' हेतु भी प्रयुक्त किया है-

''क्या तन संरक्षण हेतु
धर्म ही बेचा जा रहा है ?
क्या धन संवर्धन हेतु
शर्म ही बेची जा रही है।''[276]

यहाँ प्रथम और तृतीय चरण में 13 मात्रऐं तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में 16 मात्रऐं हैं। इसी तरह अर्द्वसम- मात्रिक छंद का प्रयोग देखा जा सकता है।

''कभी -कभी शूल भी,
अधिक कोमल होते हैं, फूल से भी
कभी- कभी फूल भी
अधिक कठोर होते हैं, शूल से भी।''[277]

यहाँ प्रथम और तृतीय चरण में 11 तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में 20 मात्रऐं होती है।

''हृदय से कहां हटाया,
विषय - राग को।
हृदय में कहां बिठाया,
.......वीतराग को।''278
''राग विराग से मिलने
आकुल है
पंक पराग से मिलने
आकुल है।''279

विषय मात्रिक छंद :

जिन छंदों के प्रत्येक चरण में पृथक -पृथक मात्रऐं होती हैं और विषम- मात्रिक छंद कहते हैं।'''280

''माटी के प्राणों जा, पानी ने वहाँ
नव प्राण पाया है।
ज्ञानी के पदों में जा, अज्ञानी ने जहां
नव ज्ञान पाया है।''281

प्रथम चरण में 23 मात्रऐं, द्वितीय एवं चतुर्थ में 12 मात्रऐं तथा तृतीय चरण में 14 मात्रऐं हैं।

''संहार की बात मत करो
संघर्ष करते जाओ।
हार की बात मत करो
उत्कर्ष करते जाओ।।''282

प्रथम चरण में 15 मात्रऐं, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ चरण में 13-13 मात्रऐं है।

प्रकृति -चित्रण में छंद का स्वरूप इस प्रकार है-

''पलाश की हंसी -सी साड़ी पहनी
गुलाब की आभा नीकी पड़ती जिससे।
लाल पगतली वाली लाली रची
पद्मनी की शोभा सकुचाती है जिससे।।''283

प्रथम चरण में 20, द्वितीय चरण में 22, तृतीय चरण में 19, चतुर्थ चरण में 23 मात्रऐं हैं।

''काया के मिलन से, माया के छलन से

ऊब गया है यह
भटकता - भटकता, विपरीत दिशा में
खूब गया है यह।''[284]

इसके प्रथम चरण में 22, द्वितीय और चतुर्थ चरण में 10, तृतीय चरण में 20 मात्रऐं है। इसी तरह लय और गेयता में यह विषम मात्रिक छंद इस प्रकार है-

''सत्य अहिंसा जहां लस रही, मृषा, हिंसा को स्थान नहीं।
मधुर रस-मय जीवन वहीं, फिर स्वर्ग- मोक्ष तो यही-यही।

इसी प्रकार से-

''वही विज्ञान है - ज्ञान है, निज रीत
जिसका पुनः कथन नहीं है।
वही उत्थान है, - थान है, प्रिय संगीत,
जिसका पुनः पतन नहीं है।''[286]

यहाँ प्रथम चरण में 19, द्वितीय और चतुर्थ चरण में 15 तथा तृतीय चरण में 21 मात्रऐं हैं जैसे-

''चंदन चन्दर शीतल क्या ?
धू-धू करती ज्वाला से क्या ?
कुंदन कुंकुम से क्या ?
दल-दल पंकिल से क्या ?''[287]

इन पंक्तियों में क्रमशः 14,16,12,13 मात्रओं के प्रयोग से विषम छंद है।

मुक्तक छंद-

''जिन छंदों में न वर्णों की संख्या और न क्रम का ध्यान रखा जाता है और न मात्रओं का ही ध्यान किया जाता है, केवल लय प्रवाह के आधार पर ही जिसकी रचना होती है, उन्हें मुक्तक छंद कहते हैं।''[288]

आधुनिक काल में निराला जी ने इसकी शुरूवात की थी, इसके सम्बन्ध में संतकवि का कथन है कि-''यह कृति जो आधुनिक शब्द- विन्यासों, विविधा भावाभिव्यंजनाओं एवं छंद-बन्ध-मुक्त, उन्मुक्त लय धाराओं से आकृष्ट है, सहज गति से भावगांभीय युक्त है।''[289] मुक्त काव्य साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलाता है, जो साहित्य कल्याण के मूल में होती है।

संतकवि के काव्य में जहाँ वर्णिक, मात्रिक छंदों की बहुलता है, वहीं मुक्तक छंद की भी

बहुलता है, जो गेयात्मक, लयात्मक है। यहाँ पर हम आचार्य श्री के मुक्त छंदों के सम्बन्ध में विवेचना करेंगे-

(क) लय एंव तुक युक्त -मुक्त छंद :

''कवि ने ऐसे मुक्त छंद पर्याप्त मात्र में लिखे हैं जिनकी सभी पंक्तियाँ स्वतंत्र एवं उन्मुक्त हैं, जिनमें कहीं - कहीं पर तुकें मिलती हैं-

'' जब तक तेरा पुण्य का
बीता नहीं करार
तब तक तुझको माफ है
चाहे गुनाह करो हजार।''[290]

इसी प्रकार तुकांत मुक्त छंद हमें अपनी सरसता से सराबोर कर देता है-

''षड्रस नवरस
ये रस नहीं
गमनागम्य अदृश्य
रस गुण की विकृतियाँ
क्षणिक जड़ की कृतियाँ
आत्मा अरस रहा
रसातीत
समरस रसिया
निज रस लसिया
निज घर बसिया।''[291]

(ख) तुकहीन मुक्त छंद :

''तुम स्वर्ण हो
उबलते हो झट से
माटी स्वर्ण नहीं है
पर
स्वर्ण को उगलती अवश्य,
तुम माटी के उगाल हो।''[292]

इसी तरह तुलनात्मक अलंकार ''दीपक और मशाल'' को विवेचित करता हुआ तुकमुक्त

छंद इस प्रकार है -

''हे स्वर्ण कलश
तुम तो हो मशाल के समान
कलुषित आशयशाली
और
माटी का कुंभ है
पथ-प्रदर्शक दीप-समान
तामस-नाशी
साहस सहस स्वभावी।''293

इस प्रकार कवि ने रसानुकूल छंदों का प्रयोग किया है। 'ज्ञानोदय छंद' संत कवि का स्व-निर्मित छंद है जिसका प्रयोग कवि ने अत्यंत मनोयोग पूर्वक किया है। छंद-शास्त्र की दृष्टि से कवि का यह छंद एक प्रकार से सर्वथा मौलिक ही माना जायेगा।

ज्ञानोदय- छंद

''नयन मनोहर किरणावली छवि आप देह से उछल रही।
बाल भानु की घुति सम भाती धारती छू के मचल रही।।
नर, सुर से जो भरी सभा को ललित लाल अति करा रही।
पधारागमय पर्वत जिस विधि स्वीयपार्श्व को विभामयी।।''294

आर्या-छंद

आर्या छंद के प्रयोग भी कहीं कहीं पर आचार्य श्री ने किये हैं-

इस छंद के प्रथम और तृतीय पद में 12-12 मात्रऐं एवं द्वितीय पद में 18 मात्रऐं तथा चतुर्थ पद में 15 मात्रऐं होती हैं। 'श्रुत-बोध श्लोक', कल्याण मंदिर स्तोत्र' काव्य-संग्रह में इस छंद का प्रयोग हुआ है-

''जन नयन कुमुद चन्द्र!परम स्वर्गीय भोग को भोग।
वे वसुकर्म नाशकर, पाते शीघ्र मोक्ष को लोग।।'''295

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य श्री ने अपने काव्य-सृजन में छंदों को संकलित न करके उन्हें स्वमेव ही आने दिया है। यही कारण है कि ये छंद काव्य सौदर्य की श्री वृ) में सहायक रहे हैं । संतकवि ने कुछेक नवीन छंदों का सृजन करके काव्य-कला को उदात्त बनाया है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आचार्य श्री का भाववक्ष जितना सबल है कलापक्ष भी उतना ही वैविध्यपूर्ण है, भाषा के तो वे प्रकाण्ड पण्डित हैं, इसीलिए विविध भाषाओं की अनुपम छटा उनके काव्य में सर्वत्र देखने को मिलती है, शब्द शक्तियों में अभिध, लक्षणा, व्यंजना का स्वरूप, काव्य गुणों का वैशिष्ट्य अलंकारों की आभा, मुहावरे लोकोक्तियाँ और कहावतें, बिम्ब, प्रतीक और छंद विधान आदि की दृष्टि से संतकवि ने अपनी जिस कलात्मकता का परिचय दिया है वह अपने आपमें अन्यतम् है।

संदर्भ-सूची

1. आचार्य विद्यासागर के साहित्य में जीवन-मूल्य (शोध- प्रबंध) श्रीमती निधि गुप्ता (अप्रकाशित) पृ.-260
2. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.-2
3. वही, पृ.-89
4. वही, पृ.-28
5. तोता क्यों रोता ? आचार्य विद्यासागर, पृ.-52
6. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ.-106,107
7. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.-73
8. दोहा-दोहन, आचार्य विद्यासागर, पृ.-25
9. वही, पृ.-23
10. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 365
11. वही, पृ.-378
12. वही, पृ.-366
13. वही, पृ.-261
14. मूकमाटी (प्रस्तावना- लक्ष्मीचन्द्र जैन) आचार्य विद्यासागर, पृ.- 8
15. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 295
16. वही, पृ.-28
17. वही, पृ.-40
18. वही, पृ.-62
19. वही, पृ.-49
20. वही, पृ.-99
21. वही, पृ.-38
22. वही, पृ.-56,57
23. वही, पृ.-87
24. वही, पृ.-53
25. वही, पृ.-124
26. वही, पृ.-344,345
27. आचार्य विद्यासागर के साहित्य में जीवन-मूल्य, श्रीमती निधि गुप्ता,पृ.-368

28. काव्य प्रकाश, आचार्य मम्मट, 2/6
29. वही, 2/8
30. साहित्य दर्पण, आचार्य, विश्वनाथ, 2/4
31. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ-7
32. वही, पृ.-110
33. वही, पृ.-117
34. वही, पृ.-197
35. वही, पृ.-29
36. वही, पृ.-134
37. वही, पृ.-142
38. वही, पृ.-108
39. वही, पृ.-86
40. वही, पृ.-124
41. वही, पृ.-353,354
42. काव्य प्रकाश, आचार्य मम्मट, पृ. 2/9
43. मूकमाटी, पृ. 01
44. वही, पृ.-17
45. वही, पृ.-20
46. वही, पृ.-22
47. वही, पृ.-29
48. वही, पृ.-35
49. वही, पृ.-39
50. वही, पृ.-55
51. वही, पृ.-56
52. वही, पृ.-67
53. वही, पृ.-74
54. वही, पृ.-76
55. वही, पृ.-91
56. वही, पृ.-114
57. वही, पृ.-116

58. वही, पृ.–359
59. काव्य प्रकाश, आचार्य मम्मट, पृ. - 1/4
60. ध्वन्यालोक- आचार्य आनन्दवर्धन, पृ. - 1/13
61. कारिकावली, श्लोक - 164
62. साहित्यदर्पण, पं. विश्वनाथ, पृ- 2/14-15
63. काव्यप्रकाश, 2/19 की व्याख्या
64. मूकमाटी, पृ.–22
65. वही, पृ.–33
66. वही, पृ.–336
67. वही, पृ.–40
68. वही, पृ.–27
69. वही, पृ.–76
70. वही, पृ.–78
71. वही, पृ.–114
72. वही, पृ.–305
73. वही, पृ.–46
74. वही, पृ.–12
75. वही, पृ.–51
76. वही, पृ.–52
77. वही, पृ.–238
78. वही, पृ.–121
79. वही, पृ.–434
80. वही, पृ.–74
81. वही, पृ.–354
82. वही, पृ.–64
83. मूकमाटी, पृ.–365,366
84. रसगंगाघर, भूमिका, पृ- 43
85. काव्यालंकार, आचार्य वामन, 3/1/1,
86. रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन, राजकुमार पाण्डेय, पृ- 365
87. साहित्य दर्पण, 8/1

88. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ- 5
89. वही, पृ.-132
90. नर्मदा का नरम कंकर, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 62
91. काव्य प्रकाश, आचार्य मम्मट, पृ- 8/70
92. सुनीतिशतक, पद्य- 2
93. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ- 91,
94. काव्यालंकार, आचार्य भामह, पृ- 1/217
95. रसगंगाधर, भूमिका, पृ- 51
96. काव्यालंकार सूत्र, आचार्य वामन, 1/219
97. निरंजनशतक, हिन्दी, पद्य- 8
98. मूकमाटी पृ- 127
99. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, 9/3
100. मूकमाटी, पृ- 237
101. ज्ञानोदय हिन्दी, पद्य- 9
102. मूकमाटी, पृ. - 240
103. मूकमाटी, पृ-240
104. साहित्यिक निबन्धा, डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृ- 10
105. अलंकार, छंद- विधान, गणेशदत्त शर्मा, पृ- 16
106. वही, पृ.-17
107. वही, पृ.-17
108. काव्यशास्त्र, आचार्य भगीरथ मिश्र, पृ- 147
109. वही, पृ.-147
110. अलंकार, छंद- विधान, गणेशदत्त शर्मा, पृ-17
111. वही, पृ.-20
112. वही, पृ.-23
113. वही, पृ.-24
114. वही, पृ.-23
115. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ- 35
116. मूकमाटी, पृ- 01
117. दोहा- दोहन, पृ- 12

118. रस-दोष, छंद अलंकार निरूपण, डॉ. मनहर, गोपाल, पृ- 94
119. वही, पृ- 94
120. वही, पृ- 94
121. तोता क्यों रोता ? आचार्य विद्यासागर, पृ- 17
122. रस-दोष, छंद, अलंकार विवेचन, डॉ. मनहर गोपाल, पृ- 93
123. मूकमाटी, पृ- 147
124. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर, प ृ- 42
125. अलंकार, छंद- विवेचन, गणेशदत्त शर्मा, पृ- 95
126. मूकमाटी, पृ.- 452
127. रस-दोष, छंद अलंकार, निरूपण, डॉ. मनहरगोपाल, पृ - 93
128. मूकमाटी, पृ- 88
129. काव्यशास्त्र, आचार्य भगीरथ मिश्र, पृ- 153
130. मूकमाटी, पृ. - 295
131. काव्यशास्त्र, आचार्य भागीरथ मिश्र, पृ- 158
132. इष्टोपदेश, पद- 49
133. काव्यशास्त्र, आचार्य भगीरथ मिश्र, पृ- 160
134. मूकमाटी, पृ- 251
135. रस-दोष, छंद- अलंकार निरूपण, डॉ. मनहर गोपाल, पृ- 106
136. मूकमाटी, पृ- 469
137. रस-दोष, छंद, अलंकार निरूपण, डॉ. मनहर गोपाल, पृ- 106
138. कलशागीत, आचार्य विद्यासागर, पद- 58
139. रस-दोष, छंद, अलंकार, निरूपण, पृ- 106
140. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ- 33
141. काव्याशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ- 168
142. विद्याकाव्य भारती, पृ- 58
143. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ- 175
144. मूकमाटी, पृ- 85
145. रस-दोष, अलंकार छंद निरूपण, डॉ. मनहर गोपाल, पृ- 104
146. दोहा-दोहन, पृ.- 19
147. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ- 166

148. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ.-43
149. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ- 43
150. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ.-66
151. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ.- 168
152. मूकमाटी, पृ.- 192
153. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ.- 179
154. मूकमाटी, पृ.- 190
155. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ.- 157
156. मूकमाटी, पृ.- 324
157. काव्यशास्त्र, पृ.-163
158. कल्याणमंदिर स्त्रेत, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 41
159. काव्यशास्त्र, पृ.-180
160. मूकमाटी, पृ.- 8
161. रस-दोष, छंद, अलंकार, निरूपण, डॉ. मनहर गोपाल, पृ.- 107
162. रयणमंजूषा, आचार्य विद्यासागर, पृ.-17
163. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.-479
164. वही, पृ.-479
165. वही, पृ.-450
166. वृहत, हिन्दी कोश, संपादक- श्री कालिका प्रसाद आदि, पृ.- 195
167. वही, पृ.-51
168. वही, पृ.-57
169. वही, पृ.-02
170. वही, पृ.-25
171. वही, पृ.-113
172. वही, पृ.-236
173. वही, पृ.-256
174. वही, पृ.-133
175. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.-400
176. हिन्दी साहित्य, जी.एस.राणा, पृ.-08
177. पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त, डॉ. कृष्णदेव शर्मा, पृ.-144

178. साहित्यिक निबन्ध, डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, पृ.-32
179. पाश्चात्य काव्य-सिद्वान्त, डॉ. कृष्णदेव शर्मा, पृ.-32
180. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 252, 254
181. पंत-काव्य में विम्वयोजना, डॉ. एन.पी.कुट्टन पिल्ले, पृ.-44
182. मूकमाटी, पृ.- 222
183. वही, पृ.-346
184. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृ.-305
185. पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त, डॉ. कृष्णदेव शर्मा, पृ.-145
186. मूकमाटी, पृ.-213
187. वही, पृ.-429
188. विद्याकाव्य भारती, पृ.- 44
189. वही, पृ.-106
190. मूकमाटी, पृ.- 99
191. नर्मदा का नरम कंकर, आचार्य विद्यासागर, पृ.-100
192. वही, पृ.-98
193. विद्याकाव्य भारती, आचार्य विद्यासागर, पृ.-78
194. कलशागीत, आचार्य विद्यासागर, पृ.-39
195. मूकमाटी, पृ.- 199
196. वही, पृ.-271
197. तोता क्यों रोता, आचार्य विद्यासागर, पृ. - 65
198. मूकमाटी, पृ.- 215
199. वही, पृ.-488
200. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृ. - 308, 309
201. मूकमाटी, पृ.-462
202. इष्टोपदेश, पद- 21
203. कल्याणमंदिर स्त्रेत, पद- 30
204. जैनगीता, पद- 617
205. विद्याकाव्य भारती, पृ.- 28
206. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, पृ.-515
207. साहित्यिक निबंध, राजनाथ शर्मा, पृ.-520

208. प्रतीक और प्रतीक विज्ञान, डॉ. मृषभ कुमार जैन , पृ.-23
209. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृ.-515
210. मूकमाटी, पृ.- 04
211. वही, पृ.-77
212. डूबो मत लगाओ डुबकी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 01
213. मूकमाटी, पृ.-26
214. वही, पृ.-217
215. वही, पृ.-481
216. वही, पृ.-472
217. वही, पृ.-461
218. जैनगीता, पद्य - 696
219. मूकमाटी, पृ.- 167
220. दोहा- दोहन, पृ.- 22
221. मूकमाटी, पृ.- 271
222. नर्मदा का नरम कंकर, पृ.-11
223. डूबो मत लगाओ डुबकी, पृ.- 39
224. मूकमाटी (पुस्तवन-लक्ष्मीचन्द्र जैन) आचार्य विद्यासागर, पृ.-8
225. मूकमाटी, पृ. - 28
226. वही, पृ.-396
227. वही, पृ.-305
228. वही, पृ.-40
229. वही, पृ.-161
230. वही, पृ.-403
231. वही, पृ.-64
232. वही, पृ.-180
233. वही, पृ.- 38
234. वही, पृ.- 56, 57
235. वही, पृ.- 87
236. वही, पृ.- 53
237. वही, पृ.- 124

238. वही, पृ.- 344, 345
239. वही, पृ.- 364
240. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 381
241. वही, पृ.- 104
242. वही, पृ.- 173
243. वही, पृ.- 139
244. वही, पृ.- 175
245. वही, पृ.- 168
246. वही, पृ.- 179
247. वही, पृ.- 98
248. वही, पृ.- 362
249. भारतीय पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डॉ. कृष्णदेव शर्मा, पृ.- 187
250. छन्द प्रभाकर, पृ.- 01
251. कल्पलता, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ.- 145
252. आधुनिक हिन्दी काव्य में छंद योजना, कु.इन्दू राय, पृ.- 01
253. नई कविता, डॉ. जगदीश गुप्त, अंक-3, पृ.-6-7
254. वही, पृ.- 37, 38
255. अलंकार, छंद विवेचन, गणेश शर्मा, पृ.- 110
256. वही, पृ.- 110
257. वही, पृ.- 110
258. अलंकार, छंद विवेचन, गणेश शर्मा, पृ.- 138
259. श्रद्धांजलि काव्य (आचार्य शिवसागर स्तुति), आचार्य विद्यासागर, पद-1
260. रस-दोष छंद अलंकार, निरूपण, डॉ. मनहर गोपाल, पृ.- 80
261. विद्याकाव्य भारती, पृ.- 44
262. वही, पृ.- 42
263. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 72
264. वही, पृ.- 151
265. वही, पृ.- 151
266. मुक्तक शतक, आचार्य विद्यासागर, पद- 8
267. वही, पृ.- 60

268. अलंकार, छन्द विवेचन, गणेश शर्मा, पृ.-113
269. मुक्तक शतक, पद- 72
270. स्फुट रचना, आचार्य विद्यासागर, पृ.-30
271. रस-दोष, छंद अलंकार निरूपण, डॉ. मनहर गोपाल, पृ.-72
272. वही, पृ.- 77
273. मूकमाटी, पृ.- 325
274. वही, पृ.- 77
275. दोहा- दोहन, आचार्य विद्यासागर, पृ.- 9
276. मूकमाटी, पृ.- 201
277. वही, पृ.- 99
278. नर्मदा का नरम कंकर, पृ.- 01
279. तोता क्यों रोता ? पृ.-73
280. रस-दोष, छंद अलंकार निरूपण, डॉ. मनहर गोपाल, पृ.- 78
281. मूकमाटी, पृ.- 89
282. वही, पृ.- 432
283. वही, पृ.- 200
284. चेतना के गहराव में, पृ.-73
285. स्फुट काव्य रचना (समाचार पत्र- पृ.-15) आचार्य विद्यासागर पृ.-167
286. तोता क्यों रोता ? पृ.- 04
287. नर्मदा का नरम कंकर, पृ.- 92
288. अलंकार छंद विवेचन, गणेश शर्मा, पृ.- 110.
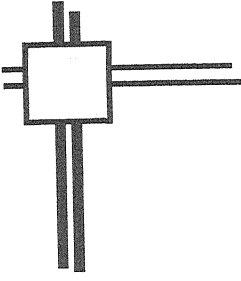
अध्याय-छः

आचार्य प्रवर का प्रकृति चित्रण

- प्रकृति का स्वरूप
- प्रकृति और मानव
- प्रेम तथा सौंदर्य
- आचार्य विद्यासागर के काव्य में प्रकृति चित्रण

प्रकृति चित्रण के विविध आयाम :

- (शिशिर ऋतु, वसन्त ऋतु, ग्रीष्म ऋतु, वर्षा ऋतु)
- आलम्बन रूप में
- उद्दीपन रूप में
- आलंकारिक रूप में
- रहस्यात्मक रूप में
- उपदेशात्मक रूप में
- मानवीकरण रूप में
- प्रतीक एवं विम्बात्मक रूप में
- संवेदनात्मक रूप में
- वातावरण के रूप में
- संदेशवाहक के रूप में
- प्रकृति, पुरूष के रूप में
- निष्कर्ष
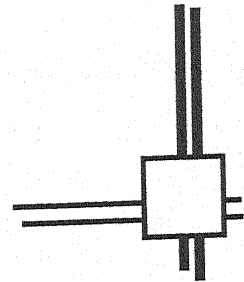
आचार्य प्रवर का प्रकृति चित्रण

प्रकृति का स्वरूप :

प्रकृति और मानव का जन्म-जन्म का साथ है। जीवन प्रकृति की गोद में ही पलता है। प्रकृति के मानव सुख दुःख की साथी है। प्रकृति की गाथा, मानव मात्र की आनन्द कष्टमयी, संयोग-वियोगमयी, योग-भोगमयी प्रवृत्ति-निवृत्तिमयी, लैकिक-पारलैकिकमयी भावनाओं की गाथा है।

प्रकृति की विविधरंगी, इन्द्रधनुषी अठखेलियां जहां भोगी को आकर्षित करतीं हैं, वहीं उषाकालीन स्वर्णिम लालिमा और सांध्यकालीन क्षितिज की रक्तिम आभा योगी को अमूल्य संदेश भी देती है। प्रेम के संयोगपक्ष में आनन्द-प्रदायिनी और वियोगपक्ष में उत्त्तकारिणी प्रकृति का साथ न तो भोगी छोड़ सकता है और न योगी/फिर चिंतक और कवियों की तो बात ही अलग है।

प्रकृति का काव्य के साथ अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य की सरसता, रसिकता और चिंतन, प्रकृति से ही प्राप्त होता है। दृश्य प्रकृति मनुष्य जीवन को अथ से इति तक चक्रवात की तरह घेरे रहती है प्रकृति के विविध कोमल-परूष सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मानव की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है, इसका लेखा-जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी रहेगा। वस्तुतः संस्कार-क्रम में मनुष्य का भावजगत ही नही, उसके चिंतन की दिशाऐं भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय द्वारा तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित है।[1] प्रकृति की सुकुमारता ने मनुष्य को चन्द्रिकाओं के हिंडोले पर झुलाया, झर-झर झरते झरनों की मध ुर ध्वनि ने लोरी गायी, प्रातः की अरूणिमा ने उसके जीवन में नवीन, स्फूर्त्ति का संचार किया। इन सबसे विमुग्ध मानव प्रकृति के झंझावतों, गहन जलराशि की उफनती लहरों के प्रकोप और उल्कापातों की अग्नि-स्फुलिंगों से भयभीत हुआ। इस भय ने उसकी संघर्षवृत्ति को प्रेरणा दी। उसकी बुद्धि का विकास होता गया। मनुष्य कारणों और निराकरणों के उपायों को खोजने लगा। मनुष्य व्यथित और चिन्तित हुआ तो प्रकृति की सुस्निग्ध शीतल दायिनी मन्द सुगन्धित पवन ने उसकी श्रांति और क्लान्ति को हर लिया। अन्ततोगत्वा इन सबसे उसने ज्ञान पाया, जिसका स्त्रोत कभी शुष्क नहीं होता।

"आदिकाल के मानव ने जब चेतना उपलब्ध की तो उसने स्वयं को हिमाच्छदित उत्तुंग पर्वत श्रेणियों से परिवृन्त पाया। उसने अगाध जलराशि का अवलोकन किया। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों ने अपनी नियत गति द्वारा उसे विस्मित कर दिया, श्याम जलद-खण्ड और वसुधा की विभूति को देखकर वह चकित और आश्चर्यान्वित हो उठा। समस्त भू-मण्डल उसके लिए आश्चर्य और कौतूहल का विषय हो

गया और इस प्रकार सर्वप्रथम उसके चेतन में मस्तिष्क में प्रकृति के अलैकिक, अनन्त और अपार अंगों के प्रति विस्मय और कौतूहल के भाव उदय हुए।[2]

सहृदयों, संवेदनशीलों और प्रकृति-सौन्दर्य के उपासकों के लिए, प्रकृति सहचरी, उपदेशिका और ईश्वरीय शक्ति है। काव्य में प्रकृति-चित्रण एक स्वाभाविक और अनिवार्य प्रक्रिया है। संवेदनशील कवि विमुग्ध प्रेमी की तरह, आतुर वियोगी की तरह, स्नेहिल भाई-बन्धु और ममतामयी मां की दृष्टि से प्रकृति के नैसर्गिक सौंदर्य को निहारता है। वह उसके आश्रय में नूतन भावों का स्पन्दन अनुभव करता है। उसकी अभिव्यक्ति की साधना और युगपरिवेश के प्रभावों की नाप-तोल करता है।

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने किसी भी प्रबन्धकाव्य में नदी, पेड़, सरोवर आदि प्रकृति के वर्णन को आवश्यक बतलाता है। किन्तु युग परिवेश में ये नियम अपनाएं ही नही जाते। किन्तु, यह निश्चित है कि प्रकृति के साहचर्य से उद्भूत कवि के भाव, विचार, चिंतन और संदेश कालजयी बन जाते हैं। उसका साहित्यिक रूप सार्वकालिक और सार्वजनीन बनने की क्षमता से मुक्त हो जाता है। प्रकृति ने मनुष्य में सौंदर्यबोध जगाया और उद्बुद्ध मनुष्य ने प्रकृति में नवीन सौंदर्य खोजा।[3]

प्रकृति सुन्दरी, कवि के काव्य में कहीं अपने शुद्ध आलम्बन-रूप में प्रकट होती है, तो कहीं उपदेशिका के रूप में। कहीं वह घटनाओं और विचारों की पृष्ठभूमि का काम करती है तो कहीं अलंकारिक रूप में काव्य-चरित्रों को अलंकृत करती है तो कहीं उपमान-रूप में कवि की सहचरी बनीं, भावाभिव्यक्ति में सहायक बनती है। तो कहीं ईश्वरीय सत्ता की झलक दिखाती इुई कवि को दार्शनिक बना देती है। कहीं बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में उसके भावों को सम्प्रेषणीय और गम्य बनाती है कहीं स्वयं मानवी की तरह अनूठी अठखेलियां करती है। तो कहीं उद्दीपन-रूप में आशा-निराशा, संयोग-वियोग और उत्थान-पतन के मार्ग को सहज बनाती है।

प्रकृति और मानव

प्रकृति से मानव का घनष्ठि सम्बन्ध रहा है। प्रकृति और मानव हमेशा से ही एक दूसरे के पूरक रहे हैं। प्रकृति की प्रेरणा मनुष्य के जीवन में जहां एक ओर ऊर्जा का संचार करती है। तो वहीं दूसरी ओर उसे यह भी सिखलाती है कि मानव को सतत् कर्मशील रहना चाहिए। सरिता मानव को यह सिखलाती है कि सदैव गतिशील बने रहो, क्योकि गतिशील बने रहने में ही जीवन की सार्थकता है। वृक्षों पर खिले हुए पुष्प प्रेरित करते हैं कि उसे सदैव मुस्कराते हुए रहना चाहिए। पवन का संचरण जहॉ हमें एक ओर जीवनदायिनी शक्ति प्रदान करता है। वहीं सूर्य का प्रकाश हमें सतत् ताजगी का अहसास कराता है। चन्द्रमा की शीतल चाँदनी सदैव दूसरों को अपने आचरण से मृदु व्यवहार का संदेश देती है। वृक्षों पर लटकते हुए फल यह संकेत करते हैं कि नमता को जीवन में धारण करो तथा परोपकार को अंगीकार कर दूसरों के हितार्थ अपने आपको समर्पण कर दो। ऐसा करने से जीवन में पवित्रता का संचार होगा और पवित्रता हमारे तन-मन को इस प्रकार शुद्ध-बुद्ध बनायेगी मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन एक प्रकार से प्रकृति द्वारा ही संचालित होता है। प्रकृति ही धरित्री के समस्त जीवों का निर्माण और पालन-पोषण करती है। इस सृष्टि का प्रत्येक प्राणी प्रकृति के अधीन है। जिन पाँच तत्वों अर्थात-पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु से मिलकर इस शरीर का निर्माण हुआ है ये पाँच तत्व जब मिलकर एक हो जाते

हैं तो मानव का निर्माण होता है, लेकिन जब मानव मृत्यु को वरण करता है तो ये पाँचों तत्व अपने अपने मूल अस्तित्व रूप में विलीन हो जाते है।

आदिकाल से मानव हिमालय पर्वत की वर्फ आच्छादित उत्तुंग श्रेणियों को निहारता हुआ अपने आप को गौरवान्वित अनुभव करता आ रहा है, सागर की विशाल जलराशि उसे मंत्रमुग्ध करती रही है। धरित्री के सौंदर्य को देखकर वह विस्कारित नेत्रों से उसे एकटक देखता ही रह गया। प्रकृति ने उसकी अन्तश्चेतना में नाना प्रकार के कौतुहल को जन्म दिया है, इस कौतुहल को उसने अनेक रूपों में अनुभव किया है। कभी उसे प्रकृति ममतामयी माँ के रूप मे जान पड़ती है, तो कभी सहचरी और प्रेमिका के रूप में, कभी उसे प्रकृति दुलहिन के रूप में श्रृंगार किये हुए नजर आती है तो कभी उदास और हताश भी पतझड़ के रूप में दिखाई देती है, प्रकृति के ये नानाविध रूप उसके जीवन में नानाप्रकार के भावों का निर्माण करते रहते हैं और ये भाव ही कवि की थाती बनकर कविता का सृजन करते हैं।

अतः मैं यह कह सकती हूँ कि मनुष्य का प्रकृति के साथ अत्यंत प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। प्रकृति मनुष्य के तन, मन, प्राण में रची-बसी है। प्रकृति से अलग होकर हम मानव के सच्चे स्वभाव और स्वरूप का आकलन नहीं कर सकते। हमें जीवन के महत्व के साथ प्रकृति के मूल्य और उपयोगिता को समझना अपरिहार्य है।

प्रेम तथा सौन्दर्यः

प्रकृति को प्रेम और सौंदर्य का खजाना माना गया है, प्रेम मानव जीवन की अनिवार्यता है। यह एक ऐसा तत्व है जिसके अभाव में जीवन शुष्क और बेजान सा लगने लगता है, इस धरित्री का प्रत्येक प्राणी, जीव-जन्तु, चेतन-अचेतन सभी प्रेम के लिए आतुर और व्याकुल दिखाई देते हैं। पशु-पक्षियों में इस प्रेम की पराकाष्ठा भी देखने को मिलती है। चकई-चकवा, मोर-मोरनी, सारस-सारसी, के प्रेम को कौन नही जानता? ये मूक जीव-जन्तु भी प्रेम की भषा को भली-भाँति जानते हैं। कुछ वस्तुगत प्रेम के उदाहरण भी देखे जा सकते हैं, जिनमें हारिल पक्षी का लकड़ी से प्रेम, पपीहे का स्वाति नक्षत्र की बूँद से प्रेम, पतंगा का दीपक की लौ से प्रेम, मीन का जल से प्रेम, धरित्री का आकाश से प्रेम-ये सब इस बात के घोतक हैं कि यह पृथ्वी प्रेम तत्व से लबालब भरी हुई है, प्रेम तत्व के कारण ही इसमें सर्वत्र स्पन्दन दिखाई देता है। यह स्पन्दन ही हमारी जाग्रत चेतना का प्रतीक है और इसकी सतत् प्रेरणा हमें प्रकृति के द्वारा ही अनादिकाल से मिल रही है।

जहाँ तक सौंदर्य का सवाल है तो वह इस धरित्री के कण कण में व्याप्त है। प्रकृति का सतरंगी सौंदर्यकारी स्वरूप, झर झर झरते हुए झरनों की कल कल ध्वनि, प्रातः कालीन वेला में सूर्य की रक्तिम किरणों की आभा, शीतल, मंद, सुगंधयुक्त मलय पवन का संचरण, उद्यान में चिकटती हुई कलियों का सौदर्य, पुष्पों पर गुंजार करते हुए भौंरे, ये सबके सब मनुष्य की सौंदर्य चेतना को बरबस ही जाग्रत कर देते है। ऐसा लगता है कि प्रकृति के इस अतुल वैभवपूर्ण सौंदर्य को देखकर मानव का मन बावला हो गया हो फिर हिन्दी साहित्य में शायद ही ऐसा कोई कवि होगा जिसे प्रकृति ने प्रभावित न किया हो, छायावाद तो एक प्रकार से प्रकृति का गुलदस्ता ही माना जाता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि प्रकृति, प्रेम और सौंदर्य की ऐसी धरोहर है जिसे कभी विस्मृत नही किया जा सकेगा।

आचार्य विद्यासागर के काव्य में प्रकृति-चित्रण:

आचार्य विद्यासागर के सम्पूर्ण काव्य में प्रकृति चित्रण जगह-जगह पर देखने को मिलता है, यद्यपि प्रकृति चित्रण का विस्तृत वर्णन उनके 'मूकमाटी' महाकाव्य में देखा जा सकता है। आचार्य श्री ने इस महाकाव्य में अनेक स्थानों पर प्रकृति चित्रण के काल्पनिक दृश्य निर्मित किये हैं। वैसे इस महाकाव्य का प्रारंभ भी प्रकृति चित्रण से ही किया गया है। महाकाव्य के प्रथम खण्ड की प्रथम पंक्ति ही पाठक को प्रकृति की ओर ले जाती है-

''सीमातीत शून्य में,
नीलिमा बिछाई,
और उधर.......नीचे,
निरी नीरवता छाई।''[4]

कविश्री ने पूर्व दिशा में प्रात: काल जो लालिमा देखी है वे उसका मात्र वर्णन ही नहीं करते, बल्कि कुछ समय के लिए वे पूर्व दिशा को ही एक सुन्दरी की तरह मान लेते हैं-

''प्राणी के अधरों पर
मन्द मधुरिम मुस्कान है
सर पर पल्ला नहीं है
और
सिन्दूरी धूल उड़ती सी
रंगीन राग की आभा
भायी (ई) है, भाई।''

किन्तु कवि पाठक को उस सुन्दरी के दर्शन नहीं होने देता। वे केवल स्वयं उस दृश्य का आनन्द भाषा के माध्यम से उठाते हैं-

लज्जा के घूँघट में
डूबती सी कुमुदनी
प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह
अपनी पराग को
सराग मुद्रा को
पाँखुरियों की ओट देती है। ''[5]

'' जहाँ लज्जा का घूंघट'' पंक्ति पाठक को गुदगुदी पैदा करती है, फिर डूबती सी कुमुदनी पाठक के समीप नायिका का आभास कराती है ''प्रभाकर के कर छुवन से'' सूर्य की किरणों द्वारा जैसे पाठक को ही स्पर्श किया जा सकता हो तथा अन्तिम पंक्ति ''पंखुरियों की ओट देती है'' में किसी सुन्दर युवती द्वारा दोनों हथेलियों से अपना मुखचन्द्र छुपाने का प्रयास किया जा रहा हो।

आचार्य विद्यासागर जी की कल्पनाशीलता मूकमाटी में देखते ही बनती है, जब वे धरती माता के चेहरे का वर्णन करते हुए कांति की आभा बिखेर देते हैं-

जिसके
सत्-छलों से शून्य
विशालभाल पर

गुरू गंभीरता का
उत्कर्षण हो रहा है
जिसके
दोनों गालों पर गुलाब की आभा ले
हर्ष के संवर्धन से
दृग-बिन्दुओं का अविरल
वर्षण हो रहा है। ''6

कवि इतना ही नहीं, जब वे आगे प्रभात का परिचय कराने में भाषा और व्याकरण से परे केवल कल्पना के द्वारा भारी सफलता अर्जित करते हैं तो देखते ही बनता है-

''प्रभात आज का
काली रात्रि की पीठ पर
हलकी लाल स्याही से
कुछ लिखता सा है कि
यह अन्तिम रात है।''7

''यहाँ प्रभात के द्वारा रात्रि की पीठ पर कुछ लिखना'' पाठक के आनंद को कई गुना बढ़ा देता है, यहाँ पर निश्चित रूप से एक चरित्रवान नागरिक इन पंक्तियों को पढ़ने के उपरांत क्षण भर के लिए कल्पना के द्वारा अपने परिवार के मध्य आ जाता है, जहाँ उसकी पत्नी उसका इंतजार कर रही होती है, ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति मुख्य रूप से दो स्थितियों पर विचार करता है (1) वह भी अपनी पत्नी की पीठ पर पर कुछ इसी तरह से लिखता रहा है (2) विगत वर्षो में या अभी तक उसने पीठ पर क्यों नहीं लिखा? यह चित्रण अपनी जीवंतता के कारण सोचने पर विवश करता है।

वास्तव में इस तरह का मौलिकताओं से युक्त दुर्लभ प्रकृति का चित्रण किसी अन्य महाकाव्य में देखने को नहीं मिलता।

सूती और रेशमी साड़ियाँ किसी न किसी बड़ी मिल में सदैव निर्मित होती रहतीं हैं, पर मूकमाटी के महाकवि ने हरिताभ की साड़ी को प्रकाश में लाकर कल्पना का जो स्वरूप निर्मित किया है वह आज के कवियों के समक्ष एक नवीन आदर्श को सामने रखता है। नूतन सर्जना का यह एक अभिनव प्रयोग ही माना जायेगा। आचार्य श्री कहते हैं-

''उपहार के रूप में
कोमल कोपलों की
हल्की आभा घुली
हरिताभ की साड़ी
देता है रात को ।''8

भला ऐसी कल्पनाओं के चित्र मृत तूलिका कैसे बना सकती है? उसके लिए तो जीवंत विचार ही सहायक हो सकते हैं कवि के ।

ऐसा माना जाता है कि कवि अपनी कल्पना के माध्यम से ऊँची से ऊँची उड़ान भर सकता है, इसी कल्पना के द्वारा कवि बोरी में भरी हुई माटी के आकार को देख लेता है। वह कहता है-

''सावरणा, साभरणा
लज्जा का अनुभव करती

नवविवाहिता तनूदरा ।''

जिस प्रकार लेखक अपनी रचना से वार्ता कर लेता है, उसी तरह उनका पात्र शिल्पी माटी से बातचीत करता है, मगर कवि ने बातचीत को इतनी जीवंतता प्रदान कर दी है कि माटी एक महानायिका की तरह पाठकों के मस्तिष्क में प्रवेश करती है, जब शिल्पी मिट्टी से पूछता है-

''सात्विक गालों पर तेरे
घाव से लगते हैं
छेद से लगते हैं
संदेह सा हो रहा हैं
भेद जानना चाहता हूँ
यदि कोई बाधा न हो तो
बताओगी चारूशीले।''[9]

यहाँ कविता में नहीं, चित्रण का चमत्कार शिल्पी के प्रेमभरे सम्बोधन में है, जब वह पूछता है-बताओं ''चारूशीले।'' यह ''चारूशीले'' शब्द पाठक के मस्तिष्क के तारों को झनझना देता है और शब्द की गरिमा और सौंदर्यबोध से किसी सुन्दर रूप में तलाशने लग जाता हे।

प्रात:कालीन बेला में 'सूरज' का उदित होना एक प्राकृतिक घटना है। जो नित्यप्रति घटती रहती है। सूर्य के कारण धूप का प्रसारण होता है। यह भी स्वाभाविक है। सूर्य और धूप के मध्य एक स्वाभाविक रिश्ता है जिसे हम जानते हैं पर इस सत्य को कवि ने कुछ अलग ही प्रकार से अनुभव किया है-

''दिनकर ने अपनी अंगना को
दिन भर के लिए
भेजा है उपाश्रम की सेवा में
और वह आश्रम के अंग-अंग को
आँगन को चूमती सी..............
सेवानिरत...........धूप................।''[10]

कवि ने यहाँ पर धूप को सूर्य की अंगना सम्बोधित कर एक नवीन तथा सर्वथा मौलिक रिश्ते का उद्घोष किया है जो अन्यत्र देखने में नहीं आता। कवि ने यहाँ पर 'आंगन' के बाद 'अंगना' शब्द का प्रयोग कर भाषायी चमत्कार को बल दिया है।

मूकमाटी महाकाव्य का प्रथम खण्ड प्रकृति वैभव से परिपूर्ण है लेकिन दूसरे खण्ड में आचार्य श्री ने प्रकृति के प्रति अपने आकर्षण को नहीं दर्शाया है पर 'तीसरा खण्ड' रचनाकार के चिंतन और प्रकृति के पावन स्पर्श से भरा पड़ा है। आचार्य श्री इस खण्ड में एक दृश्य के बारे में चर्चा करते हुए कहते हैं कि आकाश से बादल बृष्टि कर रहे हैं धरित्री की विपुल जलराशि अपने साथ सबकुछ बहाकर सागर की ओर प्रस्थान करती है। इस दृश्य को कवि इन पंक्तियों में रेखांकित करता है-

''बसुधा की सारी सुधा
सागर में आ एकत्र होती।''[11]

यहाँ पर कवि धरती पर पानी के साथ बहे हुए अनेक पदार्थों को 'सुधा' का सम्बोधन देकर अपने कवित्व के स्तर को काफी ऊँचाईयाँ प्रदान करता है।

आचार्य श्री प्रकृति की सुकुमार भावनाओं को स्पष्ट करने के साथ-साथ उस प्रकृति के अच्छे ज्ञाता भी हैं। वे आकाश में तीन बदलियों को उड़ता हुआ देखकर उन पर सम्मोहित हो जाते हैं। लगता

है वे तीन बदलियाँ न होकर तीन अल्हड़ सहेलियाँ हों, कवि लिखता है-

गजगामिनी भ्रम भामिनी
दुबली पतली कटि वाली
गगन की गली में अबला सी
तीन बदली निकल पड़ी हैं।
दधि धवला साड़ी पहने
पहली बाली बदली वह
ऊपर से
साधनारत साहवी लगती है
रतिपति प्रतिकूला-मतिवाली
पति-मति अनुकूला गतिवाली।

प्रथम बदली इतनी दिव्य है पर उसके पीछे पीछे चलने वाली दूसरी बदली जो कि मध्य में चल रही है का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

''बिजली बदली ने
पलाश की हँसी (जै) सी साड़ी पहनी
गुलाब की आभा फीकी पड़ती जिससे
लाल पगतली वाली, लाली रची
पद्‌मिनी की शोभा सकुचाती है जिससे।''

पर तीसरी बदली का चित्रण भी कम महत्वपूर्ण नही है। जब कवि लिखता है-

''नकली नहीं असली
सुवर्ण की साड़ी पहन रखी है
पिछली बदली ने।''[12]

यहाँ पर कवि बदलियों के वर्णन के माध्यम से तरूणियों के रूप लावण्य को उपस्थित कर देता है। कवि की दृष्टि का परिचय एवं प्रभाव यहाँ पर इतना बारीक है कि प्रकृति के परिदृश्य अतिरिक्त क्षमताऐं धारण किये हुए दृष्टिगत होते हैं।

''मूकमाटी में कहीं कहीं पर विचित्र संदर्भ भी देखने को मिलते हैं, उस समय जब कवि अपने एक पात्र 'बादल' के द्वारा समुद्र का पक्ष लेते हुए सूरज को डाँट पिलाता है। यद्यापि यहाँ पर कवि ने सीधा-सीधा सूर्य को नहीं डांटा, कथा के एक पात्र ने उस पर क्रोध उतारा है। जब बादल नक्षत्रों के मध्य अपने पांडित्य का डंका बजाते है तो वरिष्ठ दिवाकर को आड़े हाथों लेते हैं-

''अरे खर प्रभाकर सुन
भले ही गगनमणि कहलाता है तू
सौर-मण्डल देवता-गृह
गृह-गणी में अग्र
तुझमें व्यग्रता की सीमा दिखती है?
अरे उग्र शिरोमणि
तेरा विग्रह..........यानी
देह धारण करता वृथा है

कारण
कहाँ है तेरे पास विश्राम ग्रह?
तभी तो दिन भर दीन हीन सा
दर-दर भटकता रहता है
फिर भी क्या समझकर साहस करता है
सागर के साथ विग्रह-संघर्ष हेतु?

बादल का क्रोधोत्पन्न वार्तालाप जारी रहता है। बीच-बीच में वह समुद्र को समझाने का भी स्वर धारण करता है और कहता है-

''अरे अब तो
सागर का पक्ष ग्रहण कर ले
करले अनुग्रह अपने पर
और सुख-शांति का यश संग्रह कर
अवसर है
अवसर से काम ले
अब तो छोड़ दे उल्टी धुन
अन्यथा
'ग्रहण' की व्यवस्था अवलम्ब होगी।''[13]

कवि चतुर चित्रकार है। उसे ज्ञात है कि आखिर सूरज को क्या दण्ड उपयुक्त है? क्योंकि उसे कोई न तो जला सकता है और न ही बुझा सकता है। अतः कवि ने उसके यश को कलंकित करने की ही सजा को उचित माना। और 'यश' कलंकित कैसे हो ? 'ग्रहण' लगने से। और वह लगा भी ।

प्रकृति का इस तरह का चित्रण कोई महान कवि ही कर सकता है। और यह चित्रण कर दिखाया आचार्य विद्यासागर जी ने। निःसंदेह वे एक महान् कवि, आचार्य और संत है।

प्रकृति चित्रण के विविध आयाम :

'' इस संसार के अधिकांश धर्म और विद्वान यह मानते हैं कि दृश्यमान जगत के मूलतत्व जीव के अतिरिक्त पाँच हैं- पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश, जबकि 'जीव' चेतन द्रव्य है, वह जैन-दर्शन के अनुसार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों में अमूर्त्त रूप में विद्यमान रहता है, यहाँ तक कि पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु भी स्वयं सचेतन हैं, जबकि कुछ धर्म और विद्वान इनमें जीव तत्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। आकाश पोल का नाम है अर्थात यह वह द्रव्य है जिसमें सभी द्रव्य स्थित हैं।'' 14

इनमें पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु के कार्य प्रकृति के कार्यकलाप कहलाते हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पयोद, पर्वत, सर, सरिता, समुद्र, वन, उपवन एवं ऋतु आदि सभी प्रकृति के ही अंग हैं जबकि नीड, भवन यंत्रादि प्राणीकृत हैं। यहाँ पर विषय की दृष्टि से प्राकृतिक पदार्थो के कार्यों का विवरण ही अपेक्षित है

इसमें सृष्टि में प्रकृति का सम्पूर्ण कार्य व्यापार प्राणियों क लिए ही संचालित हो रहा है। सूर्य एवं चन्द्रमा का निश्चित ऊँचाई पर होने के उपरांत धरित्री के लोगों को ताप और शीतलता को प्रदान करना जीवधारियों के लिए जागरण एवं सुषुप्ति द्वारा प्राण धारण करने के कारण बनते है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में

व्याप्त वायु प्राणियों के श्वास का हेतु बनती है। अपरिमित सागर की जलराशि जब सूर्य की प्रखर रश्मियों से जलद का रूप धारण कर आकाश में पहुँचती है और वर्षा क रूप में धरित्री पर बरसती है तो प्राणियों को जीवनदान मिलता है, इसी तरह पर्वत भी अनेक पोषक पदार्थो को जन्म देते हैं तथा हिमाच्छादित श्रृंगों से जल-प्रवाह द्वारा उनके असन, वसन एवं वासन के साधनों का निमित्त बनते है।'' 15

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राणी प्रकृति से भिन्न होता हुआ भी उसी में संलिप्त रहता है। वह पृथ्वी से शक्ति, वायु से प्राण, जल से जीवन और अग्नि से उष्मा ग्रहण करता है, यही वजह है कि इन तत्वों से निर्मित प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्राणी को परमात्मा की अनुभूति होती है। मनुष्य इस सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है उसे प्रकृति के सान्निध्य में सर्वाधिक सुख की अनुभूति होती है। इस संसार में व्याप्त विषमताओं से खिन्न होकर वह प्रकृति की गोद में ही आनंद की अनुभूति करता है। इस सांसारिक प्राणी को-'' भगवती उषा में जीवन की ललिमा दृष्टिगोचर होती है, दिव्य तेजोमय दिवाकर की कनकप्रभा उसे आलोक के दर्शन कराती है, विभावरी में रजनीकर की पयस्नात ज्योत्स्ना उसकी शिरा-शिरा में सम्मोहन भरती है, नभस्थल में संचरित श्याम सजल मेद्यावली उसके नेत्रों को संतृप्त करती है, हिमावृत्त शिखर एवं हरित घाटियों से युक्त प्रदेश उसके मन-मानस में उमंग-तरंगे भर देते है, भीषण जलचरों से आलोड़ित समुद्र की गगन चुम्बी जलोर्मियाँ भी उसे प्रलोभन देकर आकृष्ट करतीं हैं तथा सुमनावलि से गुम्फित श्यामल वनस्पतियाँ उसमें शक्ति का संचार करती हैं।''16

इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर साहित्य सृष्टा भी प्रकृति का चित्रण करता है, आचार्य श्री संत कवि हैं उन्होंने भी अपने काव्य विशेषकर मूकमाटी में प्रकृति के नाना रूपों का चित्रण किया है। इस महाकाव्य का प्रारंभ ही प्राकृतिक सौन्दर्य से हुआ है, निशा का अवसान हो रहा है और उषा अपनी नूतन आभा के साथ प्रकट हो रही है। अनन्त आकाश में नीलिमा का साम्राज्य है और केवल मौन का वातावरण/सूर्य शिशु की निद्रा तो टूट चुकी है परन्तु वह अभी भी प्राची माँ की गोद में करवटें ले रहा है। प्राची रूप नारी के अधरों पर मंद मंद मधुर मुस्कान है तथा सर पर रंगीन राग की आभा उड़ती सिन्दूरी धूल-सी प्रतीत हो रही है।''17

निम्न पंक्तियों में कवि के द्वारा सौंदर्य का वर्णन देखते ही बनता है-

लज्जा के घूँघट में/डूबी-सी कुमुदनी
प्रभाकर के कर-छुवन से, बचना चाहती है वह,
अपनी पराग को/सराग-मुद्रा को/पाँखुरियों की ओट देती है।
लो!......................इधर.....................अध खुली कमलिनी
डूबते चाँद की/चाँदनी को भी नहीं देखती/ आँखे खोलकर
ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/ सब के वश की बात नहीं
और.................. वह भी............/स्त्री-पर्याय में/अनहोनी-सी.........घटना/''18

अबला वाला रूप तरला तरायें अपने पति चन्द्रमा के पीछे-पीछे छुपी जा रही हैं कि कहीं दिनकर की कुदृष्टि उन पर न पड़ जाये। मन्द मन्द सुगन्ध पवन वह रहा है जिसके साथ सुमनों की सुगन्ध महक रही है। सन्धिकाल होने के कारण अभी न निशा है, न दिवा है न दिवाकर और इधर सामने सरिता तीव्र गति से सागर की ओर जा रही है। इसी समय संकोचशीता, लाजवती सरिता तटकी माटी अपनी माँ ध रती से निवेदन करती है।''19

यहाँ पर हम मूकमाटी के संक्षिप्त प्रारंभिक वर्णन में देखते हैं कि निशा, उषा, आकाश, सूर्य, प्राची, कुमुदनी, कमलिनी, चाँद, चाँदनी, तारा, पवन, सुगन्ध, सुगन्धिकाल, सरिता, सागर, माटी और धरती का

उल्लेख हुआ है। रात्रि अवसान में प्रभावती उषा का विकास, नीले शांत आकाश में बालसूर्य का प्राची-माँ की गोद में करवटें लेना, प्राची को माँग भरी सधवा स्त्री का रूप देना, कुमुदिनी और कमलिनी को पतिव्रता का रूप देकर क्रमशः उनका प्रभाकर की कर-छुवन से पाँखुरियों की ओट देकर बचना तथा अस्त होते चाँद की चाँदनी तक को ईर्ष्यावश न देखना, ताराओं का अपने पति चन्द्रमा का अनुगमन करना एवं न निशा है नि निशाकर, न दिवा है न दिवाकर' कहकर सन्धिकाल का उल्लेख करना अत्यंत मनोरम जान पड़ता है। कवि के द्वारा प्रकृति का यह मनोरम चित्रण ''गागर में सागर' भरने जैसा जान पड़ता है।

इस मूकमाटी में हमे मुख्य रूप से 'शिशिर ऋतु' 'ग्रीष्म ऋतु' और 'वर्षा ऋतु' का वर्णन देखने का मिलता है इसके अलावा 'सागर' और 'सरिता' के सम्बन्ध में कवि ने उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है, संक्षेप में इनका वर्णन इस प्रकार से है-

शिशिर ऋतु

शिशिर का प्रभाव ही सबसे निराला होता है। सर्वत्र कंपकपा देने वाली बयार बहती रहती है। पेड़ पौधों की डाल डाल, पात पात हिमपात से ढंक जाते हैं। शीत के प्रकोप से कोमल लतिकाऐं पीलेपन को धारण कर चुकीं हैं। सभी के गात कम्पायमान हैं, दांत किटकिटा रहे हैं। दिन सिकुड़ से गये हैं प्रभाकर की प्रखरता फीकी सी पड़ गयी है। सर्वत्र पृथ्वी पर हिम की महिमा दृष्टिगोचर हो रही है और काली अंधियारी रातों का विस्तार बढ़ गया है-

पेड़ पौधों के/डाल डाल पर/पात-पात पर/ हिमपात है......
कल-कोमल-कयाली/लता-लतिकाऐं ये
शिशिर-छुवन से पीली पड़ती-सी/पूरी जल-जात हैं।
X X X X
गीत-काल में/कब थे दीक्षित भी/शिक्षित कब थे प्रशिक्षित भी
फिर भी अम्यासी-सम/नर्तन करते सब के दाँत हैं।
दिन में सिकुड़न हो आयी है
प्रभाकर की प्रखरता भी/ डरती बिखरती-सी लगती है
और/ऊपर होकर भी नभ में/प्रभाकर नतमाथ हैं
जहाँ कहीं भी देखा/महि में महिमा हिम की महकी
और आज/घनी अलिगुण-हनी/शनि की खनी-सी...........
भय-मद अघ की जनी/दुगुणी हो आई रात है।''[20]

बसन्त ऋतुः शिशिर ऋतु के पश्चात् वसन्त का आगमन हुआ है यद्यपि संत कवि ने श्रृंगारी कवियों की भाँति वसन्त ऋतु का वर्णन कामोद्दीपन के रूप में न करके आध्यात्मिकता की ओर संकेत करने क लिए ही किया है। उन्होंने वसन्त को आसक्ति के रूप में न लेकर योग की स्थिति में ही लिया है। वे कहते हैं-

वसन्त का भौतिक तन पड़ा है
निरा हो निष्क्रिय, निरावण
गन्ध-शून्य शुष्क पुष्प-सा
X X X X
वसन्त का शव भी

अतीत की गोद में समा गया
शेष रह गया अस्थियों का अस्तित्व।''21

ग्रीष्म ऋतुः ग्रीष्म ऋतु के आगमन के साथ ही प्रभाकर ने प्रचण्ड रूप को धारण कर लिया है जिसके कारण चतुर्दिक चिलचिलाती हुई धूप देखी जा सकती है। सर्वत्र तपन और आग की लपटें सी उठती हुईं जान पड़ती है, दशों दिशाओं की धरा में दरारें पड़ गयीं हैं। वायु आग उगल रही है ।
कवि का कथन है-

नील नीर की झील/नाली-नदियाँ ये
अनन्त सलिला भी/अन्तः सलिला हो/अन्त-सलिला हुई हैं
इनका विलोम परिणमन हुआ है/यानी
न......दी.....दी......न/जल से विहीन हो/दीनता का
अनुभव करती है नदी
और/ना.....ली ली......ना/लीना हुई जा रही धरती में/
लज्जा के कारण/''22

ग्रीष्मकाल में सूर्य उदयाचल से निकलकर अस्ताचल की ओर मंदगति से गतिमान हो रहा है, ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी गति में शिथिलता आ गई हो। प्रकृति की हरीतिमा, लताओं की कोमलता और फलों की मधुरता जाती रही है, मंद मंद शीतल पवन का सुगन्धित स्पर्श समाप्त हो गया है, सुमनों की मुस्कान और भ्रमरों का गुंजार अब कहीं दिखाई नहीं देता। कवि का ऐसा मानना है कि-शीतलता की छुवन छुपी, पीत-लता की पलित छवि पल भर भी पली नहीं और जाने कहाँ चली गई ?

ऐसा लगता है कि सर्वत्र तपन ही तपन है। न जाने राग और पराग कहाँ चला गया है ? अब न वह महक है और न ही वह चहक न वह हाव है, ना ही वह भाव, ग्रीष्म ऋतु ने सभी को निस्संग सा बना दिया है। जड़ चेतन में किसी तरह का कोई अंतर ही नजर नहीं आ रहा है तथा ग्रीष्म के दाह ने सभी के वस्त्राभरण उतरवा लिए हैं। चारों ओर वैराग्य के वातावरण को देखकर ऐसा लगता है कि वसन्त के तन से कफन उतारा जा रहा है। उसकी काया कंकाल सी नजर आ रही है, उसकी अस्थियों के समूह को दफनाया जा रहा है। यहाँ कवि ने अस्थियों के माध्यम से जीवन की नश्वरता का जो संदेश दिया है वह अत्याधिक मार्मिक है-

कभी कराल काला राहू/प्रभा-पुंज भानु को भी
पूरा निगलता हुआ दिखा/कभी-कभार भानु भी वह
अनल उगलता हुआ दिखा
जिस उगलन में/पेड़-पौधे पर्वत-पाषाण
पूरा निखिल पाताल तलतक/पिघलता गलता हुआ दिखा
अनल अनिल हुआ कभी/अनिल सलिल ढलता परस्पर में
घुला-मिला कलिल हुआ कभी।''23

वर्षा ऋतुः गीष्म ऋतु के उपरांत वर्षा ऋतु के दर्शन 'मूकमाटी' के तीसरे खण्ड में दिखाई देते हैं जब कुम्भकार के उपाश्रम में धरातत्व कुम्भों को विनष्ट करने के लिए जलीयतत्व जलधि बदलियों को संकेत देता है। हम यहाँ पर कवि के द्वारा बदलियों का नारी रूप में चित्रण इस प्रकार से देख सकते हैं-

सागर के संकेत पा/सादर सचेत हुईं हैं

सागर से गागर भर-भर/अपार जल के निकेत हुई हैं
गजगामिनी भ्रम-भामिनी/दुबली-पतली कटिवाली
गगन की गली में अबला-सी/तीन बदली निकल पड़ी हैं।
दधि-धवला साड़ी पहने/पहली वाली बदली वह
ऊपर से/ साधनारत साध्वी-सी लगती हैं।
रति-पति-प्रतिकूला-मतिवाली/पति-मति-अनुकूला गतिवाली
इससे पिछले, बिचली बदली ने/ पलाश की हँसी-सी साड़ी पहनी
गुलाब की आभा फीकी पड़ती जिससे
लाल पगतली वाली लाली रची/पद्मिनी की शोभा सकुचाती है जिससे
इस बदली की साड़ी की आभा वह/जहाँ-जहाँ गई चली
फिसली-फिसली, बदली वहाँ की आभा भी/
और/नकली नहीं, असली
सुवर्ण वर्ण की साड़ी पहन रखी है/ सबसे पिछली बदली ने/''[24]

ये तीनो बदलियाँ एक प्रकार से अध्यात्म के क्षेत्र में शुक्ल-पद्म पीत लेश्या की प्रतीक है। यहाँ बदलियों को देखकर सागर पुरूष रूप बादलों को घनघोर वर्षा के द्वारा कुम्भों को नष्ट करने के लिए आहूत करता है, शीघ्र ही सागर से वायुयान के समान मेघ आकाश में छा जाते हैं। पहला मेघमण्डल इतना अधिक काला है कि भ्रमर भ्रमवश इसे भ्रमदल समझकर इससे आ मिलता है, दूसरा विष उगलते विषधर के सामन नीला है जिसकी आभा से पका पीला धान का खेत भी हरिताभा से भरजाता है और तीसरा बादल कपोती रंग का है ये तीनों ही तन के अनुरूप ही मन से भी कलुषित हैं।

ये तीनों ही बादल-दल क्रमशः कृष्ण, नील और कपोत लेश्या वाले मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः इन सभी का चरित्र चाण्डाल के समान प्रचण्ड है। इनका हृदय करूणाहीन तथा गर्जन पारस्परिक विग्रह से युक्त है। इनसे भूत भी भयभीत होते हैं एवं अमावस्या भी सकुचाती है। ये मास में केवल एक बार ही दृष्टिगोचर होते हैं। ये कृष्ण बादल दुराचारी हैं तथा दूसरों को दुःख देकर ही तृप्त होते हैं और देखते ही रूष्ट हो जाते हैं। इनमें सहज प्रतिशोध का भाव है तथा निर्दोषों को भी दोष लगाते हैं। ये भ्रमर के समान काले तथा वर्षा में भी विष को बरसाते हैं।

ये बादल पलभर में ही आकाश को घेर लेते हैं और सम्पूर्ण आकाश में छा जाते हैं। कवि कहता है-

कठोर कर्कश कर्ण-कुटी/शब्दों की मार सुन
दशों-दिशायें बधिर हो गईं/नभ-मण्डल निस्तेज हुआ
फैले बादल-दलों में डूब-सा गया/अवगाह-प्रदाता
अवगाहित-सा हो गया।''[25]

सूर्य का प्रभामण्डल भी कुछ निष्प्रभ सा हो गया है। फिर राहु द्वारा सूर्यग्रहण तथा पृथ्वी पर मेघों द्वारा आक्रमण, इन्द्र द्वारा इस अनर्थ को देखकर बादलदल के विरूद्ध इन्द्रधनुष का प्रयोग प्रतिरोध में बादलों द्वारा बिजली का प्रयोग और फिर क्रुद्ध होकर इन्द्र का वज्राघात, इस पर बादलों की ओर से ओलावृष्टि। यह सारा का सारा चित्रण अत्यंत मनोहारी और ओजपूर्ण भाषा में किया गया है जो देखते ही बनता है।

उपर्युक्त प्रकृति वर्णनों में कवि की प्रतिभा देखते ही बनती है। दूसरी ओर काव्य-कला की दृष्टि

से भी ये वर्णन अत्यंत मनोहारी हैं। कतिपय चित्र तो पाठकों को मंत्रमुग्ध कर देते हैं। राहु द्वारा दिवाकर को निगलने का यह दृश्य अत्याधिक प्रभावकारी है-

कुटिल व्याल-चालवाला/कराल-काल गालवाला
साधु-बल से रहित हुआ/बाहु-बल से सहित हुआ/
बराह-राह का राही राहु/हिताहित-विवेक-वंचित
स्वभाव से क्रूर, क्रुद्ध हुआ/रौद्ध पूर, रूष्ट हुआ
कोलाहल किये बिना/एक-दो कवल किये बिना
बस, साबुत ही/निगलता है प्रताप-पुञ्ज प्रभाकर को।
सिन्धु में बिन्दु-सा/माँ की गहन-गोद में शिशु-सा
राहु के गाल में समाहित हुआ भास्कर।''[26]

इसी तरह इन्द्रधनुष का आलंकारिक प्रयोग भी देखने योग्य है-

आज इन्द्र का पुरूषार्थ/सीमा छू रहा है
दाहिने हाथ से धनुष की डोर को/दाहिने कान पर पूरा खींचकर
निरन्तर छोडे जा रहे/ तीखे सूचीमूखी बाणों से
छिदे जा रहे, भिदे जा रहे/विद्रूप-विदीर्ण हो रहे हैं
बादल-दलों के बदन सब।'' [27]

बादलों के द्वारा जब प्रतिकार होता है तो बिजली का व्यवहार भी कम प्रभावकारी नही जान पड़ता-

बादलों ने बिजली का उत्पादन किया/ क्रोध से भरी बिजली कौंधने लगी
सबकी आँखे ऐसी बन्द हो गईं/ चिपक गईं हों गोंद से कहीं।
सूझबूझ बुझ-सी गई सबकी/औरों की क्या कथा
निसर्ग से अनिमेष रहा इन्द्र भी/ निमिष-भर में निमेषवाला बन गया
यानी/इन्द्र की आँखें भी/बार-बार पलक मारने लगीं।''[28]

संत कवि आचार्य विद्यासागर जी द्वारा राहु द्वारा सूर्य-ग्रहण तो इतना चमत्कारिक है कि वह अभूतपूर्व कहा जा सकता है। डॉ. विमलकुमार जैन का तो यहाँ तक मानना है कि सम्पूर्ण संस्कृत आदि हिन्दी वाङ्मय में ऐसे चित्रण सदैव अपनी अमिट छाप को स्थित बनाये रखेंगे। सूर्य-ग्रहण का एक विलक्षण चित्र इस प्रकार है-

''प्रभाकर तिरोहित हो गया, ऐसा प्रतीत हो रहा था कि दिवस का अवसान हो गया है, संदेह होने लगा कि यह सायंकाल है या अकाल में काल का आगमन। दिशाओं की दशा जीर्ण-ज्वर ग्रसित काया के समान बदल गई, कमलबन्धु न दिखने से कमलदल मुकुलित हो गया, वन-उपवन का जीवन भी अस्त सा हो गया और सूर्यवंशी अग्नि का मित्र होने से पवन का संजीवन तत्व भी लुट गया। इस तमसाकुल वातावरण से भयभीत, ममता की मूर्त्ति, स्वैरबिहारी, संगीतजीवी, संयमी, सर्वसंगों से मुक्त, संघ-समाजसेवी वत्सलवक्ष स्थल, रजो-तमोगुण से हीन, सतोगुणी, वैरभाव से रहित, संध्या की शंका से आकुल एवं आकस्मिक भय से व्याकुल, श्लथपंखी पक्षीदल विहंगम दृश्य-दर्शन छोड़कर निज-निज नीड़ों में आकर निमग्न हो मौन बैठ गया।''[29]

आचार्य विद्यासागर जी के काव्य में प्रकृति चित्रण के बहुविध आयाम देखने को मिलते है, जो इस प्रकार है:-

(अ) आलम्बन रूप में-

आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण वहाँ पर किया जाता है जहाँ प्रकृति स्वयं वर्ण्य-विषय के रूप में उपस्थित हो। इस रूप में कवि प्रकृति को साधन रूप में नहीं वरन् साध्य रूप में अपनाता है। जब कवि प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप में करता है तो वह पूर्णतया स्वतंत्र होता है, 'मूकमाटी' में कवि ने प्रकृति के आलम्बन रूप का चित्रण इस प्रकार किया है-

उन्तुंग-तम गगन चूमते
तरह-तरह के तरूवर
छन्ता ताने खड़े हैं
श्रम-हारिणी धरती है
हरी-भरी लसती है
X X X X
अविरल चलते पथिकों को
विश्राम लेने को कह रही है।''30

यहाँ कवि ने प्रकृति को आश्रय रूप में तथा गगन को आलम्बन रूप में चित्रित किया है।

(ब) उद्दीपन रूप में-

जब प्रकृति का वर्णन स्वतंत्र रूप में न होकर मानवीय भावों को प्रतिबिम्बित करता है, तब वह उद्दीपन रूप कहलाता हैं। 'मूकमाटी' में प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन कवि ने इस रूप में किया है-

अणु-अणु- कण-कण ये
वन-उपवन और पवन
भानु की आभा से धुल गये हैं।
X X X X
नया मंगल तो नया सूरज
नया जंगल तो नयी भू-रज
नयी मिति तो नयी मति
नयी चिति तो नयी यति
नयी दशा तो नयी दिशा।''31

(स) आलंकारिक रूप में-

मूकमाटी के महाकवि ने अपनी कल्पना के द्वारा प्रकृति के चित्रों में ऐसे रंग भरे हैं कि उनकी सुन्दरता द्विगुणित हो गई है। काव्य में अलंकारों के उचित व सुन्दर प्रयोग के कारण प्रकृति का अत्यन्त वैभवशाली चित्र उपस्थित हुआ है, जैसे-

मन्द-मन्द हँसता-हँसता
उसका हंसा
एहसास कराता है शिल्पी को
कि

सदा-सदियों से हंसा तो जीता है
दोषों से रीता हो।''[32]

(द) रहस्यात्मक रूप में-

अध्यात्म और रहस्यवादी कवि प्रकृति में भी दर्शन और रहस्य की तलाश कर लेते हैं। यहाँ पर कवि ने जीवन और मृत्यु के चक्र को बड़ी ही सुन्दरता के साथ चित्रित किया है-

जिसने जनन को पाया है
उसे मरण को पाना है
यह अकाट्य नियम है।
गणना करना संभव नहीं है,
अनगिन बार धरती खुदी
गहरी-गहरी वहीं-वहीं पर
अनगिन बार अस्थियाँ दबीं ये।''[33]

(य) उपदेशात्मक रूप में-

कहीं कहीं पर प्रकृति इस धरित्री के मानवों को उपदेश देती हुई नजर आती है, वह यह संकेत करती है कि इस जीवन में करूणा का संचार करो, इसे युद्धभूमि का स्थल मत बनाओ। क्योंकि जीवन हँसने और हँसाने के लिए ही मिला है-

करूणा कह रही है
कण-कण को कुछ
X X X X
जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का वृण सुखाओ
सदस्य बनो।
उदय पर दया करो
अभय बनो।''[34]

(र) मानवीकरण रूप में-

प्रकृति पर चेतन तत्व का आरोप ही मानवीकरण है। प्रकृति पर मानव रूप, मानव गुण, मानव क्रिया और मानव-भावना आदि का आरोप किया गया है। 'मुकमाटी' में मानवीकरण रूप के अनेक हृदय देखे जा सकते है-

हर्षातिरेक से
उपहार के रूप में
कोमल कोपलों की
हलकी आभा-घुली
हरिताभ की साड़ी
देता है रात को/
इसे पहन कर
जाती हुई वह
प्रभात को सम्मानित करती है

मन्द मुस्कान के साथ...........!
भाई को बहन-सी।''[35]

(ल) प्रतीक एवं बिम्बात्मक रूप में-

'मूकमाटी' के संत कवि आचार्य विद्यासागर जी ने कहीं कहीं पर प्रतीक और बिम्बात्मक रूप में भी प्रकृति का चित्रण किया है, जैसे-

वहीं............कुम्भ पर
कछुवा और खरगोश का चित्र
साधक को साधना की विधि बता
सचेत कर रहा है।
x x x x
एक की गति अविरल थी
एक ने पथ में निद्रा ली थी,
प्रमाद पथिक का परम शत्रु है।''[36]

(व) संवेदनात्मक रूप में-

कहीं कहीं पर कवि को ऐसा आभास होता है कि प्रकृति उसके प्रति संवेदनभाव को प्रकट कर रही हो, आचार्य विद्यासागर प्रकृति के संवेदन रूप को इस तरह से प्रकट करते हैं-

पवन के इस आशय पर
उत्तर के रूप में, फूल ने
मुख से कुछ भी नहीं कहा,
मात्र गम्भीर मुद्रा से
धरती की ओर देखता रहा ।
फिर,
दया-द्रवीभूत होकर
करूणा-छलकती दृष्टि फेरी
सुदूर बैठे शिल्पी की ओर ।''[37]

(ह) वातावरण के रूप में-

प्रकृति चित्रण में वातावरण को रेखांकित करने से काव्य-सौंदर्य की आभा द्विगुणित हो जाती है, इस तरह के अनेक चित्र 'मूकमाटी' में देखे जा सकते हैं। एक चित्र इस प्रकार से है-

कठोर कर्कश कर्ण-कटु
शब्दों की मार सुन
दशों-दिशाऐं बधिर हो गईं
नभ-मण्डल निस्तेज हुआ
फैले बादल दलों में डूब-सा गया
अवगाह-प्रदाता अवगाहित-सा हो गया ।'' 38

(क्ष) सन्देशवाहक के रूप में-

प्रकृति को विचारों की भी संवाहिका माना गया है, प्रकृति अनेक रूपों में सन्देशों को प्रषित करने

का काम करती है, यहाँ पर पवन के द्वारा फूल को दिया गया सन्देश काफी मार्मिक जान पड़ता है-

दूसरों को माध्यम बनाकर
मध्यम-यानी समता की ओर बढ़ना
बस, सुगमतम पथ है,
और
औरों के प्रति अपने अन्दर भरी
ग्लानि-घृणा के लिए विरेचन !
पवन के इस आशय पर
उत्तर के रूप में, फूल ने
मुख से कुछ भी नहीं कहा,
मात्र गंभीर मुद्रा से
धरती की ओर देखता रहा ।'' 39

(त्र) प्रकृति, पुरूष के रूप में-

प्रकृति और पुरूष को एक दूसरे का पूरक माना गया है। इन दोनों के मध्य एक तरह से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यदि हम पुरूष को योगी मानें तो प्रकृति उसकी सहयोगिनी है, जैसे-

पुरूष योगी होने पर भी
प्रकृति होती सहयोगिनी उसकी,
साधना की शिखा तक
साथ देती रहती वह
श्रमी आश्रयार्थी को
आश्रय देती ही रहती
सदोहिता स्वाश्रिता होकर ।'' 40

प्रकृति के विलय होने पर पुरूष का भी विलय हो जाता है। ऐसी स्थिति के कारण कवि पुरूष और प्रकृति को एक-दूसरे पर आश्रित मानते हैं-

पुरूष में जो कुछ भी
क्रियाएें प्रतिक्रियाएें होती हैं
चलन-स्फूरण-स्पन्दन
उनका सबका अभिव्यक्तीकरण
पुरूष के जीवन का ज्ञापन
प्रकृति पर ही आधारित है।
प्रकृति यानी नारी
नाड़ी के विलय में
पुरूष का जीवन ही समाप्त.............।'' 41

पुरूष और प्रकृति को अन्योन्याश्रित बताते हुए प्रकृति की ही तरह कवि ने जीवन की भी समाप्ति की घोषणा की है,

निष्कर्ष: उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य विद्यासागर ने अपने काव्य में प्रकृति के बहुविध चित्रों को अत्यंत कलात्मकता के साथ चित्रित किया है। कवि का ऐसा

मानना है कि प्रकृति हमें जीवन में राग, त्याग और गतिशील होने की प्रेरणा देती है। प्रकृति के प्रांगण में हम जीवन के सत्यबोध से भलीभांति परिचित हो सकते है । विभिन्न ऋतुओं का आना हमारे जीवन में परिवर्तन की प्रासंगिकता को रेखांकित करता है। बसंत जहाँ एक ओर उल्लास का प्रतीक है वहीं पतझड़ हमारे जीवन में समापन का प्रतीक है, सागर की विशालता हमें जीवन में गंभीर होने की प्रेरणा देती है। सरिता का अनवरत् प्रवहमान होते रहना हमें निरन्तर गतिशील बने रहने की ओर इशारा करती है, मेघों की वृष्टि जहाँ एक ओर करूणा की प्रतीक है वहीं वृक्षों के फल नम्रता और उदारता के घोतक हैं । गुलाब की डाल पर यदि फूल और कांटे हैं तो ये हमें सुख ओर दु:ख का स्मरण कराते हैं। दु:ख के कारण ही सुख का महत्व है अवसाद के कारण ही उल्लास का मूल्य है । आचार्य श्री ने नाना प्रकार के बिम्ब और प्रतीकों के माध्यम से प्रकृति के जिस भव्य रूप का चित्रण अपने काव्य में किया है वह उनकी कलात्मक प्रतिभा का परिचायक है सच्चे अर्थो में वे महाकवि हैं । क्योंकि एक साधारण कवि के द्वारा इतना उत्कृष्ट सृजन कदापि संभव नहीं है।

संदर्भ-सूची

1. प्रकृति और काव्य, डॉ. रघुवंश 'दो शब्द' महादेवी वर्मा, पृ.-9
2. हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण, डॉ. किरण कुमारी गुप्ता, पृ.-10
3. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ. नामवर सिंह, पृ.-26
4. मूकमाटी (महाकाव्य) आचार्य विद्यासागर, पृ.-01
5. वही, प्र.-02
6. वही, पृ.-06
7. वही, पृ.-19
8. वही, पृ.-19
9. वही, पृ.-31
10. वही, पृ.-79
11. वही, पृ.-19
12. वही, पृ.-199, 200
13. वही, पृ.-231
14. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागरः जीवन एवं साहित्यि अवदान् डॉ. विमल कुमार जैन, पृ.-510
15. कामयनी चिंतन, डॉ. विमल कुमार जैन, पृ.-209
16. वही, पृ.-210
17. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.-01
18. वही, पृ.-02
19. वही, पृ.-02 से 04
20. वही, पृ.-91
21. वही, पृ.-177
22. वही, पृ.-178
23. वही, पृ.-182,183
24. वही, पृ.-199, 200
25. वही, पृ.-232
26. वही, पृ.-237, 238
27. वही, पृ.-246
28. वही, प्र.पृ.-247
29. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागरः जीवन एवं साहित्यि अवदान, डॉ. विमल कुमार जैन, पृ.-518
30. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ.-87
31. वही, पृ.-423

32. वही, पृ.-262-263.
33. वही, पृ.-112.
34. वही, पृ.-181, 82.
35. वही, पृ.-149.
36. वही, पृ.-19.
37. वही, पृ.-172.
38. वही, पृ.-259.
39. वही, पृ.-232.
40. वही, पृ.-259.
41. वही, पृ.-392.
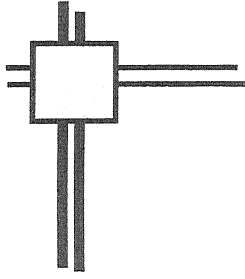
अध्याय-सात

उपसंहार

आचार्य प्रवर के काव्य की अभिनव दिशा, नव्य बोध, आदान और प्रदेय :

(क) काव्य की अभिनव दिशा

(ख) काव्य का नव्य-बोध

(ग) आचार्य श्री का आदान

(घ) आचार्य श्री का प्रदेय
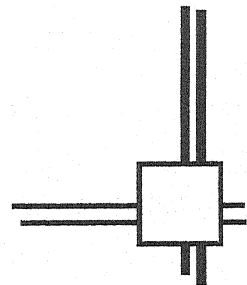
उपसंहार

आचार्य प्रवर के काव्य की अभिनव दिशा, नव्यबोध, अवदान और प्रदेय

(अ) काव्य की अभिनव दिशाः

आचार्य विद्यासागर सच्चे अर्थों में इस सदी के शिखर पुरूष है। क्योंकि आपकी वाणी में ऋजुता, व्यक्तित्व में समता और जीने में सादगी की त्रिवेणी लहराती है। मानवता का ऐसा सजग प्रहरी जिसने जन-जन की चेतना को झकझोरा हो, विश्वकल्याण की कामना से अपने काव्य को संवारा हो, जीवन-मूल्यों को सजग बनाने के लिए अपनी काव्य-कृतियों के ताने बाने बुने हों, जीवन की सारी सरसता जिन्होंने मानवता के कल्याण के लिए न्यौछावर कर दी हो, ऐसे युग-पुरूष की जितनी भी प्रशंसा की जाय कम है।

एकाग्र और गंभीर चिंतन के धनी, अहिंसा के बहुआयामी स्वरूप को रेखांकित करने वाले, रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रति अनासक्त तथा कबीर की तरह फक्कड़ और जन जन की पीड़ा से द्रवीभूत होकर सर्जना का अन्यतम् सूत्रपात करने वाले आचार्य विद्यासागर जिन्होंने कविता की अतल गहराईयों में उतरकर रसानुभूति के वास्तविक मर्म को जाना और पहचाना हो, निःसन्देह काव्य जगत में महाकवि की महिमा से मण्डित होने का दावा करते हैं। यह दावा उनकी वाणी का नही विचारों का है, गंभीर सोच और चिंतन का है, अध्यात्मरस के उत्कर्ष का है, शब्द की गरिमा, महिमा और लालित्य का है। वे सच्चे अर्थों में महाकवि हैं और उनकी 'मूकमाटी' एक ऐसी अद्‌भुत रचना है जिसने साहित्य जगत के पाठकों को गहराई तक प्रभावित किया है।

इस सदी का एक ऐसा 'संत' जिसने अपनी साधना, तप-त्याग और अध्यात्म की अतल गहराईयों में उतरकर जिस शाश्वत् सत्य का शंखनाद किया है उसे श्रवण कर श्रद्धा से प्रत्येक मानव नतमस्तक हो उठता है। उनके व्यक्तित्व के सान्निध्य का सुफल जीवन को 'निरापद' बनाने के साथ-साथ ऊर्जावान भी बना देता है। जीवन की सार्थकता का बोध होने लगता है। उनके दर्शन मात्र से अध्यात्म के सौंदर्य की जो ऊर्जा मिलती है, उससे जीवन में एक नई ताजगी का एहसास होता है। उनके पास सम्यक् दर्शन्, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की अमूल्य संपदा है। इनका मूल रूप में पालन उन्होंने जिस लगन, आस्था और गहनता से किया है उसके कारण वे 'युगसंत' बन गये हैं।

अल्प वयस्क विद्याधर ने मुनि दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व अपने आप को टटोला था। गुरूवर ज्ञानसागर जी ने उनके ज्ञान, प्रतिभा, धैर्य, तप, संयम और साधना को अत्यंत नजदीक से जाना पहचाना था। गुरूवर को यह पूर्ण विश्वास हो गया था कि ''जैनधर्म'' की पताका को शीर्षस्थ ऊँचाईयों तक ले

जाने में विद्याधर में पर्याप्त संभावनाऐं देखी जा सकतीं हैं। फिर 'हीरे' की पहचान तो 'जौहरी' को होती है। 'जौहरी' चूक जाता तो 'हीरा' तो 'हीरा' ही रहता लेकिन इस देश और समाज की बहुत बड़ी हानि होती। साधना के मार्ग का एक उत्कृष्ट साधक जिनवाणी के प्रसाद को जिस उदारता से बाँटने में रत है उसमें शायद कुछ कमीं हो जाती। लेकिन ''जैसी हो भविव्यता तैसेई मिले सहाय'। आखिर वही हुआ जो कि होना था।

जीवन को क्रमशः गढ़ा जाता है। प्रेरणा, प्रभाव, चिंतन, मनन, दृष्टि, सोच, विचार और कल्याण पथ पर अग्रसर होने के लिए सतत् सात्विक सोच आवश्यक है। यह प्रेरणा 'विद्याधर' को परिजनों से, प्रकृति से, सामाजिक वातावरण से और विशेषकर उन सरिताओं से जो निनाद करतीं हुईं अपने अस्तित्व को मिटाकर सागर से जा मिलती हैं। उन्हें आभास हो गया था कि अपने 'अहं' को गलाये बिना 'प्रभु' की भक्ति बेमानी है। 'विसर्जन' में ही प्रभु के दर्शन हैं।

'विद्याधर' जी की स्थिति कुछ ऐसी थी कि वे मुनियों को देखकर दीवाने हो उठते थे। उन्हें देखकर उनके अन्तर्मन में एक प्रकार के 'तिलस्म' की अनुभूति होती थी। वे खबर मिलते ही दौड़े चले जाते थे। उन्हें मुनियों की चर्चा में बैकुण्ठ की तरह आनंद की अनुभूति होती थी। उनके अन्तर्जगत में पल पल वैराग्य हिलोरें मार रहा था। उनका वैराग्य आरोपित न होकर भीतर से उद्‌भूतथा। इसलिए कि वे जीवन के रहस्य और साधना के मर्म को भलीभांति जान चुके थे।

इतिहास में ऐसी दुर्लभ घटनाऐं कम ही देखने को मिलतीं हैं जिन्हें दीर्घ अंतराल भी पचा पाने में अक्षम होता है। ऐसी ही कुछ घटनाऐं आचार्य विद्यासागर के साथ घटीं जो उन्हें असाधारण 'संत' की श्रेणी में लाकर बैठा देतीं हैं। 22 वर्ष की अल्पवयस्क आयु में ब्रह्मचारी से सीधे मुनि दीक्षा, 26 वर्ष की आयु में आचार्य पद और आचार्य पद के लिए गुरू द्वारा शिष्य से विनम्र आग्रह और वह भी गुरूवर आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा। 'अहं' का विरेचन और असाधारण प्रतिभा का सम्मान। सही वक्त पर सही निर्णय लेने की क्षमता विरले ही लोगों में हुआ करती है। इसका परिचय दिया गुरूवर आचार्य ज्ञानसागर जी ने। इसीलिए तो कबीर ने कहा है कि यदि सब कुछ समर्पण करने से भी सतगुरू मिल जाता है तो भी सस्ता ही मानना चाहिए। 'विद्याधर' को सही अर्थों में सतगुरू के रूप में ज्ञानसागर जी मिले थे। उन्होंने इस धरित्री को विद्यासागर के रूप में एक ऐसा उपहार दिया कि सादियाँ उनके इस अवदान को नहीं भुला पायेंगी।

गुरूवार ज्ञानसागर जी ने आचार्य पद का परित्याग कर सल्लेखना (स्वर्गारोहण) ग्रहण करली। गुरूवर के प्रति आचार्य विद्यासागर ने जिस सेवा, त्याग और गुरूभक्ति का परिचय दिया उससे किसी भी गुरू को अपने शिष्य पर गर्व हो सकता है। काश! इस गुरू/शिष्य परम्परा का पालन आज भी होता तो विसंगतियों का वह वातावरण निर्मित नहीं होता जो यदा-कदा आज देखने को मिलता है। गुरूवर ज्ञानसागर और आचार्य विद्यासागर गुरू/शिष्य परम्परा के एक ऐसे प्रतीक हैं, जिन्हें सदैव उद्धृत किया जाता रहेगा।

गुरूवर की सल्लेखना के उपरांत 'कर्त्तव्य-बोध' की भावना के परितृप्त आचार्य विद्यासागर

जी की साधना उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होती है। 'साधना' के मर्म से समझ लेने के उपरांत आप प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पर्वत की तरह अडिग बने रहे। श्रम और अनुशासन, विनय और संयम, तप और त्याग की अग्नि में तपी आपकी साधना सभी के प्रति समतादृष्टि की रही है। आपने अपनी साधना में ऋद्धि-सिद्धि तथा तंत्र-मंत्र को कोई स्थान नहीं दिया। आप आत्मसाधना में रत रहकर अपने आपको पहचानने की साधना में ही रत रहे। आपकी इसी साधना के से प्रभावित होकर युवा-पीढ़ी आपकी दीवानी हो उठी। महत्वपूर्ण बात यह है कि आपने उच्चकोटि की साधना में रत रहते हुए भी उदात्तकोटि के साहित्य का सृजन भी किया। साधना और सर्जना का अनोखा संगम। यों तो आपने सर्जना के क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किये हैं लेकिन 'मूकमाटी' की तो महिमा ही निराली है। जितनी समीक्षऐं इस महाकाव्य पर लिखीं गई अन्य किसी आधुनिक महाकाव्य पर नहीं लिखीं गई हैं। 'जैनधर्म' के मूलभूत संदेश अर्थात आत्मा से परमात्मा बनने की सतत् यात्रा का संदेश 'मूकमाटी' के माधयम के श्रवकों को दिया गया है। जीवन के शश्वत् सत्य की अभिव्यक्ति इस महाकाव्य में देखने को मिलती है।

'मूकमाटी' महाकाव्य में आचार्य श्री के काव्य की अभिनव दिशा और दृष्टि देखने को मिलती है। इस कृति में अंकिंचन, पददलित और तुच्छ मिट्टी में चरम भव्यता के दर्शन करके मुक्ति की मंगल यात्रा के रूप में प्रतिष्ठापित कर उसे गौरव प्रदान किया गया है। इसमें माटी की व्यथा-कथा को बखूबी चित्रित किया गया है, जैसे-

सरिता तट की माटी।
अपना हृदय खोलती है माँ धरती के सम्मुख।'' (मूकमाटी)

'' उत्पाद-व्यय-धौव्य युक्तं सत्'' सूत्र का अनुवाद व्यावहारिक चमत्कारी चिंतन एवं अभिनव प्रयोग की ओर इंगित करता है-

आना जाना लगा हुआ है
आना यानी जनन-उत्पाद है
जाना यानी मरण-व्यय है
लगा हुआ यानी स्थिर-धौव्य है
और
है यानी चिर सत्
यही सत्य है, यही तथ्य।'' (मूकमाटी)

आचार्य श्री में अद्वितीय विलक्षण प्रतिभा होने के कारण आप नित-नवीन अर्थों को गढ़ने के कुशल शिल्पी हैं। उनकी शब्द-व्यंजना गजब की है। मुक्तक छन्द में रचा गया उनका मूक माटी काव्य अन्तस् की चेतना से उद्भूत मानव मन को चिंतन की ओर प्रेरित करता है। आचार्य श्री के विचारों को उनके प्रवचन, मुक्तक छन्द की कविताओं और अनुवादों के रूप में सर्वत्र देखा जा सकता है।

आचार्य श्री ने जीवन के वास्तविक यथार्थ् को 'प्रवचन संग्रहों' के माध्यम से प्रकट किया है। उनके प्रवचनों में संसार की असारता तथा जीवन के अन्तिम चरम लक्ष्य के प्राप्ति सूत्रों को सहजता और सरलता के साथ उद्घाटित किया है। उनका कहना है कि- '' यह संसार अनादि अनन्त है। इसमें

भटकते भटकते हम आ रहे हैं। तात्कालिक पर्याय के प्रति हमारी जो आसक्ति है उसे छोड़ना होगा और त्रैकालिक है उस पर्याय को धारण करने वाला द्रव्य अर्थात मैं स्वयं आत्मा कौन हूँ, इसके बारे में चिंतन करना चाहिए।''

इसके अलावा आचार्य श्री द्वारा रस, छंद, अलंकार, युक्त प्रेरणास्प्रद रचनाओं का काव्यसौष्ठव एवं आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्वों का समावेश ''सोने में सुगन्ध की'' उक्ति को चरिचार्थ कर पाठक को श्रमण संस्कृति की दीर्घ जीवन धारा प्रदान करता है। मूकमाटी का हर काव्य संसार में दु:खों से पार, मोक्ष सुख की अनुपमता का स्वाद प्रदान करता है। कालजयी होने की प्रेरणा देता है-

स्वभाव से ही
प्रेम है हमारा
और
स्वभाव में ही
क्षेम है हमारा
पुरूष प्रकृति से यदि दूर होगा
निश्चित ही वह
विकृति का पूर होगा
पुरूष का प्रकृति में रमना ही
मोक्ष है, सार है।
और
अन्यत्र रमना ही
भ्रमना है
मोह है, संसार है..........। (मूकमाटी)

ओजस्वी वक्ता के रूप में आचार्य श्री की वाणी में समन्तभद्र जैसी निर्भीकता, नि:शंकता, निश्छलता व नि:शल्यता की छाया प्रतिबिम्बित होती है। वे श्रमण संस्कृति के रक्षार्थ एक सजग प्रहरी के रूप में खड़े हुए दिखाई देते हैं। आपने 'श्रमण संस्कृति' शब्द को सच्चे अर्थों में जीवंत बनाकर नूतन प्राण प्रतिष्ठा प्रदान की है।

2. काव्य का नव्य-बोध:

आचार्य विद्यासागर इस सदी के संतों में सर्वाधिक चर्चित, बहुख्यात और सर्वमान्य वन्दनीय 'संत' हैं। इसका प्रमुख कारण हैं उनके तप, त्याग, संयम, साधना और चर्या के साथ-साथ ज्ञान का वह अपरिमित भण्डार जो रचनाशीलता के साथ साथ उनकी विविध भावधाराओं के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। यह 'सृजन' केवल काव्य के रूप में ही नहीं वरन् प्रवचन, काव्यानुवाद, संस्कृत शतक और अनेक तरह की स्फुट रचनाओं के रूप में भी प्रस्फुटित हुआ है।

आचार्य श्री के 'काव्य-संग्रहों' में भावों का अथाह सागर हिलोरें मारता हुआ दिखाई देता है। चिंतन, मनन और गंभीर सोच के पर्याय बने आचार्य श्री के विचार श्रावकों के जीवन में असाधारण

परिवर्तन की सुगबुगाहट पैदा कर देते हैं। आचार्य श्री का मानना है कि सुख प्राप्त करने के लिए प्रभु का साक्षात्कार आवश्यक है। दुःख के बीज बोकर भला किसने सुख पाया है? स्वभाव की पहचान ही प्रभु का दर्शन है। तथा विभाव को ग्रहण करना ही दुःख के बीज बोना है। स्वाधीनता, सरलता और समता स्वभाव है एवं दीनता, कुटिलता और ममता विभाव है। संसार भ्रमण का मूल कारण मोह है अतः निर्मोह-निर्मान होकर ज्ञान की आराधना की जाये तो सुख प्राप्त होता है।

आचार्य श्री ने कबीर, जायसी, तुलसी, रहीम, बिहारी की तरह दोंहों की गागर में भावों का सागर उड़ेल दिया है। इन दोहों में जनकल्याण की भावना, परोपकार की महत्ता, तन में शंकर का वास, चिदानन्द की प्रतीति, अध्यात्म का रस, सच्चे जीवन का सुख तथा काव्य-सौष्ठव की गरिमा और महिमा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। 'नर्मदा का नरम कंकर' काव्यात्मक उत्कर्ष की एक अनूठी रचना है। 'कंकर' से शंकर बनने की अभिलाषा कवि को आध्यात्मिक उत्कर्ष पर ले जाकर अवस्थित कर देती है। पाषाण से भगवान बनने की क्रिया अत्यंत कठिन और दुष्कर है। उसी तरह जिस प्रकार आत्मा से परमात्मा बनने की। लेकिन कवि का मन बाधाओं से कभी-हार नहीं मानता। वह 'प्रभु' से निवेदन करता है-

या तो इस कंकर को
फोड़ फोड़ कर
पल भर में कण कण कर
शून्य में
उछाल
समापत कर दो ।
अन्यथा
इसे
सुन्दर सुडौल
शंकर का रूप प्रदान कर
अविलम्ब इसमें
अनन्त गुणों की
प्राण-प्रतिष्ठा कर दो।

आचार्य श्री का यह काव्य एक 'नन्दनवन' है इसमें ऋतु एक है पर विटप अनेक हैं। सुस्वादु फल हैं, रंग-बिरंगे सुमन हैं और है उदात्त आनंद का वातावरण। इसकी कविताऐं न केवल अध्यात्म की दृष्टि से वरन् काव्य-गुणों की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। मुक्त काव्य-संग्रहों की श्रृंखला में यह एक महत्वपूर्ण कृति है। इसमें अनेक स्थलों पर इतनी मनोहारी पदावली का प्रयोग हुआ है कि पढ़ते पढ़ते हृदय उछलने लगता है। अध्यात्म रस के पिपासुओं से इस संग्रह की कविताऐं संजीवनी का काम करतीं हैं।

अध्यात्म के सागर में डुबकी लगाना है। संसार सागर में डूब नहीं जाना है। इस महत् उद्देश्य को लेकर 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' की कविताओं ने अनुभूति के धरातल पर 'शांत-रस' का ऐसा संचार किया है कि पाठक और श्रावक 'दांतों तले उँगली' दबा लेता है। इसके सृजन का उपयोग चैतन्य की उपासना है। मुमुक्षु के श्वांस-श्वांस में जिस तीव्र आकर्षण का भाव पैदा होता है वह

तलस्पर्शी आत्म दर्शन को रेखांकित करता है। इस संग्रह की कविताओं का रसास्वादन करने के लिए उसमें डूबने की आवश्यकता नहीं है वरन् डुबकी लगाने की आवश्यकता है। कवि का मानना है कि डूबकर तो तू स्वयं को खो देगा, मुक्ता कहाँ से पा सकेगा? लेकिन डुबकी लगाकर तू रत्नों का अधि कारी हो सकता है।

यह काव्य-संग्रह एक प्रकार से विशुद्ध परिणामों से ओतप्रोत है। इसकी भाषा लालित्यपूर्ण पर अत्यंत सरल है। इसमें कवि की आत्मा अनेक स्थलों पर उमड़ती-घुमड़ती प्रतीत होती है। भाव तरंगों की तरह आते और जाते हैं। पाठक का मन भी तरंगों पर तैरता हुआ पूर्ण आनंद की अनुभूति करता है। काव्य-सौंदर्य और भाव-सौंदर्य का समन्वित रूप इस संग्रह में सर्वत्र देखने को मिलता है।

आचार्य श्री ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम का शंखनाद किया है 'चेतना के गहराव में' की कविताओं में। इन कविताओं में जागरण का संदेश सर्वत्र सुनाई देता है।। अनुभूति की अतल गहराईयों में उतरकर कवि लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत हो जाता है। वह इस सृष्टि के समस्त प्राणियों को प्रेम के धागे में पिरोकर उन्हें आपसी सद्भाव के वातावरण में रहने की प्रेरणा देता है। ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, कटुता ये सब मानव के प्रबल शत्रु हैं। इनसे केवल 'प्रेम' के द्वारा ही लड़ा जा सकता है। कवि का मानना है कि जोड़ने के लिए तुम्हें सुई बनना होगा तभी तुम अद्वैत की स्थिति निर्मित कर सकोगे:-

द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ना हो
टूटे दो टुकड़ों को
एक रूप देना हो
तो सुनो
सुई होना सीखा है।

आचार्य श्री के चिंतन, मनन, अध्यात्म, दर्शन और समग्र मानवतावादी दृष्टिकोण को रेखांकित करने वाला 'मूकमाटी' महाकाव्य है। माटी को आधार बनाकर 'मुक्त-छंद' में कवि की यह अनुपम कृति है। इसमें कवि की दृष्टि पतित से पावन की ओर दिखाई देती है। मानव सभ्यता के सतत् संघर्ष तथा सांस्कृतिक विकास का प्रमाण यह महाकाव्य मानवता को असत्य से सत्य की ओर, हिंसा से अहिंसा की ओर, एकांत से अनेकांत की ओर, अशांति से शांति की ओर ले जाने वाला यह महाकाव्य 'जैनदर्शन' की एक नवीन भावभूति को प्रस्तुत करता है।

आचार्य श्री अनुवाद कला में भी निष्णात रहे हैं। आपने अनेक संस्कृत और धार्मिक ग्रन्थों का काव्यानुवाद किया है। इनकी संख्या लगभग इक्कीस है। 'अनुवाद' का शाब्दिक अर्थ होता है किसी के पश्चात् उस बात को पुनः कहना अर्थात एक भाषा में व्यक्त किसी के विचारों अथवा भावों को दूसरी भाषा में रूपान्तरित करना। वैसे यदि गंभीरता से विचार करें तो मूल लेखक की रचना भी अनुवाद ही है क्योंकि सर्वप्रथम उसके हृदय में कुछ मूर्त्त या अमूर्त्त पदार्थ विषयक भाव विधुतक्रौंध की भांति उभरते हैं, पुनः वह मस्तिष्क के पट्ट पर उन्हें बुद्धितुलिका से रेखांकित करता है। तदनन्तर स्थायी बनाने एवं संप्रेषण के लिए लेखनीबद्ध कर समाज को प्रदान करता है। इस प्रकार वह अपने ही अमूर्त्त भावों को मूर्त्तरूप देकर एक प्रकार से स्वयं का अनुवाद करता है। अचार्य श्री को अनुवाद कला में महारथ हासिल है। जैन जगत में उनके अनुवादों को उन्मुक्तभाव से सराहा गया है।

आचार्य श्री संस्कृत के मनीषी हैं। आपको इस भाषा पर असाधारण अधिकार है। संस्कृत भाषा को सीखने में गुरूवर ज्ञानसागर जी महाराज का उपकृतभाव ही कार्यकारी रहा है। आपने 'शतक-परम्परा' के अन्तर्गत अनेक संस्कृत-शतकों की रचना की जो संस्कृत श्लोकों में लिपिबद्ध हों चुके है। इन शतकों में मुख्य रूप से आचार्य श्री ने साधुजनों की श्रेष्ठता, उनके मूलगुण, तीर्थंकारों की स्तुति, गुरूवर ज्ञानसागर जी को सुमनांजलि, पापरोगों के हरणकर्ता जिनेन्द्रदेव की स्तुति, सांसारिक वासनाओं की तुच्छता, संसार परिभ्रमण से मुक्त होने के लिए सिद्ध परमेष्ठी की स्तुति, मोक्षप्राप्ति के लिए कर्मास्त्रव के अंतर्गत संवर और निर्जरा तथा आध्यात्मिक नीतिविष्यक सूक्तियों को मुख्य रूप से इन शतकों में संग्रहीत किया है।

'स्फुट-रचनाऐं' भी आपके कृतित्व का अभिन्न अंग है जिन्हें प्रकाशित भले ही न किया जा सका हो पर इन रचनाओं में मानवकल्याण के सूत्र समाहित हैं। इनमें कहीं पर 'जैनदर्शन' के सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है तो कहीं पर धर्म के महात्म्य को समझाया गया है। कहीं पर सत्य को परिभाषित करने के लिए अनेक उद्वरणों का सहारा लिया गया है तो कहीं पर 'ब्रह्मचर्य' के महात्म्य की सरल शब्दों में व्याख्या की गई है। 'आदर्श आचरण' को आचार्य श्री सर्वोपरि इसलिए मानते हैं क्योंकि यही वह तत्व है जो जीवन को सुवासित बना देता है। आचार्य स्तुति परम्परा में 'आचार्य शांतिसागर' 'आचार्य वीरसागर' 'आचार्य शिवसागर' तथा 'आचार्य ज्ञानसागर' जी की स्तुतियों के द्वारा भावांजलि प्रस्तुत की गई है जो श्रृद्धावनत भाव को प्रकट करती है।

(स) आचार्य श्री का आदान और प्रदेय :

साहित्य सृजन एक कला है जिसमें हृदयगत भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। इसमें आदर्श और यथार्थ रूप का एक सौंदर्यपरक चित्रण होता है। जो लोगों को मनोरंजन करने के साथ-साथ जीवन के लिए प्रेरणा भी प्रदान करता है। जब यह साहित्य किसी 'संत' या आत्मसाधक की लेखनी से निसृत होता है तो उसका प्रभाव जीवन में संजीवनी की तरह होता है। क्योंकि उसमें जीवन की कल्याणकामना के साथ-साथ लोकमंगल की भावना भी समाहित होती है। सच्चा साहित्य वही है जो लोककल्याण की भावना से लिखा गया हो, जिसमें जीवन-मूल्यों की गंभीर चर्चा हो, जिसमें आदर्श के ऐसे सूत्र हों जो हमारे जीवन को मुक्तिपथ का अनुगामी बना सकें। और मैं यह दावे के साथ कह सकती हूँ कि आचार्य श्री का साहित्य इसी भावना की सद्प्रेरणा से सृजित हुआ है।

एक सच्चा 'संत' लिखता कम पर बोलता अधिक है। क्योंकि उपयोगितावादी दृष्टिकोण से 'बोलना' अधिक कार्यकारी होता है। 'संत' साहित्य की परंपरा में बहुत सारे 'संत' ऐसे हुए है जिन्होंने लिखा बिल्कुल नहीं लेकिन अपनी वाणी के द्वारा अपने सूत्रवाक्यों से, अपनी प्रवचन कला के प्रभाव से समाज समाज में ऐसा प्रभाव डाला कि उनके दोहे, संदेश, सूत्र-वाक्य आज भी जन-जन के कंठहार बने हुए हैं। ऐसा ही कुछ असाधारण कर दिखाया है आचार्य विद्यासागर जी ने । उनकी वाणी से अमृत झरता है, ज्ञान की गंगा प्रवाहित होती है, जीवन के संताप दूर होते है। और श्रावक श्रद्धा-भक्ति से उनके चरणों में नतमस्तक होकर अपने जीवन को 'निरापद' बना लेता है।

आचार्य श्री ने अनुभूति की अतल गहराईयों में उतरकर उस सत्य को अनुभूत किया है जो कि

एक रचनाकार के लिए नितांत आवश्यक है। अनुभूति के अभाव में शब्द की अनुगूंज अंतर को आंदोलित नहीं कर पाती। यथार्थ की पकड़ आचार्य श्री की इतनी जबरजस्त है कि वह अनुभव के धरातल पर एकदम खरी प्रतीत होती है। फिर एक 'संत' जब समाज में व्याप्त रूढ़ियों और पाखण्डों पर प्रहार करता है तो उसकी वाणी में गजब का ओज होता है जो श्रोता को प्रभावित किये बगैर नही रह सकता। 'सन्यास' धारण करने वालों या दीक्षा धारण करने वालों को सचेत करते हुए आचार्य श्री कहते हैं-''केवल ज्ञान-दीक्षा लेने मात्र से काम नहीं चलेगा। अभी तो शरीर तपेगा, मन भी तपेगा और बदन भी तपेगा। तब आत्मा शुद्ध होगी। कंचन की भाँति उज्जवल और निर्मल होगी।''

आचार्य श्री का 'मूकमाटी' महाकाव्य साहित्य जगत की अन्यतस् उपलब्धि है। 'मूकमाटी' आधुनिक काल का ऐसा महाकाव्य है जिसने जनमानस को गहराई तक आन्दोलित किया है। यह कृति कवि, मनीषी, संत और अध्यात्म के क्षेत्र में शिखर ऊँचाईयों को प्राप्त कर चुके उस महान् कवि का अनुभूतिगम्य निचोड़ है जो साधना के उच्चतम् सोपानों को प्राप्त करने के पश्चात् प्राप्त होता है। 'मूकमाटी' के अनुपम उपहार को साहित्य जगत जिस आदर के साथ ले रहा है वह निःसंदेह अत्यंत शुभ संकेत है।

आचार्य श्री की 'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में जिन मान बिन्दुओं को लेकर उपस्थित हुई है उससे जीवन में हताशा, पराजय और कुण्ठा के स्थान पर जिस आशा, पुरूषार्थ और स्थायी मूल्यों का संचार किया है वह अपने आप में अन्यतम ही माना जायेगा। 'मूकमाटी' हमें आदर्शवादी समाज की संरचना की दृष्टि देती है, सदाचरण की शिक्षा देती है और साथ ही साथ एक ऐसी जीवन-दृष्टि भी प्रदान करती है जिससे व्यक्ति साधक की श्रेणी में पहुँच जाता है। ''आधुनिकता की परम्परा से हटकर 'मूकमाटी' महाकाव्य ने सामुदायिक चेतना की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिक अभ्युत्थान को जिस रूप में अन्वेषित किया है वह वास्तव में बेजोड़ है।'' इस रूप में 'मूकमाटी' नयी कविता का एक सशक्त हस्ताक्षर है।

आत्मदर्शन और काव्यानुभूतियों का अनुपम उपहार है ''नर्मदा का नरम कंकर''। कवि का ऐसा मानना है कि आत्मदर्शन के लिए आत्मदोष दर्शन जीवन की सबसे बड़ी कसौटी है। यद्यपि यह आत्म परीक्षण बड़ा कठिन है। परन्तु मुक्तिपथ का पथिक इस परीक्षण की अनुभूति से वीतरागी आत्मा को अनुभूत कर लेता है। कवि इसी आत्मा को परमात्मा बनने के लिए कृति के माध्यम से सम्बोधन देता है। विवेक दृष्टि खोलने की पृष्ठभूमि प्रदान करता है।

'नर्मदा का नरम कंकर' काव्य-संग्रह आचार्य श्री की एक ऐसी भावनात्मक कृति है जो कविता की तरह परमानन्द की अनुभूति प्रदान करती है। यहाँ पर कवि का यह मानना है कि व्यक्ति यदि अपने जीवन में परमसुख को पाना चाहता है तो उसे सांसारिक भोगों से ऊपर उठकर साधना पथ का पथिक बनना होगा। इसके लिए श्रृद्धा और विश्वास का सम्बल और मौन की साधना ये दो चीजें अपरिहार्य हैं। इन्हीं के माध्यम से साधक को साध्य की प्राप्ति में सरलता की प्रतीति होने लगेगी।

''तोता क्यों रोता'' काव्य-संग्रह के अंतर्गत भावोच्छलन् का एक अनोखा रूप इसमें देखने

को मिलता है। आचार्य श्री का मानना है कि आधुनिक समय का मानव कुछ ज्यादा ही अहंकारी हो गया है। इसीलिए लक्ष्मी का सर्वत्र बोलबाला है, और सरस्वती संकुचित सी दिखाई दे रही है। 'धन' की चकाचौंध ने धर्म को दबा दिया है। यही नहीं बल्कि 'साधु' और 'स्वादु' में कई क्रियाओं की साम्यता होते हुए भी काफी फर्क दिखाई देने लगा है- ''एक लक्ष्य तत्व चिंतन है तो दूसरा विषयों के कारण चिंतित है। आचार्य श्री उन स्वांगवेश धारियों पर चोट करते हैं जो 'साधु' कम 'स्वादु लोलुप' अधिक हैं।

आचार्य श्री के अनुसार 'सन्यास' को पलायन की उपमा देना एकदम अनुचित है। क्योंकि सच्चा सन्यास तो चराचर के साथ साम्य का नाता जोड़कर 'मैं' का तिरोहण कर विश्व की ओर मोड़ने में है। 'संत' कवि की दृष्टि में मन की श्रेष्ठता 'मोम' बनने में है। कवि की इच्छा है कि गुरूवार का वरदान मिले, जिसमें याचना है कि उसका मन कलुषित भावों से मुक्त होकर जीवमात्र के प्रति करूणामय बन जाये। कवि को भौतिक सुखों की कामना नहीं वरन् केवल अनमोल सुख के रूप में मुक्ति की चाह है।

कवि के काव्य-संग्रह 'चेतना के गहराव में' में अतल गहराईयों की अतीन्द्रिय अनुभूति को देखा जा सकता है। वैसे तो काव्य का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। जिस प्रकार धर्म का उद्देश्य जन-जन का हित करना है ठीक वैसे ही उत्तम साहित्य का उद्देश्य भी 'हितेन सहितम्' होता है। उत्तम साहित्य वही है जो मानव को हित की ओर उन्मुख करे। उसके जीवन का परिमार्जन करे। उसे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाये। असत्य से सत्य की ओर मोड़े। मृत्यु से भयमुक्त कर मृत्युंजयी बना दे और फिर मानवता के भीतर सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, करूणा और ममता के भाव तरंगायित हो उठें। यदि सही मायने में देखा जाय तो साहित्य का यही रूप धर्म साधना से भी निखरता है। 'धर्म' का सही अर्थ भी व्यक्ति को बाहय प्रदूषण से मुक्त कर आत्मा के पवित्र पर्यावरण में ले जाना है। इस तथ्य से यह बात स्वमेव ही स्पष्ट हो जाती है कि धर्म और साहित्य परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। तत्सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आचार्य श्री का 'धर्म-चिंतन' ही उनकी काव्य-चेतना बन गई है, जिसने सांसारिक प्राणियों को उत्तम काव्य-रस की संजीवनी पिलाकर जीवनदान दिया है।

कवि के 'काव्य-संग्रह' 'डूबो मत लगाओ डुबकी' में भक्ति-रस में डूब जाने की भावना देखने को मिलती है। यह कृति कवि के अन्तःकरण की सोच और स्वानुभूति का प्रतिबिम्ब है जिसमें कवि सुखों में डुबकी लगाने की तो बात करता है पर उसमें डूब जाने के लिए रोकता है। हम संसार में रहें, पर संसार हमारे अंदर न रहे। ग्रहस्थ जीवन को जियें पर उसमें आसक्त न होयें। आसक्ति ही हमारे दुःखों को निमंत्रित करती है, विरक्ति हमें दुःखों से निजात दिलाती है। आवश्यकता है स्वयं के आचरण को निर्मल बनाने की, उस पर चरित्र्य का रंग चढ़ाने की, फिर तो सभी तरह के विकार अपने आप ही नष्ट्र हो जायेंगे।

समकालीन समय में आवश्यकता इस बात की है कि विद्वान और समीक्षक आचार्य श्री के साहित्य की सरलतम् व्याख्या कर उनके साहित्यिक अवदान को जन-जन तक पहुँचायें जिससे कि समाज के सभी वर्गों के लोग उनकी कृतियों से लाभार्जन कर सकें तथा अध्ययनरत विद्यार्थी संस्कारवान

बन सकें। यदि वास्तव में ऐसा हुआ तो इस देश की ज्यादातर समस्याऐं स्वमेव ही हल हो जायेंगी। यों देखा जाय तो आज हम भौतिक दृष्टि से जितने अधिक सम्पन्न हुए हैं, चारित्रिक दृष्टि से उतने ही विपन्न भी हुए हैं, जिसके फलस्वरूप चारों ओर भ्रष्टाचार का बोलबाला, अराजकता का वातावरण, बेईमानी का वर्चस्व और आचरणहीनता का साम्राज्य है। इस सृष्टि को इन सब बुराईयों से बचाना होगा, तभी हम जीवित रह सकेंगे। अन्यथा स्थिति में एक न एक दिन सर्वनाश की स्थिति का निर्मित होना अवश्यम्भावी है। काश यदि हम इस संकटकालीन वेला में आचार्य श्री के साहित्य की नौका में सच्चे मन से बैठ पाते तो इस भवसागर से पार भी आसानी से हो जाते। आवश्यकता है इस महान् संत कवि के साहित्य को समझने की, मनन करने की और उसे आचरण में उतारने की। यदि हम ऐसा कर सके तो इस सृष्टि के प्राणियों के लिए मुक्तिपथ पर अग्रसर होने का यह मंगलकारी अवसर होगा। यदि हम ऐसा नहीं कर सके तो यह हमारे जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य ही माना जायेगा। क्योंकि जीवन तो बस एक ही है चाहो तो इसका भोग करो या फिर उपयोग। जो उपयोग करते हैं वे अमर हो जाते हैं जो भोग करते हैं वे यों ही नष्ट्र हो जाते हैं। इस सत्य की प्रेरणा आचार्य श्री के साहित्य में सर्वत्र देखने को मिलती है।

अंत में इस सदी के महान् संत, कवि, मनीषी, आचार्य विद्यासागर जी महाराज के चरणों में मेरा कोटिशः नमन् इस भावना के साथ कि मेरी आस्था उनके प्रति उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होती रहे जिससे कि मैं अपने जीवन को मंगलमयी बना सकूँ।
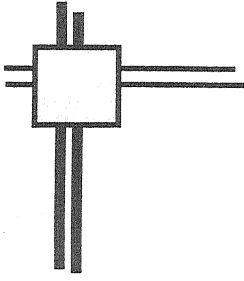
परिशिष्ट

(अ) आधार-ग्रंथ-
(ब) संदर्भ ग्रंथ
(स) अंग्रेजी ग्रंथ
(द) पत्र/पत्रिकाएें ।
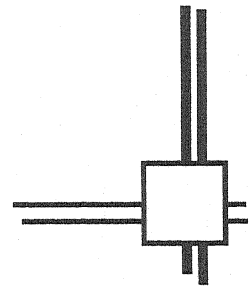
परिशिष्ट

(अ) आधार ग्रन्थ सूची:

क्रमांक	पुस्तक का नाम	लेखक
1.	मूकमाटी (महाकाव्य)	आचार्य विद्यासागर
2.	नर्मदा का नरम कंकर	आचार्य विद्यासागर
3.	डूबो मत, लगाओ डुबकी	आचार्य विद्यासागर
4.	तोता क्यों रोता?	आचार्य विद्यासागर
5.	चेतना के गहराव में	आचार्य विद्यासागर
6.	दोहा- दोहन	आचार्य विद्यासागर
7.	विद्याकाव्य भारती	आचार्य विद्यासागर
8.	निजानुभव शतक	आचार्य विद्यासागर
9.	मुक्तक शतक	आचार्य विद्यासागर
10.	पूर्णेदय शतक	आचार्य विद्यासागर
11.	सर्वोदय शतक	आचार्य विद्यासागर
12.	श्रद्धांजलि काव्य	आचार्य विद्यासागर
13.	जिनेंद्र स्तुति	आचार्य विद्यासागर
14.	योग सार	आचार्य विद्यासागर
15.	अष्टपाहुड़ काव्य-संग्रह	आचार्य विद्यासागर
16.	एकीभाव स्त्रोत	आचार्य विद्यासागर
17.	नंदीश्वर भक्ति	आचार्य विद्यासागर
18.	सूर्योदय शतक	आचार्य विद्यासागर
19.	कुन्द कुन्द का कुन्दन	आचार्य विद्यासागर
20.	जैन गीता	आचार्य विद्यासागर
21.	सर्वोदय सार	आचार्य विद्यासागर
22.	जैन दर्शन का ह्दय	आचार्य विद्यासागर
23.	मर ...... हम मरहम बनें	आचार्य विद्यासागर
24.	मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर	आचार्य विद्यासागर
25.	सत्य की छाँव में	आचार्य विद्यासागर
26.	पंचशती (पद्यानुवाद)	आचार्य विद्यासागर
27.	श्रमणशतक (हिन्दी)	आचार्य विद्यासागर
28.	निरंजनशतक (हिन्दी)	आचार्य विद्यासागर
29.	भावनाशतक (हिन्दी)	आचार्य विद्यासागर
30.	परीषहजयशतक (हिन्दी)	आचार्य विद्यासागर
31.	सुनीतिशतक (हिन्दी)	आचार्य विद्यासागर
32.	निजामृतपान	आचार्य विद्यासागर
33.	नियम सार	आचार्य विद्यासागर
34.	समंतभद्र की भद्रता	आचार्य विद्यासागर

35. गुणेदय आचार्य विद्यासागर
36. इष्टोपदेश एवं द्रव्यसंग्रह आचार्य विद्यासागर
37. रयणमंजूषा आचार्य विद्यासागर
38. कलशागीत आचार्य विद्यासागर
39. आप्तमीमांसा आचार्य विद्यासागर
40. कल्याणमंदिर स्त्रोत आचार्य विद्यासागर

(ब) संदर्भ ग्रन्थ -सूचीः-

1. विद्याधर से विद्यासागर -सुरेश सरल
2. महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागरः जीवन एवं साहित्यिक अवदान, डॉ0 विमलकुमार जैन
3. संस्कृत शतक परम्परा और आचार्य विद्यासागर, डॉ0 आशलाता मलैया
4. हिन्दी साहित्य कोश (प्रधान संपादक) डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा
5. कामायनी - जयशंकर प्रसाद
6. उर्वशी - रामधारी सिंह 'दिनकर'
7. लोकायतन - सुमित्रानन्दन 'पत'
8. कामायनी दर्शन, कन्हैयालाल सहल तथा विजयेन्द्र सनातक
9. धर्म, नैतिकता और विज्ञान, उदयाचल
10. उर्वशी : कला और विचारबोध, डॉ0 नगेन्द्र
11. दिनकर की उर्वशी का प्रेमदर्शन, डॉ0 ललिता अरोड़ा
12. सुमित्रानंदन पंतः जीवन और साहित्य, शांति जोशी
13. पंत की काव्यगत मान्यताऐ और उनका काव्य, डॉ0 अबध बिहारी राय
14. आधुनिक हिन्दी काव्य, कुमार विमल
15. महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली, परिशीलन (प्रधान संपादक) डॉ0 रमेश चन्द्र जैन
16. भारतीय दर्शन, वाचसपति गैरोला
17. तत्वार्थसूत्र, उमास्वामी
18. छःहढाला, दौलतराम
19. रत्नकरण्डश्रावकचार, समंतभद्र
20. शांतिपथ प्रदर्शन, जिनेन्द्रवर्णी
21. जैनधर्म, पं0 कैलाशचनद्र शास्त्री
22. काव्यलंकार, आचार्य भमह
23. कावयादर्श, आचार्य दण्डी
24. काव्यालंकार, आचार्य रूद्रट
25. हिन्दी साहित्य की संत काव्य परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागर के कृतित्व का अनुशीलन (शोध-प्रवंध) - डॉ0 बारेलाल जैन
26. रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास
27. हवन्यालोक, आनन्दवर्द्धन

28. काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट
29. रसमीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
30. हिन्दी काव्शास्त्र में श्रृंगार रस का विवेचन, रामलाल वर्मा
31. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ
32. चिंतामणि, आचार्य रामचनद्र शुक्ल
33. भारतीय काव्शास्त्र का विकास, डॉ0 विश्वम्भरनाथ उापाध्याय
34. दशरूपक, धनंजय
35. आचार्य विद्यासागर के साहित्य में जीवन -मूल्य (शोध-प्रबंध) श्रीमती निधि गुप्ता (अप्रकाशित)
36. काव्यालंकार, आचार्य वामन
37. रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन, राजकुमार पाण्डेय
38. साहित्यिक निबन्ध, डॉ0 द्वारिकाप्रसाद सक्सेना
39. अलंकार, छंद- विधान, गणेशदत्त शर्मा
40. काव्यशास्त्र, आचार्य भगीरथ मिश्र
41. रस-दोष, छंद अलंकार विवेचन, डॉ0 मनहार गोपाल
42. वृहत् हिन्दी कोश, संपादक श्री कालिका प्रसाद आदि
43. हिन्दी साहित्य, जी0 एस0 राणा
44. पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त, डॉ0 कृष्णदेव शर्मा
45. साहित्यिक निबन्ध, डॉ0 गणपतिचन्द्र गुपत
46. पंत काव्य में विम्बयोजना, डॉ0 एन0 पी0 कुट्टनपिल्ले
47. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, डॉ0 द्वारिका प्रसाद सक्सेना
48. साहित्यिक निबन्ध, डॉ0 राजनाथ शर्मा
49. प्रतीक और प्रतीक विज्ञान, डॉ0 ऋषभ कुमार जैन
50. कल्पलता, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
51. आधुनिक हिन्दी काव्य में छंद योजना, कु0 इन्दू राय
52. नई कविता, डॉ0 जगदीश गुप्त
3. प्रकृति और काव्य, डॉ0 रघुवंश
54. हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, डॉ0 किरण कुमारी गुप्ता
55. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ0 नामवर सिंह
56. कामायनी चिंतन, डॉ0 विमलकुमार जैन

(स) अंग्रेजी -ग्रन्थ

1. एपिक एण्ड रोमांस, डब्ल्यू0पी0करके
2. दि एपिक, एबरक्रोम्बी
3. फॉम वर्जिल टु मिल्टन, सी0 एम0 बावरा
4. इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री, मैकनील डिक्सन

(द) पत्र/पत्रिकाऐं

1. तीर्थंकर (पत्रिका)
2. कुंद कुंद वाणी (पत्रिका)
3. जैन् सन्देश (पत्रिका)
4. सागर में विद्यासागर (पत्रिका)
5. सन्मति सन्देश (पत्रिका)
6. जैन गजट (समाचार पत्र)
7. स्फुट काव्य रचना (समाचार पत्र)